प्रथम सस्करण की

भूमिका

संवत् १९१० विक्रमादित्य में जब मेरी अवस्था सोलह वर्ष की थी, एक महापुरुष के सग से इस सत्य विद्या का शब्द मेरे कान में पड़ा था कि जिसको मैं इस ग्रन्थ में पराविद्या के नाम से लिखूंगा। उसके पीछे जो मुझे कई प्रकार के विद्वानो से मिलने का समागम पड़ता रहा और कुछ न्याय वेदान्तादि शास्त्रो का पढ़ना हुआ तो उस प्रथम श्रुत विद्या का छिपाना योग्य समझ लिया था क्योकि जगत् को उसका अधिकारी नहीं समझा था। उसके पीछे यद्यपि कई प्रकार के मत-मतान्तर को देखा और सुना परन्तु उस पूर्व-श्रुत सत्य विद्या को मेरे मन से कोई दूर न कर सका। भारत खण्ड मे कोई ऐसा मत नहीं जिसको मैंने देख नहीं लिया। मुसलमानो तथा अंगरेजो के मत मे जितने भेद है मैंने उन सबके कथन सुने परन्तु मेरी सत्य विद्या के तुल्य मुझे कोई भी प्रतीत न हुआ। कई बार यह बात भी मन मे समाई कि मैं अपनी सत्य विद्या को जगत में फैलाऊं कि जिस पर न तो कभी कोई सन्देह उठ सकता और न वह किसी को युक्तिहीन झूठे मार्ग में चलाती है; परन्तु फिर यह बात मेरे संकल्प को शिथिल कर देती थी कि यह सत्य विद्या जैसी मेरे मन मे भरी हुई है यदि वैसी ही सागोपांग किसी दूसरे की समझ में न आई तो लोग यथेच्छाचारी और कुकर्मी हो जायेगे क्योंकि जन्म से लेकर आज लों सब लोग जो झूठी बातें सुनते चले आये है उन्हे तुरन्त सच पर विश्वास ले आना कठिन है। इस विचार के प्रताप से सत्य विद्या का प्रकट करना तो मैंने उचित न समझा परन्तु उन दिनो जो २ लोग मुझसे कुछ धर्म के विषय में पूछते सुनते

रहे में उन्हें वैष्णव धर्म का उपदेश करता रहा कि जिसमें लगा हुआ मनुष्य सदा शुभ कामों को करता और अशुभ कामों से डरता रहता है। जैसाकि मेरे उन दिनो के उपदेश ने वहुत लोगों को मद्य, मांस, चोरी, द्यूत, भूठ, छल, अहंकार, व्यभिचारादि कुकर्मों से वचाया, कि जो प्रत्यक्ष ही जीव को नाना क्लेशों में डालते हैं और दान, स्नान, उपकार, दया, सत्य, शौच, सेवा आदि के कुकर्मों में लगाया कि जो प्रत्यक्ष में परम सुख के हेतु है।

संवत् १९३२ में मुझे चारों वेद के पढ़ने और अर्थ विचारने का संयोग मिला तो यह वात निश्चित हुई कि ऋग्वेदादि चारों वेद भी यथार्थ सत्य विद्या का उपदेश नहीं करते किन्तु अपरा विद्या को ही लोगो के मन में भरते है। हां, वेद के उपनिषत् भाग में कुछ २ सत्य-विद्या अर्थात् परा विद्या अवश्य चमकती है परन्तु ऐसी नहीं कि जिसको सव कोई स्पष्ट समझ लेवे। चाहे वेद और उपनिषत् का लिखने वाला सत्यविद्या को जानता तो अवश्य था परन्तु उसने सत्यविद्या को वेद मे न लिखना वा छिपा के लिखना इस हेतु से योग्य समझा दिखाई देता है कि उस समय के लोगों के लिये वही उपदेश लिखना श्रेष्ठ था।

संवत् १९३६ में हरिद्वार के कुम्भ पर जो मैंने मत-मतान्तर के विषय में कई प्रकार के वाद-विवाद होते देखे, कारण उनका मुझे यही प्रतीत हुआ कि वे लोग उस सत्यविद्या से शून्य है कि जिसके जानने से सव विवाद शान्त हो जाते है। चित्त में तो उसी दिन यह उमंग उठी कि आज से ही सत्यविद्या का शंख अवश्य वजा देना चाहिये, परन्तु अपने गृह पहुँचने तक में कई दिन लों फिर भी इसी विचार में रहा कि सत्य के प्रकट करने मे जगत पर कुछ अपकार न हो जावे। परन्तु वहुत-से सोच विचार के अनन्तर घर पहुँचते ही मेरे मन में यह वात दृढ़ हो गई कि सत्य विद्या के प्रकट करने मे जैसे पूर्व विद्वानों ने

कई अनर्थ समझे थे वैसे अब इसको गुप्त रखने में भी अनेक अनर्थ प्रतीत होते है। जैसाकि—

प्रथम अनर्थ यह है कि चाहे मनुष्य-मनुष्य सब एक ही है परन्तु जब लौं सत्यविद्या को नहीं पाते, कोई भेदवाद और कोई अभेदवाद में युक्ति-उक्ति उठाते और कोई शैव, शाक्त, वैष्णव तथा जैन बौद्ध के झगड़ों में कष्ट पाते है। इसी भाँति कई-एक लोग आजकल ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में प्रवृत्त तथा रामदास से गुलाम-मुहम्मद और गुलाम-मुहम्मद से अब्दुल-मसीह बन के निज बाँधवों को दुःखी करते और अन्य मतों के साथ लड़-लड़ मरते है।

२—यह कि बुद्धिमानों ने ईश्वर और परलोक का भय और लालच केवल निकृष्ट और मध्यम कोटि के मनुष्यो को शुभाचार में प्रवृत्त और मंदाचार से निवृत्त करने के निमित्त नियत किया था परन्तु अब उसको सत्य जान के उत्तम कोटि के मनुष्य भी अपना तन, मन, धन नष्ट करने लग गये और सदा करते रहेंगे।

३—यह कि अब मेरा आयु चालीस वर्ष से आगे निकल गया अनुमान से जाना जाता है कि अब मृत्यु का समय निकट है* सो योग्य है कि अब उस सत्य को न छिपाऊं कि जो चिरंकाल से मेरे मन में भरा हुआ है। यदि सत्यविद्या को साथ ले मरूंगा तो बड़े अनर्थ की बात होगी।

यद्यपि सत्यविद्या के लिखने मे मुझे यह उत्पात होता भी दिखाई दिया कि अपराविद्या के प्रेमी लोग मेरे शत्रु और निंदक बन जायेंगे; परन्तु सत्यविद्या का प्रेम अब मुझे रुकने नहीं देता उलटा बलात्कार से

---

* इस ग्रन्थ के लिखने के पीछे तुरन्त पंचत्व को प्राप्त हुए। अर्थात् स० १९३७ विक्रमी, मिती आषाढ कृष्ण १३ को ग्रन्थकर्त्ता श्री प० श्रद्धारामजी की जीवन-ज्योति तत्त्वलीन हुई। —सम्पादक

मुख और हाथ को सत्य ही के कहने और लिखने में जोडता है। मैं वहुतेरा ही अपनी जिह्वा और लेखनी को थामता हूं परन्तु क्या करूं और कुछ कहने और लिखने को जव मन ही नहीं मानता तो अव इस 'सत्यामृत-प्रवाह' नाम ग्रन्थ लिखने को विवश हुआ। इसको मैंने केवल उस अधिकारी के लिये लिखा है कि जिसकी वुद्धि अत्यन्त उत्तम और पराविद्या की वात समझ सकती हो। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग में तो आत्मा की चिकित्सा का वर्णन किया है कि जिसके विना किसी को पराविद्या का उपदेश कभी न सुनाना चाहिये और उत्तर भाग मे पराविद्या का विवरण है जो परम सत्य का उपदेश करती है।

जो सत्यविद्या मैंने इस ग्रन्थ में लिखी वह प्राप्त तो चाहे वहुत पुरुषों को है परन्तु इस विद्या का प्रसिद्ध और सागोपांग ग्रन्थ जो मैंने आज लों कोई नहीं देखा इस कारण मैंने इसके लिखने का उपक्रम किया। विद्वज्जनों से मेरी यह प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ के पाठ से केवल यही अर्थ न निकाल ल कि यह ग्रन्थ नास्तिक मत को सिद्ध करता है; किन्तु शूर-वीर वह होगा जो इस ग्रन्थ के लेख को युक्ति तर्क से खडन करके दिखावे। यद्यपि कई एक लेखकों ने अपने ग्रन्थो मे चार्वाक् (नास्तिक) मत का खण्डन कुछ लिख रखा है किन्तु वह एकदेशी होने से कोई मूल्य नहीं रखता। जिसको सामर्थ्य है वह किसी नास्तिक के समक्ष आके वा उसे अपने पास वुलाके खण्डन-मण्डन करे क्योंकि जो अभिप्राय दोनों के समक्ष होने से सिद्ध होता है वह दूर से लेख द्वारा सिद्ध नहीं होता।

ईर्षा-द्वेष या अज्ञान से तो चाहे कोई कुछ नाम रखे, किन्तु न्यायत हम नास्तिक नहीं है; क्योंकि नास्तिक वह होता है जो अस्ति को नास्ति कहे। जवकि किसी भी प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु को हम अस्तिरूप ही मानते है—नास्तिरूप नहीं, तव विचारना चाहिये कि नास्तिक हम

हैं वा वे लोग, जो प्रत्यक्ष पड़ी अस्ति को नास्ति कहके किसी बन्ध्या-पुत्र की अस्ति के आस्तिक बन रहे हैं ! हमारा सारा मत इस ग्रन्थ के पाठ से प्रकट हो जावेगा कि वास्तव में हम क्या है—नास्तिक या आस्तिक ?

इस ग्रन्थ में यद्यपि हमने सब कुछ लिख दिया है परन्तु जिसको फिर भी कुछ सन्देह रहे वह पंजाब देशीय जालंधर के जिले—फिल्लौर[1] नगर में आ के सभ्यता पूर्वक सम्भाषण करे। और जिसको इस ग्रन्थ के मुद्दों पर विश्वास हो जावे वह अपना नाम-धाम ग्रन्थकर्त्ता को लिख भेजे कि जिससे परस्पर प्रेम उत्पन्न हो के कई प्रकार के अन्य और अधिक विचार भी प्रकट हो सकते है[2]।

इस ग्रन्थ में चाहे मुख्य शिक्षा तो यही है कि मनुष्य को क्या जानना और अपनी जीवन-यात्रा किस आचार-व्यवहार मे समाप्त करनी चाहिये अर्थात् किस ज्ञान और आचार-व्यवहार पर चलने से मनुष्य को नरतिशय सुख प्राप्त हो सकता है; परन्तु प्रसंग वश वे सब अन्य बाते भी इसमें आ जाती है कि जिनके न जानने से मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहारता और झूठा भय तथा लालच इसके तन, मन, धन को धूलि में मिलाता है। इति।

विक्रम संवत् १९३७ सन् १८८० ई० **—श्रद्धाराम**

१—यहां 'फिल्लौर' लिखा है किन्तु अन्यत्र स्वय ग्रन्थकर्त्ता ने और उनके शिष्य स्वामी तुलसीदेव जी ने भी 'फुल्लौर' लिखा है अत. दोनो ही प्रयोग प्रचलित ज्ञात होते है। —सम्पादक

२—प० श्रद्धारामजी व उनका कोई वारिस या शिष्य अब उक्त नगर में नही रहे है इसलिए उक्त पत्ते पर जाने-आने या पत्र व्यवहार करने का कोई प्रयास न करे। यह उद्देश्य वर्त्तमान प्रकाशक के पत्ते पर पत्र-व्यवहार करने से सिद्ध हो सकता है और वह यह है—बालचन्द नाहटा, ४६, स्ट्राण्ड रोड, कलकत्ता-७ या पो० सरदारशहर (राजस्थान)। —सम्पादक

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'सत्यामृत प्रवाह' पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी की रचना है जो विद्वान होने के साथ २ स्वतंत्र विचारक भी थे और सस्कृत के साथ २ फारसी और उर्दू भाषा के अन्यतम ज्ञाता थे तथा पंजाबी तो उनकी मातृभाषा ही थी। आपने चारों वेद, मुख्य २ उपनिषदे, स्मृतिएं, छहों दर्शन और रामायण, महाभारत के अलावा काव्य, ज्योतिष तथा पुराणों का भी अध्ययन किया था। आप ही के कथनानुसार (देखें भूमिका) 'भारत खण्ड में कोई ऐसा मत नहीं जिसको इन्होंने देख नहीं लिया। मुसलमानों तथा अंगरेजों के मत में जितने भेद हैं इन्होंने उन सबके कथन सुने'। किन्तु संवत् १६१० वि० में जब इनकी अवस्था १६ वर्ष की थी, एक महापुरुष के संग से जिस सत्यविद्या (पराविद्या) का शब्द इनके कान में पड़ा था उसके तुल्य इन्हें कोई भी प्रतीत नहीं हुआ। इसी पराविद्या का वर्णन इन्होंने अपने इस सिद्धान्त ग्रंथ में दिल खोलकर किया है। आपने अपने जीवन में कई-एक ग्रन्थ लिखे थे जिनमें यह ग्रन्थ आपकी अंतिम रचना है जो सं० १६३७ वि० के अन्त पर्यन्त आपकी लेखनी से समग्र रूप से निकल चुका था। इसकी समाप्ति आपकी आयु की समाप्ति थी। भूमिका में आपने स्वयं लिखा है कि 'अब मेरी आयु चालीस वर्ष से आगे निकल गया अनुमान से जाना जाता है कि अब मृत्यु का समय निकट है* सो योग्य है कि अब इस सत्य को न छिपाऊँ कि जो चिरकाल से मेरे मन में भरा हुआ है। यदि सत्य विद्या को साथ ले मरूंगा तो बड़े अनर्थ की बात होगी'।

---

* इस ग्रन्थ के लिखने के पीछे तुरन्त (स० १६३७ वि० मिती आषाढ कृष्ण १३ के दिन) पञ्चत्व को प्राप्त हुए।

ग्रन्थ प्रश्नोत्तर रूप में है जिससे पूर्व और उत्तर पक्ष पर विशेष प्रकाश पड़ता है—विषय अधिक स्पष्ट होकर शंकाओं का समाधान अच्छी तरह हो जाता है। इसके दो भाग हैं (१) पूर्व और (२) उत्तर। पूर्व भाग में ५ तरंगे हैं जिनमें अपरा विद्या को दृष्टिगत रखते हुए 'आत्म चिकित्सा' का सांगोपांग वर्णन है। सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों के स्वरूप और उत्पत्ति, स्थिति तथा इनके स्वभाव से मन में उपजे २८ धर्मों का वर्णन करके उक्त तीनों गुणों की न्यूनता, अधिकता एवं मलिनता से अन्तःकरण में उत्पन्न हुए ४८ प्रकार के रोग-रोगान्तरों के निदान रूप भिन्न २ नाम निर्देश किये हैं तथा विचार और उपदेश द्वारा उनकी पृथक् २ चिकित्सा लिखी है जिससे पूर्ण मानसिक आरोग्यता प्राप्त होती है। फिर पूर्वोक्त सत्वादि गुणों के समता जन्य न्याय और उसके १० धर्मों का वर्णन करते हुए उनके अन्तर्गत कहत, वहत और रहत का सुधारना वतलाया गया है। तथा माता, पिता, स्त्री, भ्राता, मित्र, प्रभु, दास तथा शिष्य के साथ यथायोग्य व्यवहार का कथन किया गया है। साथ ही राज व्यवहार तथा राजनीति का विस्तृत वर्णन है। फिर न्याय का अन्याय नामक रोग और उसके दो प्रकार तथा १० रोगान्तरों का विवरण देकर अन्त में १२ कुपथ्यों का वर्णन किया है जिनसे आत्म रोगों की निवृत्ति के अनन्तर सदा वचना आवश्यक है। इस प्रकार यह अद्भुत 'आत्मचिकित्सा' मनुष्य के आध्यात्मिक (आन्तरिक) रोगों की हर्त्ता और स्वभाव शोधन के द्वारा मानसिक स्वास्थ्य की अन्यतम प्रतिष्ठाता है जिससे मनुष्य को वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आचरण मनुष्य को सही अर्थ में स्थितप्रज्ञ वनाता है।

उत्तर भाग में ६ तरंगे हैं जिनमें से प्रथम तरंग में तो वेदोक्त उपदेश है और वाद के चार तरंगों में विज्ञान या पराविद्या के अनुसार ईश्वर,

जीव, वेद, कर्म, आवागमन, मुक्ति, योग, जप, ज्योतिष, सामुद्रिक, यंत्र-मंत्र-तंत्र, ग्रह-नक्षत्र और भूत-प्रेत आदि का यथातथ्य वर्णन किया है तथा अन्त के छठे तरंग में आचार व्यवहार का निर्णय तथा सत्य-धारी महापुरुषों की जीवन पद्धति का वर्णन है जो सब के लिये समान रूप से आदर्श और सच्चे सुख को प्राप्त करानेवाली है। इस भाग के सम्पूर्ण विषयों का वर्णन विषय सूची में देखें, विस्तार भय से यहाँ सब नहीं लिखे। यही भाग इस पुस्तक का हार्द और पंडितजी के प्रौढ़ विचारों तथा सुचिन्तित तत्वज्ञान का निर्भीक निर्देशक है जिसमें आपने अपने जीवन भर के अनुभव का निचोड़ अकपट भाव से प्रकट किया है।

समग्र रूप से यह ग्रन्थ एक ऐसा ज्योतिस्तोम है जिसकी प्रकाश-धारा मानव जीवन के निविडतम प्रदेश में प्रवेश कर उसे आलोकित कर सकने में समर्थ है। अथवा यह तत्वज्ञान और व्यावहारिक शिक्षा का एक ऐसा संगम-सरोवर है जिसका उपदेश रूपी अमृत जल मनुष्य के दुःख रूपी पाप-पंक के प्रक्षालन में पूर्ण सक्षम है। सर्वोपरि यह कि यह ग्रन्थ श्रेष्ठ संस्कृति और परमोत्तम व्यवहार-नीति का एक अखूट खजाना है जिसे मानव-धर्म-सार या निष्पक्ष-नीति-समुच्चय कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। वस्तुतः वर्तमान अवस्था में ऐसी ही पुस्तकें ससार या देश की सार्वभौम आचार संहिता (Universal Code of Conduct) बनने योग्य है तथा धर्म (सम्प्रदाय)-निरपेक्ष नैतिक उत्थान, व्यवहार-शुद्धि और स्वस्थ-समाज-निर्माण आन्दोलन की आधारशिला होने की भी इसमें पूर्ण योग्यता तथा सामग्री उपस्थित है।

पंडितजी के तत्वज्ञान या पराविद्या को दूसरे शब्दों में भौतिकवाद (Materialism) बुद्धिवाद (Rationalism) या नास्तिवाद (Atheism) भी कहा जा सकता है और यह ठीक भी है ; उन्होंने

अपने वाद (—ism) को किन्हीं सुनहरे किन्तु भ्रमोत्पादक (Misleading) शब्दों में छिपाया नहीं, जो कुछ कहा वह स्पष्ट और साफ शब्दों में कहा। हाँ, उन शब्दों के अर्थ और व्याख्या उन्होंने अपने ढंग से की है जो पूर्णतः युक्ति संगत है। जैसाकि, पृष्ठ २२४ पर ईश्वरास्तित्व के सम्बन्ध मे उल्लेख है :—

"प्रश्न—आपका मत नास्तिक है हम आस्तिक होकर कैसे अंगीकार करें ?

उत्तर—नास्तिक वह होता है कि जो अस्ति को नास्ति कहे। हम तो अस्तिरूप प्रत्यक्ष पड़े प्रपंच को अस्तिरूप समझते हैं और तुम इस अस्ति को नास्ति ठहरा के किसी परोक्ष पदार्थ ईश्वर को अस्तिरूप मानते हो जो न प्रत्यक्ष होता और न किसी युक्ति से सिद्ध होता है। सो अव विचारो कि नास्तिक तुम हो या हम।......"

इसी प्रकार भूमिका में भी लिखा है कि "ईर्षा-द्वेष या अज्ञान से तो चाहे कोई कुछ नाम रखे, किन्तु न्यायत. हम नास्तिक नहीं है ; क्योंकि नास्तिक वह होता है जो अस्ति को नास्ति कहे। जवकि किसी भी प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु को हम अस्तिरूप ही मानते हैं—नास्तिरूप नहीं ; तव विचारना चाहिये कि नास्तिक हम है वा वे लोग, जो प्रत्यक्ष पड़ी अस्ति को नास्ति कहके किसी वन्ध्यापुत्र की अस्ति के आस्तिक वन रहे हैं ! हमारा सारा मत इस ग्रन्थ के पाठ से प्रकट हो जायेगा कि वास्तव में हम क्या हैं—नास्तिक या आस्तिक ?"

जगत् की उत्पत्ति के सम्वन्ध में आपने विविध चालू कल्पनाओं पर विवेचन करते हुए जो अपना मत प्रकट किया है उसमें आधुनिक वैज्ञानिक विकासवाद का वीज निहित है (मिलान करें 'विश्व प्रपंच' के तेरहवें प्रकरण 'जगत का विकास' पृष्ठ १५१-६७ से) और जीवोत्पत्ति तथा चेतना के सम्वन्ध में भी आज की वैज्ञानिक विचारधारा के

साथ आपका मूलतः साम्य है (मिलान करें इस पुस्तक के उत्तर भाग के पंचम तरंग से 'विश्व प्रपंच' के पाचवें से दसवें तक के विविध प्रकरण तथा 'जडवाद और अनीश्वरवाद' के पृष्ठ ३३ से ६८ तक से)। ईश्वर और उसके कर्तृत्व खण्डन के सम्बन्ध में आपने जो युक्तियाँ दी है वे भी आज के वैज्ञानिक भौतिकवादियों द्वारा प्रायः ज्यों की त्यों समर्थित है (मिलान करें इस पुस्तक के तृतीय तरंग से 'विश्व प्रपंच' का पन्द्रहवां प्रकरण तथा 'जड़वाद और अनीश्वरवाद' के पृष्ठ ६९ से ११२ तक) इसी प्रकार इस पुस्तक के अंतिम पष्ठ तरंग के विषय—आचार-व्यवहार, उपासना और कर्माकर्म व्यवस्था के साथ 'विश्व, प्रपंच' के अठारहवें और उन्नीसवे प्रकरण का अद्भुत साम्य लक्षित होता है। तात्पर्य यह कि आपके विचारों मे 'जाने-अनजाने पूर्ण वैज्ञानिकता की पुट पाई जाती है जो विशेष प्रणिधान योग्य है।

पंडितजी के जीवन का विशेष परिचय

यद्यपि इस पुस्तक के आवरणान्त के पृष्ठ में आपका संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है किन्तु वह पर्याप्त न समझकर कुछ विशेष परिचय जो उनकी जीवनी 'श्रद्धा प्रकाश' के आधार पर तथा श्री मोहनलाल मैत्रेय के एक लेख (धर्मयुग . ११ अप्रैल १९६५) के संशोधित रूप में है, यहाँ दिया जाता है :

पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी (फुल्लौरी) का परिचय हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस प्रकार दिया है—"संवत् १९१० लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरम्भ हुई।...पंजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों मे घूमकर पण्डितजी उपदेश और भाषण देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथा सुनाते। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी...अपने समय के वे एक सच्चे हिन्दी

हितैपी और सिद्धहस्त लेखक थे।...अपना सिद्धान्त ग्रन्थ 'सत्यामृत-प्रवाह' उन्होने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेद, शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसीसे स्वामी दयानन्द की बहुत-सी बातों का विरोध वे बराबर करते थे। यद्यपि वे बहुत-सी ऐसी बातें कह लिख जाते थे जो कट्टर अन्धविश्वासियों को खटक जाती थी और कुछ लोग उन्हें नास्तिक तक कहते थे पर जबतक वे जीवित रहे, सारे पंजाब के हिन्दू उन्हें धर्म का स्तम्भ समझते रहे। पंडितजी के अन्तिम समय का किस्सा भी विचित्र है। कहते है कि मृत्यु के कुछ समय पूर्व उनके मुख से निकला था—"भारतवर्ष मे भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में; परन्तु आज एक ही रह जायगा।" काशी के लेखक से उनका अभिप्राय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से था। उस समय उनका कथन एक अतिशयोक्ति प्रतीत होता था, परन्तु आज यह एक यथार्थ सत्य सिद्ध हुआ है।

आपका जन्म फिल्लौर में संवत् १८९४ आश्विन शुक्ला प्रतिपदा को पण्डित जयदयालु के घर हुआ। आप बाल्यकाल से ही होनहार थे। एक बार किसी चीज को पढ़ या सुन लेते तो वह सदा के लिए मन में उतर जाती। उन दिनों पंजाब में 'बैंत' कहने का रिवाज था। आप भी अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से 'बैंत बाजी' के लिये प्रसिद्ध हो गये। आपने संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फारसी, संगीत, ज्योतिष, वैद्यक, तथा विभिन्न कौतुकों मे शीघ्र ही दक्षता प्राप्त कर ली। वेदान्त वेत्ता पं० रामचन्द्र जी से आपने शास्त्र का पठन-पाठन किया और अब्दुल्लेशाह सैयद से युनानी चिकित्सा सीखी। इन्हीं दिनों फिल्लौर में एक मौलवी साहब का आगमन हुआ तो पंडित जी ने बड़े परिश्रम से इनसे अरबी-फारसी की शिक्षा प्राप्त की। अध्यात्म विद्या के क्षेत्र में पंडितजी के गुरु परम त्यागी श्री मइयारामजी थे। आपका नाम तो

बहुत कम लोग जानते थे पर आपकी प्रसिद्धि 'राहों वाले बाबाजी' के नाम से पर्याप्त थी।

एक सफल उपदेशक, साहित्यकार, हिन्दी सेवी के रूप में तो पंडितजी की ख्याति रही ही है, किन्तु आप राजनीतिक चेतना के प्रेरक भी थे यह बात बहुत कम लोग ही जानते है। १९-२० वर्ष की अल्पायु में भी पंडित जी प्रभावपूर्ण ढंग से कथा कहते थे। एक बार आप फिल्लौर में महाभारत की कथा कह रहे थे, प्रसंग भी शल्य पर्व का था। लोगों की अथाह भीड़ थी, पंडितजी की ओजस्वी वाणी लोगों में वीरता के भावों का संचार कर रही थी। सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम को समाप्त हुए अभी थोड़ा ही काल व्यतीत हुआ था। किले के सिपाही भी इन कथाओं को सुनने आया करते थे। यह भला अधिकारियों को कैसे सहन होता। पंडितजी को पकड़ कर फिल्लौर से निष्कासित कर दिया गया। यह था आपकी देशभक्ति का फल! किन्तु पजाब के बड़े पादरी न्यूटन साहब पंडितजी के व्याख्यानों से पर्याप्त प्रभावित थे अतः उनके प्रयत्न से पंडितजी का फुल्लौर में पुनः प्रवेश संभव हुआ। इस उपकार को पंडितजी ने आजन्म नहीं भुलाया।

वि० सं० १९२० के लगभग की बात है कि जालंधर के बड़े पादरी गोकुलदास के प्रभाव से कपूरथला नरेश महाराजा रणधीरसिंह जी हिन्दू धर्म त्याग कर ईसाई धर्म में दीक्षित होनेवाले थे। पडित श्रद्धारामजी ने १८ दिन तक महाराजा साहब से शास्त्रार्थ करके उन्हें हिन्दू धर्म पर पुनः विश्वास दिलाया और ईसाई होने से बचाया। इसी समय फुल्लौर में अपने निवास के योग्य दो आश्रम बनाये जो हरिज्ञान मन्दिर और बैठक के नाम से प्रसिद्ध हैं। हरिज्ञान मन्दिर लाहोर की स्थापना सन् १८८० (वि० सं० १९३७) के लगभग हुई।

पंडित श्रद्धाराम जी ने संस्कृत में 'नित्य प्रार्थना', 'आत्म-चिकित्सा', उर्दू में 'असूले मजाहब' (फारसी से अनुवादित), पंजाबी

में 'सिखा दे राज दी विथिआ' तथा 'पंजाबी बातचीत', उर्दू में 'धर्म कसौटी', 'दुर्जन मुख चपेटिका', 'धर्मरक्षा', 'धर्मसम्वाद', 'उपदेश संग्रह', तथा हिन्दी में 'तत्वदीपक', 'सत्यधर्म मुक्तावली', 'भाग्यवती', 'सत्यामृत प्रवाह', 'शतोपदेश' तथा 'बीजमंत्र' की रचना की। आप अपने समय के प्रसिद्ध और निर्भीक समाज सुधारक थे। जिस समय हिन्दू समाज में विधवा विवाह की बात कहना मुसीबत मोल लेना था उस समय उन्होंने इसकी वकालत की! यही नहीं, अनेक अन्य अंध-विश्वासों की भी उन्होंने निन्दा की। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने 'भाग्यवती' की रचना की जिसे हिन्दी का प्रथम उपन्यास स्वीकार किया जाता है। इस उपन्यास में प्रसंगानुसार विधवा विवाह का समर्थन था जिसे पंडितजी के देहांत के बाद सन् १८८७ ई० में छपाने के समय निकालना पड़ा क्योंकि डाइरेक्टर साहब पंजाब ने इसे स्त्री शिक्षा के लिये इसी शर्त पर स्वीकार किया था। अब वह प्रसंग-लेख अप्राप्य है। इस उपन्यास की नायिका 'भाग्यवती' तात्कालिक रूढ़ियों के विरोध मे खड़ी होने वाली एक आदर्श नारी है, सर्व-गुण-सम्पन्न। पुस्तक की भूमिका में पंडितजी ने स्वयं लिखा है—"मैं निश्चय करता हूं कि इस ग्रन्थ के पढ़ने से लोक-परलोक, विहित-अविहित, योग्य-अयोग्य सर्व प्रकार के व्यवहारों का ज्ञान हो जायगा" यह बात अक्षरशः सही है।

पं० श्रद्धाराम जी गद्यकार के रूप में तो प्रख्यात रहे ही, परन्तु उनका कविरूप भी कुछ कम नहीं*। 'शतोपदेश' सौ दोहों का सुन्दर

* श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी अपने दयानन्द चरित (बंगला) में स्वामीजी के लाहोर आगमन और उनके भाषण के विरुद्ध होनेवाली सभा में अग्रणी रूप से पंडितजी के खड़े होने के प्रसंग में इन्हें 'एक हिन्दी कवि' के रूपमें चित्रित किया है। मूल बंगला इस प्रकार है—"पंडित श्रद्धारम फुलारी नामक जनैक हिन्दी कवि सेइ सभा र अग्रणी रूपे दण्डायमान हइलेन" (पृष्ठ २५१)

संग्रह है और 'सत्यधर्ममुक्तावली' में विनय पद हैं जो विभिन्न राग रागनियों में रचित हैं। पंडितजी की भारत प्रसिद्ध प्रार्थना 'ओम् जय जगदीश हरे' इसी पुस्तक मे है जो उनकी प्रारंभिक काल की रचना है और धार्मिक (आध्यात्मिक) वारहमास का वर्णन तथा एक रेल की गजल भी इसी में है जिसमें हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और अंग्रेजी शब्दों का चमत्कारिक चयन है। इन सबसे पंडितजी के काव्य-वैभव का पता भली प्रकार लगता है।

पंडितजी की कीर्ति-कला-प्रसार का पता इस वात से भी लगता है कि सन् १९५९ में पंजाब प्रादेशिक हिन्दी साहित्य संगम के मंत्री श्री मोहनलाल मैत्रेय महोदय, पंडितजी के जन्मस्थान फुल्लौर में उनके स्मारक निर्माण के सिलसिले में मेरे पास दिल्ली आये (उन दिनों मैं दिल्ली में था) और पंडितजी का कुल साहित्य जो मेरे पास संग्रहीत था तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी को दिखलाने के लिये ले गये थे जिसे वापस लाने के लिए मुझे जाना पड़ा था। तब राष्ट्रपतिजी के प्रेस सचिव श्री राजेन्द्रलालजी हांडा ने मुझे सुनाया था कि राष्ट्रपतिजी ने पं० श्रद्धारामजी के प्रति काफी श्रद्धाभाव प्रदर्शित किया क्योंकि उन्होंने पंडितजी के विषय में महामना मदनमोहन मालवीयजी से बहुत कुछ सुन रखा था।

पुस्तक सम्पादन के सम्बन्ध में

यद्यपि पुस्तक की भाषा संस्कृत-प्रधान प्रौढ़ हिन्दी है किन्तु उसमें उस समय के कुछ प्रयोग ऐसे थे जो आजकल प्रचलित नहीं हैं। उन्हें मूल लेखक के भाव और शैली को ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रखते हुए, बदलकर-समयानुकूल किया गया है। जैसे—कहिता, रहिता की जगह कहता, रहता, होवेगा, जावेगा की जगह होगा, जायगा; हारा की जगह वाला तथा लों की जगह तक। जैसे—आजलों= आजतक। किंतु किसी २ जगह वैसा का वैसा प्रयोग भी रहने दिया

है और किसी २ जगह के संस्कृत रूप को चालू हिंदी का रूप भी दिया गया है जैसे—पृथिवी=पृथ्वी और किसी का अधिक प्रचलित रूप जैसे—अथर्वण=अथर्व, प्रष्ण=प्रश्न आदि। कहीं पर कोई वाक्य भी थोड़ा बहुत बदला गया तथा कहीं कोई शब्द जिसका कोई अर्थ नहीं लगता था या तो समूचा निकाला गया या उसकी जगह दूसरा रखा गया है ; किंतु ऐसा करने मे लेखक के मूलभाव या तात्पर्य मे कोई अंतर न आ जाय इसका विशेष ख्याल रखा गया है। कई स्थानो में प्रश्न चिन्ह बढ़ाये गये है तथा कहीं से कोई चिन्ह हटाया गया है। संस्कृत के श्लोक आदि प्रायः वैसे के वैसे ही रहने दिये गये हैं किंतु इनमें यदि कोई त्रुटि या अशुद्धि ज्ञात हुई तो अगले संस्करण में सुधार दिये जायँगे। राजनीति का प्राचीन रूप ज्यों का त्यों रहने दिया है ; किन्तु उसमें राजा शब्द की जगह वर्तमान के उच्चाधिकारी (राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री आदि) समझ लिये जाने चाहिएं।

उपसंहार

पंडित श्रद्धारामजी वास्तव में एक आदर्श महामानव थे जिन्होंने अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ और यश-अपयश पर किंचित भी ध्यान न देते हुए केवल लोकहित की दृष्टि से इस ग्रंथ की रचना कर सत्य-रूपी अमृत को अव्याहत प्रवाहित किया और अपनी इस अनुपम कृति से सदा के लिए अमर हो गये। आओ, हम सब उनके बताये मार्ग का अनुसरण कर अपना और इसके प्रचार द्वारा जगत् का कल्याण करें।

विनीत—

बालचन्द नाहटा

सत्यामृत-प्रवाह की विषय-सूची

विषय-नाम	पूर्व भाग	पृष्ठांक

१—प्रथम तरंग

२—द्वितीय तरंग

विषय-नाम | पूर्वभाग | पृष्ठांक

३—तृतीय तरंग

विषय-नाम पूर्वभाग पृष्ठांक

४—चतुर्थ तरंग

विषय-नाम पूर्वभाग पृष्ठांक

५—पञ्चम तरंग

विषय-नाम | उत्तर भाग | पृष्ठांक

१—प्रथम तरंग

२ द्वितीय तरंग

३ तृतीय तरंग

विषय-नाम | पृष्ठांक

विषय-नाम उत्तर भाग पृष्ठांक

४ चतुर्थ तरंग

५ पञ्चम तरंग

६ षष्ठ तरंग

इति सत्यामृत-प्रवाह के पूर्वोत्तर भागद्वय की विषय-सूची

ॐ परम गुरवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्यारंभः ॥

मुक्तिप्रदं सुदृढबन्धनतो भ्रमाणां,
नित्यं मदात्मसुखदं स्वगुरुं कृपालुम्।
श्रद्धावतां जननमृत्युहरं सुवाक्यै—
र्वन्दे मुदा परमया करुणानिधिं तम् ॥१॥

ये केचिदत्र मतवादयुता मनुष्याः,
शान्ति न यान्ति बहु तर्क वितर्क वेगैः!
तान्नित्यतप्तमनसो बहुधा निरीक्ष्य,
सत्यानृत प्रवहणं प्रवितन्यतेऽद्य ॥२॥

सत्यामृतप्रवाहेऽस्मिन् येहि मज्जन्ति मानवाः।
सन्देह दावनिर्दग्धास्ति भवन्त्येव शीतलाः ॥३॥

श्रद्धारामेण फुल्लौर-नगरावासिना मया।
रसरामाङ्कचन्द्राब्दे वैक्रमे रचिता सुधा ॥४॥

गुरोः शिष्यस्य संवादैस्तथा प्रश्नोत्तरैर्मया।
निर्भयत्वं समाश्रित्य यत्सत्यं तत्प्रकाशितम् ॥५॥

स्वमतस्याग्रहं हित्वा ये ग्रहीष्यन्ति मे मतम्।
अमरास्ते भविष्यन्ति जीवन्मुक्ता ह्यसंशयः ॥६॥

युक्त्या युक्तं वाक्यं बालेनापि प्रभाषितं ग्राह्यम्।
त्याज्यं युक्ति विहीनं श्रौतंस्यात्स्मार्तकं वा स्यात् ॥७॥

दोहा—नमो नमो तुम चरण को, श्री गुरु दीन-दयाल।
तुमरी कृपा कटाक्ष से, कटे सकल भ्रम जाल ॥१॥

चार वेद, षट् शास्त्र, अठारह पुरान तथा जैन बौद्ध मत के शास्त्र और तौरेत, ज़बूर, इंजील, कुरान आदिक जगत के संपूर्ण धर्म-पुस्तक संसार की मर्य्यादा स्थिर रखने के लिये जीवों के सिर पर ईश्वर और परलोक का भय और लालच रख के शुभाचार में प्रवृत्त और अशुभाचार से निवृत्त करना चाहते हैं। परन्तु उनका यह उपाय उन लोगों को ग्रहण हो सकता है कि जिनकी बुद्धि बिना किसी युक्ति और प्रमाण के सुनी पढ़ी बात को सत्य मान लिया करती और आप कुछ सोच विचार नहीं कर सकती। जो उत्तम बुद्धि के लोग केवल उसी बात को सत्य माननें वाले हैं कि जो प्रत्यक्ष में सत्य हो अथवा किसी युक्ति प्रमाण से सत्य दिखाई देवे वे पूर्वोक्त ग्रन्थों के कथन पर संशय उठा के अन्त को अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। बिना युक्ति प्रमाण के सुनी पढ़ी बात को सत्य मान लेने वालों के लिये तो हम भी उसी उपाय को श्रेष्ठ समझते और उपदेश करते रहते हैं कि जो उन ग्रन्थों ने किया, परन्तु जो लोग सोच समझ के चलने वाले और सत्य के खोजी हैं उन्हें पराविद्या का उपदेश देना हम अत्यन्त उचित समझते हैं कि जिस पर किसी को कुछ संशय नहीं रहता।

प्रश्न—पराविद्या क्या होती है ?

उत्तर—विद्या दो प्रकार की होती है—एक परा, दूसरी अपरा। परा वह है कि जो परे का उपदेश करे जिसपर कोई संदेह नहीं उठता और अपरा वह है कि जो वरे का उपदेश करे कि जिस पर अनेक सन्देह खड़े हो के मन को व्याकुल कर देते हैं। इस परा-अपरा विद्या का पता अथर्व वेद की मुण्डक नाम उपनिषत् में इस प्रकार लिखा है :—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो विद-
न्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो
व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते॥

मुण्डक० खण्ड १,४-५

अर्थ इसका यह है कि विद्या दो भाँति की जाननी चाहिये, जिस को ब्रह्मवेत्ता लोग परा और अपरा कहते हैं। उन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये सब मिल के अपरा विद्या कहलाती है और परा विद्या वह है कि जिससे अक्षर अर्थात् अविनाशी ब्रह्म जाना जाता है।

अब सोचो कि वेदादि समस्त ग्रंथों को जब अपरा विद्या मे गिना तो इनके कथन से निःसन्देह ज्ञान कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—वेदादि ग्रंथों से जब यह निश्चय हो गया कि ईश्वर, जगत का कर्त्ता हर्त्ता सत्य है और वेद उसके ज्ञानका नाम है। जीवको पाप पुण्य के अनुसार नर्क-स्वर्ग भोगना पड़ेगा तो इस ज्ञान पर किसी को क्या सन्देह हो सकता है ?

उत्तर—अपरा विद्या के अधिकारी को तो कुछ सन्देह इस पर खड़ा नहीं होता कि जो आँख और कान मूँद के लकीर पर चला चलता है परन्तु परा विद्या का अधिकारी इस पर अनेक सन्देह उठा सकता है कि जिसको सोच समझ के पाव रखने का स्वभाव है, जैसा कि लो, पहले हम तुम्हीं को प्रश्न करते है यदि सामर्थ्य है तो उत्तर दो।

प्रश्न*—ईश्वर क्या और वेदादि ग्रन्थ उसका कथन कैसे है ? जीव

*यहा से गुरु का प्रश्न और शिष्य का उत्तर चला।

क्या वस्तु है तथा पाप पुण्य क्या होते हैं ? नर्क-स्वर्ग क्या है और जीव उनमें कैसे जाता है ?

उत्तर—ईश्वर को मैंने अनादि-अनंत, काया से रहित, निराकार, सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ, पूर्णपवित्र तथा इच्छा और जन्म मरण से हीन सुना है।

प्रश्न—जो वस्तु काया से रहित और जन्म मरण से हीन है उस का होना तुमने कैसे निश्चय कर लिया ?

उत्तर—विना वनाए कुछ वनता नहीं सो इस जगत् का कोई वनाने वाला अवश्य होना चाहिये, उसी को हम ईश्वर मानते हैं तथा यही वड़ी भारी युक्ति ईश्वर का होना सिद्ध करनेवाली हमारे पास है।

प्रश्न—जगत के वनानेवाले को यदि तुम ईश्वर मानते हो तो वताओ जगत् मे ऐसी वस्तु कौन सी है जिसको ईश्वरने वनाया। मनुष्य, पशु, पक्षी अपने माता पिता से वनते और वृक्ष अपने वीज से वनते और घट, पट, कोष्ठ, कूप मनुष्य के वनाये वनते हैं तथा धरती जल, अग्नि, पवन, आकाश ये पांच तत्व सदा वने-वनाए ही समझ में आते हैं जो कुछ ईश्वर का वनाया वना उसका नाम वताओ। फिर जो तुमने कहा, विना वनाये कोई वस्तु वनती नहीं; यदि यह वात सच है तो उस ईश्वर का वनाने वाला भी तुम को अवश्य मानना चाहिये।

उत्तर—आज तो सव जीव अपने माता पिता से और वृक्ष अपने वीजों से वनते दिखाई देते हैं परन्तु आदि में जो माता पिता और वीज वने थे वे ईश्वर ने वनाये थे। और ये धरती आदिक पांच तत्व भी पहले उसीने वनाये हैं। और आप जो ईश्वर का वनाने वाला कोई और ठहराते हैं, वनानेवाला उस वस्तु का होता है जो किसी भांति का आकार वा स्वरूप रखती हो ईश्वर को हम पीछे निराकार कह चुके हैं।

प्रश्न—आदि में माता पिता और पाच तत्व तथा बीजों का कर्त्ता यदि ईश्वर को मानते हो तो उस पर तीन सन्देह खड़े होंगे। प्रथम यह कि आदि में माता पिता और बीज ईश्वर ने किस इच्छासे बनाये, दूसरा यह कि काहे में से बनाये तथा तीसरा यह कि उस दिन से पूर्व कभी क्यों न बनाये ?

यह बात तुम्हीं ने मानी थी कि कोई वस्तु विना बनाये नहीं बनती जिस पर हमको ईश्वर का बनाने वाला पूछना पड़ा। यदि अब यह मानते हो कि बनाये से केवल वही वस्तु बनती है जिसका कोई आकार हो, तो पवन और आकाश का बनानेवाला ईश्वर कैसे ठहरेगा कि जिनका कोई आकार नहीं। यदि कहो, पवन ओर आकाश का कर्त्ता ईश्वर नहीं, तो तुम्हारी वह प्रतिज्ञा कहा गई कि जगत का बनाने वाला ईश्वर है। क्या पवन और आकाश जगत् से वाहर हैं ?

तुमने कहा था कि आदि मे माता पिता को ईश्वर ने बनाये थे और यह भी कहा था कि वह इच्छा से रहित है, तो विना इच्छा के कोई काम बनता हम कभी नहीं देखते। यदि कहो कि इच्छा तो है परन्तु हम उसकी इच्छा को जानते नहीं, तो ईश्वर को उस इच्छा के पूरी करने का अर्थी मानना पड़ेगा। फिर हम यह पूछते है कि वह इच्छा उसमें अपने निमित्त उठी वा किसी दूसरे के निमित्त ?

यदि अपने निमित्त उठी, तो वह पूर्ण और इच्छा हीन कैसे हुआ ? और पूर्ण नहीं तो सर्वव्यापी कैसे हुआ ? फिर यदि किसी दूसरे के निमित्त उसमें इच्छा उठी, तो उस समय जब जगत् ही नहीं था तो दूसरा और कौन था ? यदि कहो कि उसने अपना प्रताप प्रकट करने की इच्छा की, तो प्रताप के न प्रकट करने में उसकी क्या हानि होती ? यदि कहो, कि वह दयालु है, अपनी दया प्रकट करने को उसने जगत् रचा, क्योंकि जगत् न होता तो दया किस पर करता तो सुनो—एक

तो उसकी दया उसे दु:खदायक हो गई कि जिसने उसको चैन से न बैठने दिया। दूसरे सिंह, सर्प, बिच्छू आदि के रचने मे जगत् पर क्या दया हुई ?

दूसरी वात हम यह पूछते है कि आदि काल के माता पिता तथा वीज और पंच तत्व वनाये काहे में से थे ? क्योंकि उपादान के विना कुछ वन नहीं सकता। यदि कहो पंचतत्त्व के परमाणु नित्य है उनको मोटा करके सव कुछ वना लिया, तो वताओ क्यों वनाया ? यदि कहो, जीव पदाथ अनादि है और उसके कर्म भी अनादि हैं कि जिनका फल भोगाने के लिये ईश्वर ने परमाणु-समूह को मिलाके स्थूल किया और जगन् रच लिया और यह जगत् कई वार उपजा और मिटा है तथा सदा उपजता मिटता रहेगा। तो अव जीवो के कर्म ईश्वर को दु:खदाई हो गये मानने पड़ेगे। यदि कहो कि, ईश्वर ने एक वार यह संकेत वॉध दिया कि सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि हो जाया करे और जीव अपने कर्मका फल भोगते रहा करें, अतः नित्य नित्य ईश्वर को संकल्प नहीं रचता पड़ता जिससे उसे वेचैन माना जावे तो सुनो—सृष्टि प्रलय की धारा तो तुमने अनादि मानी फिर इस संकेत वॉधने का समय कौन सा ठहराओगे ? क्योंकि जिस समय संकेत वाँधा उससे पूर्व सृष्टिका अभाव मानना होगा। यदि उससे पूर्व भी सृष्टि थी तो संकेत का वांधना कव और क्यों आवश्यक समझा गया ?

यदि कहो, जगत् रचने के लिये ईश्वर को भिन्न उपादान की आवश्यकता नहीं, किन्तु "एकोहं वहुस्या"—मैं जो हूं वहुत प्रकार का हो जाऊं—इस श्रुति के अनुसार वह आप ही जगत् रूप हो गया। तो ईश्वर को तुमने निराकार माना था फिर जगत् में साकारता कहा से आ गई ? क्योंकि जो गुण उपादान कारण में होते है कार्य्य मे उससे

विलक्षण कभी नहीं होते। जैसा कि देखो स्वर्ण का बना हुआ आभूषण कभी किसी ने रूई के सामान श्वेत और हलका नहीं देखा।

यदि कहो, ईश्वर सर्व-शक्तिमान् है उसे जगत् रचनेके लिये साधन और सामग्री की कुछ आवश्यकता नहीं होती; वह जो कुछ चाहे, अपनी शक्ति से ही बना सकता है। तो पहले हम यह पूछते हैं कि इसमें प्रमाण क्या कि बिना उपादान के कार्य्य उत्पन्न हो सकता है? दूसरा यह बताओ कि शक्तिमान् को साधन और सामग्री तो चाहे नहीं चाहिये परन्तु कार्य्य रचने की इच्छा तो उसमें अवश्य माननी पड़ेगी कि जिस पर हम वे सारे ही संदेह फिर उठा सकते हैं जो पूर्व उठाये थे।

यदि कहो, मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है उस महान् परमेश्वर के व्यवहार को कैसे समझ सके कि उसने जगत् कब बनाया, क्यों बनाया, काहे में से बनाया, कैसे बनाया। तो इस तुच्छ बुद्धि के कहने से तुमने यह कैसे मान लिया कि ईश्वर ने बनाया है?

यदि कहो, जगत् है ही नहीं सब कुछ भ्रम से भासता है, तो बताओ किसके भ्रम से भासता है? क्या ईश्वर के भ्रम से वा जीव के भ्रम से? यदि ईश्वर के भ्रम से, तो ईश्वर की सर्वज्ञता कहां गई? यदि जीव के भ्रम से, तो जीव से भिन्न जगत् क्या वस्तु है जो जीव के भ्रम से भासता है? क्या जीवों के समूह का नाम ही जगत् नहीं? फिर इस रीति से भी जीव के भ्रम से जगत् का भासना खंडित होता है कि जब जीव पहले ही सत्य है जिसको अपने में जगत् का भ्रम हुआ, तो सत्य वस्तु को भ्रम से भासता कैसे मानते हो?

यदि कहो, मेरी बुद्धि तुच्छ है जो आपके पूर्वोक्त प्रश्नो का उत्तर नहीं दे सकी; परन्तु ईश्वर का होना मैं इस युक्ति से सत्य मानता हूँ कि जगत् के वेदादि समस्त ग्रंथ ईश्वर का होना कथन करते है जो ईश्वर ही की बाणी है तो सुनो—

हमने ऊपर पहले ही प्रश्न किया था कि वेदादि ग्रन्थ ईश्वर का कथन कैसे है और अव हम यह वात भी पूछते हैं कि वेदादि ग्रंथ किस ईश्वर का कथन है ? क्या उसीका, जिसको तुम किसी युक्ति से सिद्ध नहीं कर सके। जिसका होना ही अव लों सिद्ध नहीं हुआ उसका कथन हम किसी ग्रन्थ को कैसे मानलें ?

प्रश्न—अच्छा, अव जीव की वताओ कि देह में जीव क्या वस्तु है जिसको तुम देह छोड़के आगे जाता और यहां के कर्म का फल भोगता समझते हो ?

उत्तर—जिसके होने से देह मे ज्ञान शक्ति दिखाई देती है वह अज, अमर, नख से शिखा लों पूर्ण (नख से शिख पर्यन्त व्याप्त) तथा निराकार वस्तु जीव है।

प्रश्न—मूर्छा और उन्मादक द्रव्यों के संयोग से जव देह में ज्ञान शक्ति नहीं रहती क्या उस समय जीवात्मा को देह से कहीं वाहर चला गया मानते हो ? यदि कहो, उन्मादक द्रव्यों के संयोग से उसे व्याकुलता हो जाती है जिससे ज्ञान शक्ति नहीं रहती तो जव उसको तुम निराकार मानते हो तो उसके साथ किसी अन्य द्रव्य का संयोग होता, और वह संयोग आत्मा के सहज धर्म ज्ञान शक्ति को नष्ट करने वाला कैसे मान लिया जावे ? यदि कहो, जैसे निराकार पवन के साथ दुर्गन्ध द्रव्य का संयोग हो के उसे दुर्गंधवाला वना देता है वैसे ही उन्मादक द्रव्यका संयोग निराकार आत्मा के साथ हो के उसे व्याकुल कर देता है, तो यह दृष्टांत विषम है। क्योंकि दुर्गंध द्रव्य पवन को दुर्गंधित नहीं करता, किन्तु उसके सूक्ष्म परमाणु पवन के प्रेरे हुए जव मनुष्य की नासिका में पहुँचते है तो अज्ञजन पवन को दुर्गंधित समझ लेते हैं। पवन सदा निर्लेप है उसे तव दूषित समझा जावे कि यदि उसका सहज धर्म स्पर्श किसी के संयोग से नष्ट हो जावे।

फिर जो तुम उसको अज, अमर मानते हो यह बात भी युक्ति को नहीं सहारती। क्योंकि देह के बिना जो उसकी कहीं स्थिति नहीं प्रतीत होती इस कारण यदि देहके साथ हो उसका उत्पत्ति विनाश मानलें तो क्या हानि है ? यदि कहो, जैसे घड़े में के आकाश का घड़े के साथ उत्पत्ति विनाश नहीं, वैसे देह के साथ आत्मा का भी नहीं। तो जैसे घड़े की उत्पत्ति विनाश के पूर्व और पश्चात आकाश का भिन्न स्वरूप भी दिखाई देता हे वैसे जीवात्मा का भी दिखाओ।

तुमने उसे नख से शिख पर्यन्त व्याप्त कहा, यदि यह बात सत्य है तो नख और रोम के काटने से उसे दु:ख क्यों नहीं होता ? यदि कहो, वह देह मात्र में व्याप्त है नखादि में नहीं, तो देह में से हाथ, पाव के काटने से ज्ञान शक्ति का कोई भाग हीन होना चाहिये। यदि कहो, जैसे इंधन का कुछ भाग काटने से उसमें के व्याप्त अग्नि का उष्ण और प्रकाश धर्म कुछ न्यून नहीं हो जाता वैसे ही देह में से हाथ पाव के काटने से भी व्याप्त जीवात्मा के स्वरूप की हानि नहीं होती क्योंकि निराकार वस्तु व्याप्त पदार्थ के कटने से कभी नहीं कटती। तो जैसे कटे हुए ईंधन के दोनों टूक में व्याप्त अग्नि की उष्णता और प्रकाश तुल्य प्रतीत होता है वैसे कटे हुए हाथ पांव और देह में आत्माकी ज्ञान शक्ति भी तुल्य प्रतीत होनी चाहिये क्योकि वह दोनों टूक में पूरा व्याप्त है। यदि कहो, व्याप्त तो सारे में है परन्तु ज्ञान शक्ति की प्रतीति वहा होती है जहां मन नाम इन्द्रिय विद्यमान हो, तो तुम मन को अणुमात्र द्रव्य मानते हो जो देह के किसी एक स्थान मे स्थित होगा फ़िर मुख में पड़े मोदक और पाव में गड़े काटे का सुख दु:ख कैसे प्रतीत होता है ?

तुम यह भी बताओ कि जीवात्मा सब में एकही है या भिन्न२ ? यदि कहो, एक ही है, तो घोड़े पर चढ़ा हुआ पुरुष जिस देश को

चलना चाहता है घोड़ा विना प्रेरणा के उसी देश को क्यों नहीं चल पड़ता क्योंकि दोनों का आत्मा एक होने से संकल्प भी एक ही है? यदि कहो, वहां मन की भिन्नता से संकल्प की भिन्नता है तो मन से भिन्न जीवात्मा का होना किसी दृढ़ युक्ति या प्रमाण से पहले सिद्ध करलो। यदि सब देहों में भिन्न २ जीवात्मा मानते हो तो बताओ वह देहों के साथ उत्पन्न होता है वा देहों से पूर्व भी कहीं विद्यमान था? यदि कहो, साथ उत्पन्न होता है तो उपादान उसका माता पिता का रज-वीर्य्य मानना पड़ेगा जो देह का उपादान है। फिर रज-वीर्य्य को उसका उपादान माना तो देह के समान उसे नाशवान भी मानना चाहिये।

यदि कहो, देह से पूर्व कहीं विद्यमान था तो बताओ कहां था?

प्रश्न—अब बताओ पाप पुण्य क्या पदार्थ है जिनके अनुसार जीवात्मा नर्क स्वर्ग भोगता है?

उत्तर—पर-स्त्री गमन, परस्वहरण, मिथ्यालाप, वैर, कपट, अहंकारादि कुकर्म सब पापरूप, और सत्य, दया, दान यम, तप, व्रत, योग यज्ञ, नाम, स्नान, परोपकार आदिक सुकर्म सब पुण्यरूप हैं।

प्रश्न—पाप-पुण्य का फल मनुष्य का आत्मा ही भोगता है वा पशु पक्षी भी कुछ पाप पुण्य करते, और उनका फल भोग सकते है? यदि कहो, मनुष्य के आत्मा ही पाप पुण्य कर सकते और वे ही उसका फल भोग कर सकते है तो क्या पशु पक्षी की आत्मा मनुष्य की आत्मा से भिन्न है? और यह भी तो अभी तक असिद्ध ही है कि देह से भिन्न कोई आत्मा है और वह देह से न्यारा हो के फल-भोग कर सकता है। कई लोग जीवात्मा को कर्म फल भोगाने के लिये एक लिंग-देह वा अति-वाहक-देह अंगीकार करते है परन्तु सत्तरह वस्तु का लिंग-देह अथवा कोई अति-वाहक-देह मान लेने में हम कोई युक्ति

प्रमाण नहीं देखते। कई लोग यह भी मानते हैं कि पूर्व देह में किये कर्म का फल जीवात्मा दूसरे देह में ही भोग करता है क्योंकि देह के विना आत्मा की स्थिति कठिन है, तो पूर्व देह को छोड़के दूसरे देह में प्रवेश करने तक जितने क्षण वा वर्ष व्यतीत हुए उतना समय जीवात्मा को देह के बिना स्थित मानना पड़ेगा। सो बताओ देह से भिन्न वह क्या वस्तु है और उसके सद्भाव में क्या प्रमाण है ? यदि यहा यह मान लिया जावे कि जलौका के नाँई पिछला चरण तब उठाता है जब अगला रख लेता है, तो यह बात बनती नहीं क्योंकि जलौका जिस स्थान से चरण उठाके अगले स्थान में रखता है वह दोनों स्थान निकट होते है। जीवात्मा के व्यवहार में यह कभी नहीं देखा कि जिस देह से निकल के जीवात्मा उसे मृतक बना गया उसके निकट किसी और देह में प्रवेश कर गया हो।

यदि कहो, पशु पक्षी के आत्मा भी पाप पुण्य कर सक्ते है, और उनके पाप पुण्य भी वही हैं जो तुमने ऊपर कहा, तो यह असम्भव है क्योंकि वे उसको कर ही नहीं सकते।

प्रश्न—अब बताओ नर्क स्वर्ग कहा है ?

उत्तर—आकाश वा पाताल में कोई स्थान है।

प्रश्न—आकाश पाताल में है तो किसी एक देश में होने के कारण किसी को दूर और किसी को निकट पड़ेगा। जिसको निकट पड़ा उस को देह छोड़ते ही तुरंत उसमें पहुंच के दुःख सुख भोगने पड़े और दूर वाले को चिरकाल मे, फिर वह बीचमें यात्रा का समय सुख दुःख की किस दशा में काटता, और किस कर्म का फल है ? क्या उसीका, जिसका फल नर्क स्वर्ग में भोगना था, वा स्वतन्त्र है ?

शिष्य—आपने इस विकल्प जाल में मेरी वाणी को निरुत्तर कर दिया परन्तु अच्छा लो अब मैं आपसे ही प्रश्न करता हूं देखें आप क्या उत्तर देते है।

प्रश्न*—और तो सब महापुरुष ईश्वरादि को सत्य कहते आये परन्तु अब आप बतायें कि आपका क्या सिद्धांत है?

उत्तर—जब तक कोई बात प्रत्यक्ष प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध न हो जावे तब तक किसी ग्रन्थ और महापुरुष की बात सत्य न मानो। क्यों कि ग्रन्थ तो सबही अपरा विद्या तक का उपदेश करते हैं। और महापुरुष जगत् में दो प्रकार के होते हैं एक वे कि जो अपरा विद्या तक ही पहुंचे है और दूसरे वे कि जिनको परा विद्या की प्राप्ति हुई है कि जिनका नाम पुरुषोत्तम परमहंस तथा यथार्थ महापुरुष और सत्यधारी हैं। सो जिनको परा विद्या की प्राप्ति हुई कोई २ तो उनमें चुप हो जाना ही श्रेष्ठ समझता है और कोई२ जो आप सुखी हो के परोपकार की दृष्टि से कुछ कहना ही चाहता है वह यथाधिकार उपदेश करता है कि जिससे लोग भ्रष्ट और पतित न हो जायें। हां, इतना तो ठीक है कि जहां तक हो सके जगत् के सिर से वृथा भय और लालच को अवश्य उठा देना चाहिये कि जिसके कारण लोग अपना तन मन धन नष्ट कर रहे हैं परन्तु ऐसा अज्ञानी कौन है कि जो ईश्वरादि को भी अपने यथार्थ अर्थ में असत्य समझे। जैसा कि देखो हम इन पांच सिद्धांतों को अत्यन्त सत्य और जगत् के कल्याण कारक समझते हैं।

सच्चे मनुष्य धर्म के पांच सिद्धांत ये हैं†

१—सत्य का जानना, मानना, और अधिकार पूर्वक उपदेश करना मनुष्य का परम धर्म है।

२—ईश्वर या परमेश्वर अपने यथार्थ अर्थ में अनादि अनंत पूर्ण और सत्य तथा सर्व गुण निधान है।

३—वेद यथार्थ ईश्वर के ज्ञानका नाम है और वह सत्य का उपदेश

---

*यहां से शिष्य का प्रश्न और गुरु का उत्तर पूर्व रीतिवत् चला और ग्रन्थ समाप्ति पर्यंत ऐसा ही रहेगा।

†ये अपराविद्यानुसार हैं। पराविद्यानुसार उत्तर भाग के द्वितीय तरग में है।

करता है। अथवा—वेद नाम सत्य ज्ञान का है और जो सत्य ज्ञान का उपदेश करता है वही वेद है।

४—सूक्ष्म दृष्टि से विचारे तो जीव भी ईश्वर का ही एक अंश है।

५—पाप से नर्क और पुण्य से स्वर्ग मिलता है और पराविद्या के ज्ञान से मोक्ष होता है।

प्रश्न—अपरा विद्या में भी तो इन पाच सिद्धांतो का ही उपदेश है फिर आपने अधिक क्या कहा। यदि आपका भी यही सिद्धात है तो मैं वे सारे संदेह अब आपके कथन पर उठाता हूं जो आपने मेरे कथन पर उठाये थे। बताइये आपका यथार्थ ईश्वर क्या, तथा वेद उसके ज्ञान का नाम कैसे है? जीव क्या वस्तु, और पाप पुण्य किस आचार का नाम है? फिर यह भी बताइये कि ज्ञान क्या पदार्थ और उससे मोक्ष कैसे मिलता है?*

उत्तर—प्रथम अपने आत्मा† की चिकित्सा अर्थात् शोधन करो कि जिससे तुमको शुभाचार की प्रवृत्ति और अशुभाचार की निवृत्ति का दृढ़ स्वभाव हो जावे फिर ईश्वरादि का स्वरूप पूर्ण प्रमाणो के साथ सिद्ध किया जावेगा। जो कोई आत्मा के शुद्ध कराये बिना अनधिकारी को पराविद्या के अनुसार ईश्वरादि का निर्णय सुनाता है वह अज्ञानी और सूक्ष्म विचार से हीन है।

प्रश्न—आत्मा की चिकित्सा कैसे होती है?

उत्तर—दूसरे तरंग से उसका आरंभ होगा।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित
सत्यामृतप्रवाह पूर्वभागे ग्रन्थारंभः प्रथमस्तरंगः॥१॥

---

* इनका विस्तृत विवेचन उत्तर भागके प्रथम तरग में अपराविद्यानुसार और बाद के तरगो में पराविद्यानुसार है

† यहा आत्मा से तात्पर्य मन, बुद्धि या अपने-आप (Self) से है। तथा इसका खुलासा उत्तर भाग के द्वितोय और पचम तरग में है।

ॐ परम गुरवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्यपूर्वभागः ॥

अथ द्वितीय तरंगस्यारंभः

प्रश्न—आपने कहा आत्मा* की चिकित्सा करो सो अब यह बात कथन कीजिये कि शरीर मे तो वात, पित्त, कफ की अधिकता न्यूनता से रोग और उनकी साम्यावस्था से आरोग्य का प्रादुर्भाव होता है यहा आत्मा में रोग और आरोग्य के प्रकट होने का क्या कारण है ?

उत्तर—जैसे शरीर में वात, पित्त, कफ भरा हुआ है वैसे आत्मा में सत्व, रजस, तमस ये तीन गुण भरे हुए हैं सो जहाँ ये तीनों गुण समभाव पर वर्तते हैं वहां आत्मा अरोग और जहां इनकी न्यूनता अधिकता होती है वहा सरोग गिनना चाहिये।

प्रश्न - वात आदिक तीनों तत्व की साम्यावस्था और न्यूनता अधिकता का ज्ञान तो नाड़ी के देखने से हो जाता है यहां आत्मा में तीनों गुण के समभाव और न्यूनता अधिकता का ज्ञान कैसे होता है ?

उत्तर—तीनों गुण की भिन्न २ साम्यावस्था से एक २ धर्म उत्पन्न हो के तीन धर्म आत्मा में रहते हैं जैसा कि—सत्व के समभाव से 'संवित्' और रजस के समभाव से 'संतोष' और तमस के समभाव से 'शौर्य्य'। सो जहां संवित् अर्थात् ज्ञान का प्रकाश देखो वहां सत्व की शुद्धि, और जहां संतोष का प्रकाश, वहां रजस की शुद्धि, और जहां शौर्य्य का प्रकाश देखो वहां तमस की शुद्धि समझनी चाहिये। और जहां इनसे विरुद्ध देखो, वहां सत्वादि तीनों गुणकी न्यूनता अधिकता और आत्मा को सरोग समझो।

---

*आत्मा=मन, चित्त, बुद्धि, चेतन, स्वय, खुद या अपना-आप (Self, Ego) इत्यादि।

प्रश्न—शारीरिक रोगों की निवृत्ति में तो वैद्य को प्रधानता होती और इस विषय मे अनेक ग्रथ सुने जाते हैं। यहां आत्मा के रोगों की निवृत्ति में वैद्य संज्ञा किसकी है और इस विषय में मुख्य ग्रन्थ कौनसा गिना जाता है ?

उत्तर—आत्म रोगों की निवृत्ति के लिये वैद्य वह सद्गुरु है कि जो पूर्वोक्त सवित् आदिक तीन धर्मसे विभूषित और शिष्य के संदेह निवारण में कुशल हो। और जो तुमने ग्रन्थ की मुख्यता पूछी सो जिस ग्रन्थ मे आत्मा के शोधन का उपाय लिखा हो, आत्म-चिकित्सा के विषयमे उसी ग्रन्थको प्रधानता हो सकती है। जैसे, प्रस्तुत ग्रन्थ 'सत्यामृत-प्रवाह'।

प्रश्न—सत्व गुणका क्या स्वरूप है कि जिसकी साम्यावस्था अर्थात् शुद्धि से संवित्‌का प्रकाश और न्यूनता अधिकता से रोगों की उत्पत्ति होती है ?

उत्तर—सत्व गुणका स्वरूप प्रकाश है कि जिसके द्वारा संपूर्ण व्यवहार जाने और समझे जाते है। सो जब यह अपनी मलिन दशा और न्यूनता-अधिकता से रहित अर्थात् समभाव पर शुद्ध होता है तो इससे संवित् धर्म प्रकट हो जाता है। सवित् का यह अर्थ है कि संपूर्ण पदार्थों के व्यवहार को भली प्रकार सर्वांश जान लेना कि जिसको सम्यक् ज्ञान भी कहते हैं।

एक वात यह भी स्मृत रक्खो कि जहा संवित् होता है वहां ये सात गुण और उसके साथ निवास करते है:—

१ बोध—नित्यप्रति कामो को करते २ संपूर्ण व्यवहारों के अन्त फलको शीघ्र समझने का स्वभाव हो जाना। जैसा कि अंक विद्या के निपुण पुरुष अभ्यास के वश से अनेक अंकों का सिद्धांत तुरन्त जान लेते हैं।

२ विचार—कारणको देखके कार्य का अनुमान प्रथम ही कर लेना। जैसा कि बुद्धिमान लोग पहले ही इस बातको जान लेते है कि मन्द कर्मका फल कभी भी शुभ नहीं होता।

प्रश्न—पर-स्त्री गमन और चोरी आदिक मंद कर्म करने वाले पुरुष को तो मनोरथ प्राप्ति के अनंतर हम शीघ्र ही सुख हुआ देखते है फिर आप 'कभी सुख नहीं होता' क्यों कहते हो ?

उत्तर—पर-स्त्री गमन रूप मन्द कर्म जो तुमने कहा उससे तो कभी सुख और शुभ फल होता ही नहीं फिर तुम शीघ्र सुख होता कैसे मानते हो ? क्योंकि जिस भोग में लज्जा और भय हो वह आनंद जनक कभी नहीं हो सकता। अथवा वहा जो सुख है वह पर-स्त्री गमन का नहीं किन्तु भोक्ता की वृत्ति स्थित हो जाने का है। सो भोक्ता की वृत्ति चाहे अपनी पर, चाहे पराई पर जहां स्थित हो जावे वहां ही सुख हो जाता है। देखो, स्वप्न दशा में केवल संकल्प की स्त्री के शरीर में ही भोक्ता की वृत्ति स्थित हो के सुख जनक हो जाती है। इसलिये प्रकट हो गया कि अपनी पराई का नियम नहीं किन्तु स्त्री मात्र का नियम है। और पर-स्त्री गमन रूप कुकर्म का फल तो लोकापवाद आदिक होते है जो अत्यन्त दुःख के हेतु है।

इसी भांति चोरी से चाहे धन प्राप्ति का सुख तो होवे परन्तु उस को चोरी का सुख नहीं कह सकते क्योंकि यदि चौर्य्य कर्म के विना भी किसी उपाय से धन की प्राप्ति हो जावे तो सुख हो सकता है। इस कारण वह सुख धन मात्र का है, चोरी रूप मन्द कर्म का नहीं। चोरी का फल तो वही भय, कंप और राज शासनादि होंगे। अब सिद्ध हो गया कि सुख की प्राप्ति का कारण, सिद्ध हुआ मनोरथ है कुछ चोरी आदिक मंद कर्म नहीं। सो बस कारण द्वारा कार्य्य का अनुमान कर लेने को विचार कहते है।

३ अवगमन—देखते और सुनते सार सर्व व्यवहारो के तात्पर्य्य को तुरन्त जान लेना कि इस क्रिया के करने और इस बात के कहने का तात्पर्य्य यह है।

४ बुद्धि—किसी विद्या और व्यवहार को सीखने के समय कुछ काठिन्य प्रतीत न हो, जिस बात को चाहे सुगम ही ग्रहण कर ले।

५ तीव्रता—वाद विवाद और जिज्ञासा के समय ज्ञान-सीमा को उल्लघित न करना। तात्पर्य्य यह कि पद की जिज्ञासा और वाद हो तो पद के अर्थ विवेचन में न लगना। ज्ञान सीमा का उल्लंघन यह भी होता है कि जैसे किसी उत्तम स्थान मे मदिरा को धरी देखके झट यह निश्चय कर लेना कि मदिरा आदिक मंद वस्तु का आना तो यहा कठिन और असम्भव है यह अवश्य कोई अन्य पदार्थ है। चाहे ऐसे स्थल मे मदिरा का गंध अन्य पदार्थ के निश्चय मे प्रतिबन्धक भी है तो भी ज्ञान-सीमा के उल्लंघन ने ज्ञेय वस्तु के यथार्थ भाव को न समझने दिया। सो जो कोई ज्ञान-सीमा को उल्लंघन न करके यथार्थ विचार करे, उसमे तीव्रता होती है।

६ धारणा—पठन, श्रवण और दर्शनादि क्रिया से जो २ व्यवहार अनुभूत हो चुका हो उसका बुद्धि मे सदा स्थित रहना। बहुत लोगो का स्वभाव है कि किसी बात को शीघ्र समझते और शीघ्र ही भूल जाते है। कई ऐसे है कि चिरंकाल मे समझते और चिरंकाल में ही भूलते है। एक ऐसे है कि बहुत काल मे सीखते और शीघ्र भूल जाते, और एक वे है कि शीघ्र समझते और कभी नहीं भूलते। सो इसका नाम धारणा है।

७ स्मृति—देखे सुने और पढ़े हुए पक्ष की जिसकी बुद्धि में धारणा हो रही है जब अपेक्षा हो तुरन्त बिना यत्न स्फुरित हो आवे।

प्रश्न—आत्मा क्या वस्तु है कि जिसकी आप चिकित्सा करानी चाहते हो?

उत्तर—आत्मा वह वस्तु है जिसके प्रताप से देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देती है। पहचानने के लिये उसका लक्षण यह है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छै गुण उसमें स्वाभाविक रहते हैं। इसीका नाम जीव है। इसका अधिक वर्णन आगे उत्तर भाग में होगा।

ज्ञान शक्ति इस को कहते है कि ज्ञेय पदार्थों को विना किसी दूसरे की सहायता के स्वयमेव जान लेना। प्रकाश रूप होने से इसी का नाम सत्वगुण है। और क्रिया शक्ति इसको कहते हैं कि विना किसी दूसरे की सहायता के आप ही हिलना अथवा किसी अन्य वस्तु को हिलाना। यह क्रिया शक्ति फिर दो प्रकार की होती है।

एक यह कि सुख साधनों की ओर झुकना इसको इच्छा मूलक होने से रजोगुण कहते हैं। दूसरी दुःख साधनो से पीछे हटना इस को द्वेष मूलक होने से तमोगुण कहते हैं।

प्रश्न—यदि मनुष्य देह रजोगुण और तमोगुण का रूप ही है तो यह सदा ऐसा ही रहेगा फिर शोधन और चिकित्सा से क्या फल होगा ?

उत्तर—चाहे कथन मात्र तो किसी शरीर में एक गुण की प्रधानता और किसी मे दो और किसी में तीनों गुण की प्रधानता है परन्तु वस्तुतः सम्पूर्ण शरीर त्रिगुणात्मक ही मानने चाहिएं अर्थात् केवल एक गुण किसी मे नहीं रहता है किन्तु सव शरीरों मे गुण तीनों ही निवास करते है। और शोधन और चिकित्सा का यह फल है कि पुरुप इन तीनों गुणों को समभाव पर रक्खे किसी अंश में न्यून अधिक न होने देवे।

प्रश्न—यह तो सत्वादि तीनों गुण की चिकित्सा हुई आप इसको आत्मा की चिकित्सा क्यों कहते हो ?

उत्तर—गुण गुणी का नित्य सम्बन्ध है इस कारण यदि गुण के स्थान में गुणी का ही नाम लिया जावे तो कुछ दोष नहीं। सो सत्वादि गुणों का आधार जो आत्मा है इस हेतु से गुण चिकित्सा का नाम आत्म चिकित्सा है और इस चिकित्सा का फल मोक्ष है।

प्रश्न—वस्तु का गुण जाने बिना उस की प्राप्ति में रुचि नहीं होती इस कारण अब मोक्ष के गुण कथन कीजिये।

उत्तर - मोक्ष शब्द का अर्थ छूटना है। सो सम्पूर्ण दुःखो से छूट के परमानन्द पद में मग्न होने का नाम मोक्ष है। और यही उसका लक्षण है।

प्रश्न—क्या वह परमानन्द इस देह के रहते ही प्राप्त होगा वा देह त्याग के अनन्तर ?

उत्तर—जो लोग अपने जीवन में आत्म-चिकित्सा द्वारा सम्पूर्ण रोगों को दूर करके संवित्, सन्तोष, शौर्य्य, न्याय से संयुक्त होते है वे उस परमानन्द पद मोक्ष को देह के होते ही प्राप्त कर लेते है।

प्रश्न—जब लों देह में आत्मा है तब लों तो तीनों गुणों में न्यूनता अधिकता और मलिनता अवश्य होती रहेगी फिर आप यह उपदेश क्यों करते हैं कि मनुष्य तीनों गुण को समभाव पर रक्खे ?

उत्तर—जो विकार स्वभाव सिद्ध और सहज होता है उसका मिटना असम्भव होता है परन्तु जो विकार पीछे से किसी अन्य वस्तु के संयोग से प्राप्त हो उसको उपाय द्वारा दूर करना सम्भव है। प्रकट है कि देह में जो २ भौतिक व्यतिक्रम से ज्वर, शूल, आदिक विकार और धन पदार्थ की न्यूनता अधिकता से सुख दु.ख होते है उपाय द्वारा सब दमन हो सकते है।

प्रश्न—यदि धन पदार्थ की न्यूनना अधिकता भी उपाय के आधीन है तो निर्धन पुरुष धनी और दीन पुरुष राजा क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर—यद्यपि धन पदार्थादि सुख साधनों की अधिकता न्यूनता भी उपाय के आधीन तो ठीक है परन्तु हमारा प्रयोजन इस समय उसके कथन में नहीं। किन्तु हमने यह बात बताई है कि धन पदार्थ की अधिकता न्यूनता से प्राप्त हुए सुख दु:ख उपाय के आधीन है। क्योंकि यदि धन की अधिकता न हो तो भी मनुष्य विचार और संतोप रूप उपाय से सुखी रह सकता है और धन की अधिकता मे भी विचार और सतोप के अभाव मे दु:खी रहता है। अव विचारना चाहिये कि अमृत, विप, राज्य और निर्धनता आदिक पदार्थों का संयोग वियोग तो सांसारिक प्रवाह मे नदी के फेन, शंख, नौका आदिक वस्तुओं के संयोग वियोग की नाई सदा होता रहता है परन्तु उनके संयोग-वियोग जन्य सुख-दुःख सदा उपाय के आधीन है।

प्रश्न—अव यह वताइये कि पाप और पुण्य किस व्यवहार का नाम है ?

उत्तर—आत्मा की सम्पूर्ण क्रिया को हम त्रिगुणात्मक कह चुके हैं और उनके अशुद्ध करने को तीन २ कारण पीछे वतला चुके है कि जिनका नाम 'अधिकता, न्यूनता और मलिनता' है। सो इन तीनों कारणों में से किसी एक की ओर झुक जाने का नाम पाप और बुद्धि द्वारा प्रतिकार करके आत्मा को सदा समभाव पर रखने का नाम पुण्य है और इसी को आत्मा की चिकित्सा कहते है। जैसा कि देखो, अत्र मैं आत्मा के सत्वगुण के रोग और उनका प्रतिकार सुनाता हूँ :—

आत्मा के सत्वगुण में तोन रोग उत्पन्न होके शत्रु भाव रखते हैं। पहला अज्ञान, दूसरा चाचल्य और तीसरा आलस्य।

प्रथम अज्ञान कि जिस की उत्पत्ति मलिन सत्त्व, अर्थात् रजोगुण तमोगुण के साथ मलिन हुए सत्वगुण से है का यह अर्थ है कि किसी पदार्थ के ज्ञाता न होना। सो यह अज्ञान दो प्रकार का है एक सामान्य अज्ञान, दूसरा विशेप अज्ञान।

सामान्य अज्ञान यह है कि अपने अज्ञान को जानता हो कि मैं अज्ञानी हूँ। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सदा उस विचार में लगा रहे कि पशु वृंद और मनुष्य में इतना ही भेद है कि वह अपने अज्ञान को नहीं जानता और मनुष्य जानता और उस की निवृत्ति का यत्न कर सकता है। सो बड़ा आश्चर्य है कि मैं मनुष्य होकर ज्ञान हीन हूँ। अब उचित है कि ज्ञान की प्राप्ति का यत्न करूँ। फिर विद्या के पढ़ने और सत्संगति रूप औषधि से उस रोग की निवृत्ति हो सकती है। संयम इन दोनों औषधि के सेवन का यह है कि पढ़ने में इतना ही प्रयोजन न रक्खे कि मुझे बहुत से ग्रन्थों का देखना और अक्षरार्थ मात्र का जानना ही आवश्यक है किन्तु पठित पक्ष की धारणा का भी स्वीकार करे। फिर सत्संगति रूप औषधि के सेवन की यह विधि है कि केवल बहुश्रुत होने और उत्तमों के पास वृथा बैठने को ही पर्याप्त न समझे किन्तु उन की शिक्षा और आचार व्यवहार को भी ग्रहण करे। अध्ययन रूप औषधि में तो कुतर्क, दुराग्रह, वितण्डावाद, अश्रद्धा आदिक कई एक कुपथ्य त्याग के योग्य होते है और सत्संगति रूप औषधि में लज्जा, भय, मान, कुसंग आदिक कुपथ्य वर्जित है।

दूसरा जो विशेष अज्ञान कहा वह यह है कि चाहे महा मूर्ख और अज्ञानी भी है तो भी अपने आपको सर्वज्ञ और महा चतुर मान के किसी को अपने से अधिक न जानना। ऐसा पुरुष जो किसी की शिक्षादि ग्रहण नहीं करता, इस कारण वह असाध्य रोगी कहा जाता है। चाहे इसका प्रतिकार है तो असम्भव; परन्तु तो भी बहुत से बुद्धिमानों ने इसको अंक विद्या का अभ्यास कराना योग्य कहा है। क्योंकि इस अभ्यास से उस को अपने में भूल और अज्ञान मानने का स्वभाव उत्पन्न हो जायेगा। फिर यदि अपने को भूला हुआ मानने लगेगा तो किसी को अपने से अधिक ज्ञाता मान के शिक्षा ग्रहण में भी उसकी श्रद्धा हो जावेगी।

इस विशेष अज्ञान से उन्नति, श्लाघा, निरंकुशता, दंभ, परनिंदा वक्रता, क्रूरता आदि उप-रोगों की उत्पत्ति होती है।

उन्नति—अपने वस्त्र, भूषण, धन, सुख, रूप, कुलादि पदार्थों पर गर्वित हो के सब से खिंचे रहना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि इन समस्त पदार्थों की प्राप्ति मे यह विचार करे कि ये सम्पूर्ण पदार्थ जो क्षण भंगुर है फिर क्या प्रयोजन कि मैं इन का गर्व करूं।

स्वश्लाघा—अपने मुख से अपनी वड़ाई करना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सदा इस विचार मे प्रवृत रहे कि श्रोता लोग मेरी स्वकृत प्रशंसा को सुन के मुझे तुच्छ जानेंगे। और वाचाल समझ के मेरे सच्चे गुणों को भी झूठे समझ लेंगे। श्रेष्ट पुरुष अपनी वड़ाई का अक्षर भूल के भी अपने मुख पर नहीं लाता। क्योंकि वह यह जानता है कि जगत् में ऐसे वहुत लोग हैं कि मनुष्य के हृदयस्थ व्यवहारको अनुमान द्वारा जान लेते है। सो मैं यदि किसी प्रकार से भी अपनी वड़ाई करूँगा तो वुद्धिमान लोग मुझे तुच्छ जान लेंगे।

निरंकुशता—अपने ज्ञान के प्रताप से विपत्काल में भी किसी की शिक्षादि को ग्रहण न करना। ऐसे पुरुष को यदि कोई उत्तम ज्ञान भी सिखावे तो मन फेर लेता है क्योंकि वह जानता है कि मेरे शिर पर ज्ञानदाता का अंकुश खड़ा हो जावेगा। यद्यपि जानता तो है कि स्वेच्छाचार मे मुझे वहुत कष्ट होते हैं तथापि किसी अन्य की शिक्षा मानने को अपनी लघुता समझता है। औषध इस रोग का यह है कि वह शुभ ग्रन्थों वा पूर्व उत्तमों के इतिहासादि को पढ़ने का आरम्भ करे। क्योंकि वह प्रत्यक्ष में तो किसी की शिक्षा ग्रहण करने से अपनी छोटाई समझता है किन्तु इतिहासादि के पठन श्रवण से उसे गुप्त मे शिक्षा प्राप्त होती रहेगी।

दंभ—अपनी किंचित्-सी विभूति को छलसे अधिक सूचित करना। जैसा कि कई एक पुरुष दम्भ के ही बल से संसार की दृष्टि में ज्ञानी, दानी, मानी, धनी, पंडित थप रहे है और वास्तव मे कुछ भी नहीं होते। उपाय इस रोग का यह है कि सदा इस बात को सामने रक्खे कि जब कोई मेरे बराबर का चतुर वा यथार्थ बुद्धिमान मिल के मेरे दम्भ का पडदा उठा देवेगा तो उस दशा में मुझे अत्यन्त लज्जा उठानी पड़ेगी कि जिस का दुःख मृत्यु के तुल्य है। यद्यपि अनेक चतुर लोग अपने दम्भ और छल को सारा आयु प्रकट नहीं होने देते तथापि इस नियम के अनुसार कि 'मिथ्या व्यवहार सदा सत्य नहीं रहता' अन्त को छल आदिक व्यवहार प्रकट हुए बिना नहीं रहते। और प्रकट होने पर शोक का कारण होते है।

परनिन्दा—पराये यश, रूप आदि की ईर्षाग्नि में दग्ध हो के उसके समान यशस्वी होने को तो समर्थ न होना उलटा उसके भूषणों को दूषण लगा के अपने तुल्य उसे बनाते रहना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि निन्दक पुरुष अधिकांश अपने आप को ही निंद्य समझे कि जो दूसरे के महत्व को सहार नहीं सकता। अथवा यह विचारे कि श्लाघ्य पुरुष की श्लाघा को मैं निन्दा द्वारा दूर तो कर ही नही सकता, फिर निन्दा कर के निन्दक क्यो कहलाऊं। अथवा यह विचारे कि जिस की मैं निन्दा करता हूं वह सुन के मेरा शत्रु बन जावेगा और कई प्रकार से मेरी हानि करेगा।

वक्रता—किसी के सन्मुख प्रेम भाव से कभी स्थिर न होना अर्थात् सर्व संसार को तुच्छ जान के उदासीनता और कुटिलता से मिलना। अपना चित्त चाहे नाना मनोरथो से ग्रस्त हो तथापि निराकांक्षो की नाईं सर्व संसार से खिंचे रहना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि सर्व संसार को अपने अंग-उपांग की नाईं परस्पर सहायक जान के सब

से मेल रखे। क्योंकि जीतेजी जो पुरुष को सर्व प्रकार के लोगों के साथ काम पड़ सकता है न जाने किस काल में किस के अर्थी होना पड़े। अथवा यह विचारे कि वक्र पुरुष के साथ जो सारा संसार वक्र ही रहता है फिर मेरे साथ कोई ऋजु कैसे रहेगा।

क्रूरता—आठों याम अपने अज्ञान के प्रताप से तपे और जले रहना कि सब कोई उसके मुख से भय करे। प्रतिकार इस रोग का यह है कि वह पुरुष सदा इस बात को विचारे कि सर्व संसार आपस मे मिलता, बैठता, आनन्द करता और परस्पर के मिलाप से अपने आवश्यक व्यवहारों में सहायता पाता है, यदि मैं भी अपने दुःस्वभाव को तजके सब से प्रेम करूं तो कैसा लाभ उठाऊँ। अथवा यह सोचे कि मैंने किसी का अपराध नहीं किया केवल मेरे स्वभाव ने ही मुझे सब का शत्रु बना छोड़ा है। फिर मेरा यह दुःस्वभाव अन्य लोगों को तो कभी ही दुःखी करता होगा किन्तु पहिले मैं आप ही इससे सदा शोकित और दु'खित रहता हूँ। अथवा यह विचारे कि जैसे अन्य पुरुषों की क्रूरता मेरे मन को नहीं भाती वैसे मेरी क्रूरता किस को भाती होगी।

दूसरा जो चांचल्य नाम रोग कहा था उत्पत्ति उसकी सत्वगुणकी अधिकता से है अर्थात् जब सत्वगुण अधिक हो जाता है तब चांचल्य प्रकट होता है। चांचल्य इसका नाम है कि जो विषय मनुष्य की बुद्धि से बाहर हो उसके विचार में प्रवृत्त होना। जैसा कि अग्नि मे उष्णता और जल में शीतलता क्यों और कैसे है ? अथवा उन विषयों के विचार में लगे रहना कि जिन के जान लेने से भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता जैसा कि बकरी के उदर में मेगनी कैसे बन जाती है। उपाय इस रोग का यह है कि सदा इस बात को विचारता रहे कि अनेक ऐसे पदार्थ हैं कि जो कभी किसी की समझ में नहीं आ सकते।

इस चांचल्य से विपर्य्ययज्ञान, दुराग्रह, और अभिमति, इन तीन उप-रोगों की उत्पत्ति होती है।

विपर्य्ययज्ञान—बुद्धि के चांचल्य से अत्यन्त विचार करते करते ज्ञेय वस्तु के यथार्थ भाव को छोड़ के कुछ अन्यथा ही निश्चय कर लेना। जैसा कि संसार की उत्पत्ति के विषय में लोगों ने अनेक भाति के अनुमान कर छोड़े हैं परन्तु यथार्थ को न पाके कोई किसी से आरम्भ मानता और कोई किसी को जगत् का कर्त्ता जानता है। कोई कर्म से उत्पत्ति कहता और कोई माया और अविद्या से मानता है। कोई पंचभूत से, कोई उनके स्वभाव से तथा कोई तीनों गुण से और कोई प्रकृति वा पुरुष से इसका आरम्भ कहता है। फिर कोई ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव शक्ति से संसार की उत्पत्ति जानता है और कोई आदम और हव्वा से इस का प्रारम्भ मानता है। तात्पर्य यह कि यह सब बुद्धि का चाञ्चल्य है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि यथार्थ अनुभव के उपयोगी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द आदिक प्रमाणो के विना किसी बात को सत्य न जाने।

प्रश्न—संसार की उत्पत्ति का यथार्थ भाव क्या और कैसे है?

उत्तर—उस का वर्णन उत्तर भाग में होगा जहा तुमको परा विद्या सुनाई जावेगी। इस समय तो आत्मा की चिकित्सा चल रही है अतः उस का सुनाना अयोग्य है।

दुराग्रह—बुद्धि के चांचल्य से जो विषय निश्चित किया हो वह चाहे यथार्थ हो चाहे अयथार्थ, परन्तु उसके विरुद्ध किसी बात को अंगीकार न करना। यदि कोई अधिक जानने वाला पुरुष उसके अनुभूत विषय में युक्ति पूर्वक मिथ्यात्व दिखावे तो भी उसको ही दुराग्रही और विवादी मान लेना। यह दुराग्रह दो प्रकार का होता है एक स्वतः दूसरा परतः।

स्वतः दुराग्रह—यह है कि जो अपने ही अज्ञान से हुआ हो। जैसाकि मूर्ख लोग जो कुछ मान वैठते हैं कभी त्याग नहीं सकते।

परतः दुराग्रह—यह है कि जो किसी वृद्ध ने वा आचार्य ने वा किसी मूर्ख रचित ग्रन्थ ने असत्य निश्चय करा छोड़ा हो। जैसा कि संसार मे अनेक ऐसे मत और पंथ है कि वालक भी उनकी भ्रष्टता ओर असत्यता समझ सकता है परन्तु तन्निष्ठ पुरुप को उन पर ऐसा दुराग्रह हो जाता है कि यदि कोई उनके गृहीत पक्ष में कुछ छिद्र दिखावे तो मरने मारने को उद्यत हो जाते है। उपाय इस दुराग्रह का यह है कि सर्वदा यथार्थ विचार को मुख्य रक्खे और युक्ति हीन वात किसी की न मान लिया करे।

अभिमति—अपनी वुद्धि, रूप, धन, मान के तुल्य अन्य को न समझना। इस अभिमति से ईर्षा और ज्वलन इन दो उपान्तर रोगो की उत्पत्ति होती है।

ईर्षा—पराये यश, मान, धन, विद्या, ऐश्वर्य को देख के वा सुन के सहार न सकना। वरन् जहां लो हो सके उनके विनाश मे यत्न करना। प्रतिकार इसका यह है कि सदा इस वात को सोचता रहे कि विरोध की उत्पत्ति के सिवाय इस ईर्षा से मुझे और क्या लाभ है? लाभ तो इस वात मे है कि मैं भी उस के समान वनने की चेष्टा करूं।

ज्वलन—जव किसी को अपने से अधिक सम्पन्न देखना तो सहार न सकना और अपने चित्त मे जलते रहना। अथवा, यदि कोई भूल के भी एक वचन से पुकारे वा नमस्कार करे तो अपनी अभिमति के प्रताप से चित्त मे दग्ध होने लगना। और अपने को सवका पूज्य समझ कर संसारी जीवों का किंचित् टेढ़ापन भी न सहार सकना तथा जैसे वने अपना महत्व जगत में प्रगट करना चाहना। प्रतिकार

इसका यह है कि इस ज्वलन को अत्यन्त दु ख और उत्पात का हेतु जान के त्याग देवे। अथवा यह सोचे कि जब मैं ज्वलन को तज के सब के साथ हित करने वाला हो जाऊँगा तो स्वाभाविक ही सब लोग मुझे पूज्य और श्लाघ्य समझने लग जायेंगे।

तीसरा जो आलस्य नामका रोग कहा था उत्पत्ति उसकी सत्वगुण की न्यूनता से है अर्थात् जहां सत्वगुण की न्यूनता हो वहां आलस्य निवास करता है। आलस्य का यह स्वरूप है कि विचारणीय और अवश्य जानने योग्य व्यवहारों के विचार से भी दूर रहना। जैसा कि वर्षा के आने से पूर्व अपने त्राण के निमित्त यत्न न करना। और कृषि-कर्म वा वाणिज्य आदि व्यवहार में उसकी रक्षा करने वाले विचार से उपराम रहना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि यदि मैं अपने मन और बुद्धि को समस्त कार्यों के पूर्व विचार में प्रवृत्त न करूं तो उनके होने का क्या फल है। मनुष्य को योग्य है कि विचारने योग्य पक्ष के विचार मे आलस्य न करे, क्योंकि बिना विचारे कार्य का अंत-फल कदाचित् समीचीन नहीं होता। और यदि कोई ज्ञातव्य वस्तु के विचार मे आलस्य करे तो पश्चात्ताप रहता है। इस आलस्य से विस्मृति और निरुद्यमता इन दो उप-रोगों की उत्पत्ति होती है।

विस्मृति—देखे-सुने वा पढ़े हुए पक्षो को शीघ्र ही भूल जाना। कारण इसका यह है कि अलस पुरुष देखे सुने व्यवहारों की पुनरावृत्ति न करने से ग्रहण किये हुए पक्षों को भूल जाता है। अथवा वस्तु ज्ञान के समय आलस्य के प्रताप से सम्पूर्ण वस्तुओं मे उदासीनता से मन देता है। प्रकट है कि जब तक सर्व अंश से ज्ञेय वस्तु मे बुद्धि की वृत्ति न दी जावे तब तक उसके अंग उपाग और नाम रूप तथा लक्षणादि अवयव बुद्धि पर आरूढ़ नहीं होते किंच शीघ्र ही विस्मृत हो जाते है। उपाय इस रोग का यह है कि वस्तु ज्ञान के समय मन को एकाग्र

करके ज्ञातव्य वस्तु के अंग उपांग को समीचीनता से ग्रहण करना और ग्रहण किये हुए पक्ष की पुनरावृत्ति में आलस्य न करना।

निरुद्यमता—अत्यन्त सुख की इच्छा में मन को ऐसा अवकाशी रखना कि अन्त को काम के नाम से ही शिथिल हो जावे। मनका स्वभाव है कि यदि यह कुछ दिन सुख पाता है तो उद्यम और प्रवृत्ति में नाना दोष आरोपण करके महा दीर्घ-सूत्री हो जाता है। फिर जो ऐसे कामचोर को स्वप्न में भी कुछ कार्य करना पड़े तो जागृत में थके हुए पथिक की नाईं कई दिन लों जँभाइयां लेता रहता है। इस निरुद्यमता से जो २ व्यवहार नष्ट होते है वे तो प्रत्यक्ष है ही परन्तु जलोदर, अर्द्धांग, स्थौल्य नैर्बल्य, अर्श, मन्दाग्नि, वातग्रन्थि, गुल्म, इत्यादि शारीरिक रोग भी अनेक उत्पन्न हो जाते हैं। निरुद्यमी पुरुष चाहे देखने को जीता भासता है परन्तु वस्तुतः वह मृतक से भी अधिक है।

प्रश्न—दीर्घ-सूत्री शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर—दीर्घ-सूत्री वह होता है कि जो आज के कार्य को कल पर छोड़े और घड़ी के काम मे प्रहर लगावे। जो पुरुष आज के काम को कल पर छोड़े उस के काम आयु पर्यन्त समाप्त नहीं होते। और उस का मन कार्यों की चिन्ता में प्रतिश्वास ऐसा निमग्न रहता है कि क्षण भर भी सुख से नहीं सोता और न कभी अपने को अवकाशी देखता है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि जिस उपयोगी कार्य के करने से मन किंचित् भी पीछे हटना चाहे तो वारम्वार हठ से उसे उसीमें जोड़े। अथवा किसी कार्य से भय करे तो उस से भी अधिक कठिन कार्य करावे। जैसा कि यदि मन शीतल जल मे हाथ धोने से भय करे तो वहाँ वस्त्रों समेत डुबकी लगा के पवन के सम्मुख खड़ा होवे। और यदि किसी पुरुष को आवश्यक कृत्य कोई न हो तो निरुद्यमता की निवृत्ति के अर्थ नित्यंप्रति प्रातःकाल और सन्ध्या के समय फिरने-घूमने

को आवश्यक समझे। यद्यपि मल्ल क्रिया, और मुद्गर भ्रमण आदिक व्यवहार भी निरुद्यमता की निवृत्ति में कारण हैं परन्तु ऐसे व्यवहारो को रजोगुण, तमोगुण के वर्द्धक होने से उत्तम पुरुषों ने ग्राह्य नहीं कहा है। हां, यौगिक आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास करना उत्तम है। अथवा श्रेष्ठ और शिक्षाप्रद पुस्तको का अध्ययन मनन करे या कोई शिल्प, कला आदि सीखे।

इति श्रीमत् पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृतप्रवाह पूर्व भागे आत्म चिकित्सायां सत्व गुण वर्णनं द्वितीयस्तरङ्गः ।

ॐ परम गुरवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रन्थस्य पूर्वभागः ॥

अथ तृतीय तरङ्गस्यारम्भः
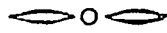
प्रश्न—अब आत्मा के रजस नाम द्वितीय गुण का व्यवहार कथन कीजिये कि जिस की समता से सन्तोष नाम धर्म उत्पन्न होता है और मलिनता, न्यूनता व अधिकता से रोगादि का प्रादुर्भाव होता है।

उत्तर—आत्मा में जो ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के नाम से दो शक्तियां हैं उनमें से ज्ञान शक्ति का स्वरूप तो प्रकाश है कि जिसका नाम सत्वगुण है जो पूर्व कह आये। और दूसरी जो क्रिया शक्ति है उसके दो स्वरूप हैं। एक अनुकूल पदार्थों की ओर झुकना कि जिस का नाम रजोगुण रक्खा गया। दूसरी प्रतिकूल पदार्थों से पीछे हटना कि जिस का नाम तमोगुण कहा गया। सो तमोगुण का व्यवहार तो चतुर्थ तरंग में कथन होगा पर रजोगुण का व्यवहार अब हम यहां कथन करते हैं। रजोगुण की स्वच्छता अर्थात् सम भाव से सन्तोष उत्पन्न होता है कि जिस का अर्थ तृप्त होना और यति बनना हैं। यह यति दो प्रकार का होता है। एक वह जो रोग, शोक, भय, व्यय, अशक्ति, आदिक के सम्बन्ध से हो, सो यह सच्चा यति नहीं। और दूसरा वह कि जो पूर्वोक्त सम्बन्ध के विना ही केवल विचार द्वारा भोगों का त्याग करे सो यह सच्चा यति होता है।

जहां सन्तोष रहता है वहां दश धर्मों की स्थिति रहती है वे यह हैं :—

१ लज्जा—लोकापवाद के भय से कुकर्म में प्रवृत्त न होना।

२ बुभूषा—सर्व प्रकार से अपनी अच्छाई स्थिर रखने की इच्छा रखना। तात्पर्य यह कि मैं संसार की दृष्टि में किसी रीति से भी निन्द्य और अपूर्ण न गिना जाऊं।

प्रश्न—ऐसा होना तो अत्यन्त असम्भव है कि पुरुष सर्व संसार दृष्टि में श्रेष्ट ही गिना जावे। क्योंकि सारे संसार की बुद्धि, आचार, मत, इच्छा, प्रवृत्ति, आनन्दादि जो भिन्न २ है इस कारण लोग अपने से विरुद्ध आचारी को देख के यद्यपि वह श्लाघ्य भी हो तथापि निन्द्य ही समझते है। हां, चाहे किसी-किसी अंश में तो बहुत लोग श्लाघ्य बन सकते है परन्तु सर्वथा श्लाघ्य होना मुझे दुर्घट प्रतीत होता है।

उत्तर—हा, सत्य है यह बात बहुत दुर्घट है कि पुरुप सब को अच्छा ही लगे वरन् दुष्ट लोग भूषण को भी दूषण रूप कहते रहते है। परंच हमारे कथन का यह तात्पर्य है कि बुभूषु पुरुष श्रेष्ट आचार और आर्य व्यवहार के उपार्जन में लगा रहे। निन्दक लोग शुभमाने वा अशुभ। एक बात और भी ज्ञातव्य है कि चाहे निन्दक और ईर्षालु लोग प्रत्यक्ष में तो अपनी दु शीलता के कारण किसी के भूषण को दूषण लगा के अपना मन ठंडा कर लें, परन्तु वस्तुतः श्लाघ्यों के गुण उन की बुद्धि पर भी प्रकाशित होते है। जैसा कि देखो, निन्दक पुरुप चाहे किसी प्रतापी और तेजस्वी और क्षमालु वा व्रतशील पुरुष को अहङ्कारी, निर्घृ ण, नपुंसक, और हठी भी कहता है परन्तु अंतर से उस के गुणों को जानता होता है। यदि न जानता तो निंदा किस वस्तु की करता।

३ शम—उन्मार्ग-प्रवृत्ति वा कामातुरता के समय मन के रोकने में समर्थ होना। परन्तु यह बात कठिन बहुत है; क्योकि उस समय में मन बुद्धि आदिक का काम के आधीन होने से कोई शिक्षा देने वाला और रोकने वाला नहीं रहता तो भी प्रयत्न न छोड़ना?

४ विवेचना—लोक एषणा के साथ मन का सदा संग्राम रहना अर्थात् यह विवेक होते रहना कि शुभ एषणा कौन सी और अशुभ एषणा कौन सी है। यह एषणा दो प्रकार की होती है, एक शुद्धा दूसरी अशुद्धा। शुद्धा वह होती है कि जो आवश्यक पदार्थों के इकट्ठा करने में क्रोध, छल, हिंसा, अधर्म, आदिक न करावे। अशुद्धा वह होती है कि जिस के द्वारा धन कमाने के समय पूर्वोक्त क्रोध, छलादि रचने पड़े। सो इन दोनों से संग्राम का नाम विवेचना है।

५ संतुष्टि—खान, पान, वस्त्र, आभरण, यान, स्थानादि प्राप्त पदार्थों पर न्यून अधिक की कल्पना को छोड़ के सदा संतुष्ट रहना।

६ गौरव—तुच्छ-तुच्छ कार्यों की सिद्धि के निमित्त अपने उचित जाति, कुल, मान, प्रतिष्ठा, को भंग करके शीघ्र ही किसी दूसरे के सन्मुख दीन और याचक न हो जाना।

७ आर्ज्जव—सर्वदा काल मन को जगत् के भले और उपकार मे ऋजु रखना। ऐसे पुरुष से स्वप्न मे भी मंद कर्म नहीं हो सकते क्योंकि मंद कर्मों का करना जगत् पर अपकार है।

८ प्रबन्ध—समस्त आचार व्यवहार को ऐसे क्रम से रखना कि कभी उलटे पुलटे और अशुभ तथा अयुक्त न हो। तात्पर्य यह है कि जो व्यवहार और जो वस्तु जहा और जिस प्रकार से शोभन हो उसे वहा और उसी भांति से रखना। क्योंकि स्थान भ्रष्ट और क्रम विरुद्ध कार्य एक तो कभी शोभन नहीं होते और दूसरा अयुक्त वा क्रम विरुद्ध आचार-व्यवहार को देख के पुरुष की अन्तरीय ऋजुता और कुटिलता प्रकट हो जाती है। जैसा कि देखो, जो पुरुष अन्तर से ऋजु और स्वच्छ होता है उसके वाह्य आचार व्यवहार भी सीधे और स्वच्छ होते है। और जो अन्तर से कुटिल हो उस के वाह्य आचार भी टेढ़े-मेढ़े और शिथिल होते है। वाह्य प्रवृत्ति को सदा अन्तर की अनुसारिणी

जानना चाहिये। जैसा कि देखो, यौवन काल में मन का टेढ़ा-तिरछा होने से वाह्य शृंगार अर्थात् वस्त्र, भूषण, कच, आदिक भी अति टेढ़े होते हैं। और वृद्धावस्था में मन का सरल और शिथिल होने के कारण वाह्य आचार भी ढीले और सरल हो जाते है। तात्पर्य यह कि कपटी और दंभी पुरुष के सिवाय अन्य सर्व संसार की वाह्य प्रवृत्ति अंतर की अनुसारिणो होती है। सो जहा प्रबन्ध होता है वहां सब कुछ शुभ और सम्मत होता है।

६ औदार्य्य—प्राप्त पदार्थों के व्यय और भोग में सकोच न करना। बहुत लोग हैं कि जो पदार्थ प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य भोगादि को न ग्रहण करके सदा उपार्जन और रक्षा में ही नियुक्त रहते है। वे यह नहीं जानते कि देह-पात के पीछे संचित पदार्थ सब पराये हो जायेंगे। और मुझे उपार्जन और रक्षारूप आयास के सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं होगा। वह औदार्य्य दो भांति का होता है। एक अश्रेष्ट दूसरा श्रेष्ट :—

अश्रेष्ट—पदार्थ को अनुचित विषयानंद की प्राप्ति में व्यय करना। जैसाकि डूम, भांड़, नट, वेश्या, स्वांगी, बहुरूपी वा प्रशंसक को देना। अथवा निंदक को निंदा के भय से देना इत्यादि। यद्यपि ऐसे स्थलों में व्यय करना मनोरंजन रूप होने से वृथा तो नहीं गिना जाता तथापि अत्यन्त रजोगुणका वर्द्धक होने से उत्तमों को ग्राह्य नहीं होता।

श्रेष्ट—जिससे आठ स्थान में द्रव्य का व्यय होवे।

१ दान—दानके अधिकारी तथा दीन पुरुषों पर द्रवीभूत हो के यथाशक्ति अन्न, वस्त्र, धन, आदिक से सहायता करना। यद्यपि दान में देश, काल, पात्र, आदिक का विचार भी कभी २ आवश्यक होता है परन्तु यथार्थ दाता ऐसे पक्ष में विचार और बिलम्ब को योग्य नहीं समझता। मन का स्वभाव है कि एक क्षण में अनेक संकल्प उदय कर

लेता है सो योग्य है कि जब दान की बुद्धि उदय हो तब तुरन्त दान करे। यह दान दो प्रकार का होता है। एक उत्तम, दूसरा अनुत्तम :—

उत्तम दान—दीन को देख के दयालुता से प्रदान करना।

अनुत्तम दान—मान वा आख्याति के निमित्त वा किसी दूसरे दाता को जीतने के लिये किया जावे। अथवा किसी पूर्व-परिचित पुरुष को वा उपकारी को दिया जावे।

दान केवल धन मात्र से ही नहीं होता वरन् विद्या दान, मान दान, निर्भयता दान, आदिक और भी अनेक दान करने श्रेष्ट हैं :—

विद्या दान—यदि कोई जगत्-हितैपी विद्या अपने को प्राप्त हो तो उसके प्रदान से संकोच न करना।

मान दान—आप निर्माण हो के भी दूसरों के मान को आवश्यक समझना।

निर्भयता दान—जो पुरुप तुमसे या किसी अन्य से अथवा परलोक दण्ड से डरा हुआ हो उसे येन केन प्रकार से निर्भय कर देना। यदि तुमसे किसी अपने कृत अपराध के कारण कोई भयभीत हो तो उसको अपराध-क्षमा से निर्भय करना। और यदि किसी अन्य से हो तो उचित सहायता से, और यदि परलोक से डरा हुआ हो तो सत् उपदेश आदिक से निर्भय करना योग्य है। अथवा डरा हुआ वही होता है कि जो अपराधी हो सो चाहिये कि बुद्धिमान सर्व जगत् को अपराध से रोकता रहे। यही पूर्ण निर्भयता का दान कहलाता है।

२ शुश्रूपा—अपने सम्बन्धी और समीपी और अधिकारियों के भरण पोपण मे द्रव्य का व्यय करना। सम्बन्धी जैसा कि माता, पिता स्त्री, पुत्र, भ्राता, भगिनी आदिक प्रसिद्ध है। और समीपी मित्र, पड़ोसी आदिक का नाम है। अधिकारी उनका नाम है कि जो पूज्य वर्ग में से हों, जैसे सद्गुरु, साधु, अभ्यागत, आचार्य्य आदिक प्रसिद्ध हैं।

३ सुकृति—पदार्थों को परोपकारार्थ व्यय करना। जैसा कि विद्या वृद्धि के लिये पाठशाला वा ज्ञान वृद्धि के लिये उपदेशकों को स्थापित व नियुक्त करना तथा सदाचार के प्रचार में उत्साह करना। अथवा लोकहितार्थ कूप, तड़ाग, बापी, पथिगृह, बाटिका आदिक का बनाना। अथवा जगत् की सहायता के निमित्त सदाव्रत वा औषधालयों की स्थापना करना। और भी अन्य शुभ उत्साह में उद्यम करना।

४ उत्सव—स्थान बनाने और विवाहादि मंगल कार्यों में जो गृहस्थ को आवश्यक हैं द्रव्य व्यय करने में अत्यन्त संकोच न करना।

५ आतिथ्य—अपने गृह में आये हुए पुरुष को कादाचित्क समझ के उसके अधिकार पूर्वक आतिथ्य सत्कार मे द्रव्य व्यय करना।

६ प्रत्युपकार—यदि किसी ने अपने साथ कुछ उपकार किया हुआ हो तो उसकी कृतज्ञता में जीवन पर्यन्त अपने धन पदार्थ द्वारा पलटा देने को उद्यत रहना। प्रत्युपकारी पुरुष जब लों पलटा न दे ले तब लों ऋणी की नाईं अपने उपकारी के सन्मुख लज्जित रहता है।

७ आह्लाद—किसी के अनमोल गुण विद्या वा आश्चर्य-कर्म और यथार्थ सेवादि को देख के यदि मन को आह्लाद होवे तो उस समय कुछ दान देना। जो पुरुष रीझ के समय कुछ दान न करे उसका रीझना उपहास्य के योग्य है।

८ त्याग—जिन पदार्थों की प्राप्ति में अधिक क्लेश और विवाद और अनवकाश और लोकापवाद हो उनके त्याग देने मे शक्त होना। बहुत लोग हैं जो गृहीत पदार्थों में ऐसे अनुरागी हो जाते है कि, चाहे उनसे मृत्यु पर्यन्त सुख नहीं देखते तो भी त्याग नहीं सकते। सो औदार्य उसीका नाम है कि जो इन उपरोक्त अष्ट स्थानों में वर्त्तमान होवे।

१० स्नान—संतोष के दश धर्मों में दशवां धर्म स्नान है। स्नान शुद्ध और पवित्र होने का नाम है। यह स्नान दो प्रकार का होता है, एक वाह्यस्नान, दूसरा अंतरस्नान। सो वाह्यस्नान तो चाहे कैसा ही सांगोपांग और पूर्ण रीति से किया हो उसको अंतर स्नान की अपेक्षा रहती है परन्तु यदि अंतर स्नान सांगोपांग कर लिया हो तो वाह्य स्नान की कुछ अत्यन्त आवश्यकता नहीं रहती।

वाह्य स्नान—इसका नाम है कि अपने देह गेह को जल और मृत्तिका आदि से धौत और शुद्ध रखना। क्योंकि यदि देह गेह मलिन रहते हैं तो अनेक प्रकार की शारीरिक व्याधियां उत्पन्न हो जाती है। तथा देह गेह की निर्मलता किसी किसी अंश मे वुद्धि की निर्मलता में भी कारण है।

अंतर स्नान—यह होता है कि जितने शरीर हैं सव काया, वाणी और मन, इन तीन अंगों से समन्वित है सो इन तीनों अंगों के निर्मल और निर्दोष करने का नाम अन्तर स्नान है।

प्रश्न—काया का मल और वाणी तथा मन का मल क्या होता है?

उत्तर—काया में तीन दोष मल रूप है अर्थात् चोरी, व्यभिचार, हिंसा।

वाणी मे तीन दोष ये है—निंदा, गालि, मिथ्यालाप।

मन में चार दोष हैं, क्रोध, ईर्षा, मान, छल।

जव लौं पुरुष इन दश दोष से रहित न हो तव लो वाह्यस्नानादि कर्म उस के सव विडंवन रूप है। आश्चर्य है कि लोग उन तुच्छ वातों के विचार और निर्द्धार मे तो तन मन से लगे रहते है कि जिनकी यथार्थ प्राप्ति के अनन्तर भी मोक्षाश मे कुछ विशेष लाभ नहीं। और उन आवश्यक कृत्यों को कभी भी नहीं सोचते कि जिनका अधिक

करके मुक्ति में उपयोग है। देखो, जगत् में इन तुच्छ बातों का कितना विचार है जैसा कि दन्त धावन सात अंगुल से न्यून अधिक ग्रहण करने योग्य नहीं। कांस पात्र में खाना वर्जित है। स्नान पूर्व की ओर मुख करके करना योग्य है। पात्र में पात्र रख के खाना अयोग्य है। कीकरी की छाया अशुद्ध और मसूर का अन्न अभक्ष्य है। इत्यादि गौण वाक्यों के स्थापकों ने यह न सोचा कि यदि हम मोक्ष के मुख्य साधन दया, धर्म, धैर्य सन्तोष आदिक के ग्रहण करने में और चोरी, निन्दा, क्रोध, छल आदिक के त्याग में अधिक प्रेरणा करे तो कितना लाभ हो। ऐसे लोग जगत् में बहुत निकलेंगे कि जो दिशा (शौच) जा के हाथ पॉव में गिन २ के माटी न लगाने और गिन २ कर चुल्लू न गिराने को और छींक पर चल पड़ने को पाप बतलाते है परन्तु वैसे बहुत थोड़े और दुर्लभ हैं कि जो दश-दोप वाले पुरुष को पापी जान के उसकी छाया से बचें अथवा इनकी निवृत्ति का यत्न करें। बहुत से पंथ और मत भी ऐसे ही हैं जो साधु बनने के मुख्य प्रयोजन अन्तः करण की शुद्धि को तो स्वप्न में भी नहीं सीखते परन्तु बाह्य चिन्हों के सुधारने और सीखने में सारा आयु समाप्त कर लेते हैं। जैसा कि वे लोग कहते हैं कि हम सन्यासियों को श्वेत वस्त्र धारण का दोष है, और हम अमुक मठ के संन्यासी हैं, और अमुक हमारी मढी वा अमुक धूनी तथा अमुक गोत्र और अमुक हमारा द्वारा है। हम को जटा ऐसी और कमण्डलु ऐसा तथा माला ऐसी रखने की आज्ञा है और इनसे विरुद्ध बर्तने में पाप है। इसी प्रकार योगी, बिरागी आदिक सब भेषी लोग जटा, विभूति, माला, टीका, वस्त्र, धूनी आदिक की रीति और दंतौन, झोली आदिक के मन्त्र सीखने में उलझे रहते हैं। शोक की बात है कि वे यह नहीं जानते कि हमारे आचार्यों ने तो हमको अपने स्वार्थ और अपनी मण्डली बढ़ाने के निमित्त और ही झगड़ों मे डाल दिया फिर गृहस्थ त्याग से हमको क्या लाभ हुआ ?

सच तो यह है कि जव लों पूर्वोक्त दश दोप की निवृत्ति और आत्मा की चिकित्सा नहीं होती तव लों कोई पुरुप वाह्य चिन्हों से मोक्ष का अधिकारी और श्लाघ्य नहीं हो सकता। जिसको दश दोष की निवृत्ति से मन की शुद्धि प्राप्त हुई उसको सर्वत्र तीर्थ है। शुद्ध-मन पुरुप यदि वेश्या के घर में भी मृत्यु पावे तो भी मुक्त है और अशुद्ध-मन को कहीं भी मोक्ष * नहीं।

प्रश्न—यदि मोक्ष के मिलने में केवल मन की शुद्धि ही कारण है तो अन्य उपाय और साधन अर्थात् भिन्न २ मत और चिन्ह और वेप तथा नाना विधि के प्रकार क्यों स्थापित किये है और उनको सुन के मुमुक्षु पुरुप को कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिये ?

उत्तर—यह कई भांति के मत कुछ आकाश से नहीं उतरे किन्तु मनुष्यों ने हो रचे हैं। और जाना जाता है कि वे मनुष्य सव भिन्न २ इच्छा, वुद्धि और स्वभाव रखते थे। यदि उन सव का आशय एक होता तो उनके उपदेश में भेद न होता। वे तो सव एक दूसरे के विरोधी हो के केवल अपने ही मत को सत्य ठहराते है। कारण इसका यह है कि जिस किसी पुरुप के पीछे दश मनुष्य किसी हेतु से चलने लग जाते है वह धीरे २ आचार्य थप के अपनी मण्डली को नवीन मत और आचार वा चिह्न आदिक के उपदेश करने लग जाता है। जैसा देखो व्यास ने जो वेदान्त मे अभेद मत को चलाया तो गौत्तम ने न्याय में उससे विरुद्ध भेद मत को सुनाया। फिर सांख्य और मीमांसा के कर्त्ता कुछ और ही सुनाते है तो पातञ्जल और वैशेपिक के वक्ता उनसे भी भिन्न ही जाते है। कोई मत किसी दूसरे का समीपी नहीं। देखो, मनु ने लोगों के शिखा सूत्र रखाये, शङ्कराचार्य्य

*यहां मोक्ष शब्द का भाव 'मृत्यु के अनन्तर मुक्ति' ऐसा मानने वालों के दृष्टिकोण से है।

ने वे दोनों दूर कर के अपने ही चिन्ह दृढ़ाये। रामानुज कुछ और ही कहते है, जैन और बौद्ध लोग इन सब से अलग रहते है। फिर यवनों का कुछ और ही भेद है तात्पर्य यह कि सब का भिन्न २ वेद है। इन सब आचार्यों ने जिसको पाया अपने ही पीछे चलाया। हे प्रिय ! वाह्य चिन्ह जो मनुष्यों के रचे हुए है इसी कारण एक के चिन्ह दूसरे के साथ नहीं मिलते।

देखो, कई लोग अविचार के प्रताप से ऐसी भ्रष्ट मंडलियों मे प्रविष्ट हो रहे है कि जिनमे मदिरा, मास, मिथ्या, मैथुन, मुद्रा ये पंच मकार मनकी शुद्धि में कारण और एकान्त स्थल मे नग्न स्त्री का शक्ति रूप जान के पूजन करना अंगीकार है। अहो उनका महत्व कि वे यह नहीं विचारते कि अन्तःकरण तो स्वभावतः ही नाना विषयो और विकारो से भरा हुआ है फिर जव एकान्त मे नग्न स्त्री और मद्य मास आदि की प्राप्ति हो तो मन की शुद्धि का क्या ठिकाना है ?

मनुष्य को चाहिये कि किसी मंडली मे मिलने से पूर्व उस मण्डली के संस्थापक आचार्य की परीक्षा करे। जैसा कि यदि आचार्य आत्म-चिकित्सा से विभूषित और ज्ञान सम्पन्न हो तो उसकी शरण लेके वाह्य चिन्ह के ग्रहण करने का भी दोष नहीं। क्योकि ज्ञानवान् के वताए हुए वाह्य चिन्ह भी मोक्ष के उपयोगी होते है। यद्यपि वाह्य चिन्ह और मर्य्यादा समस्त आचार्यों की भिन्न भिन्न है और एक का मत दूसरे मत के पुरुष को अंगीकार नहीं तथापि जो सच्चा मत है उसमें किसी को वैर नहीं। वरन् मोक्ष साधनो में सबको सम्मत है। वह यह है कि :—

"जो व्यवहार अन्य का किया हुआ अपने को न भावे वह औरो से बरतना पाप और जो अपने को भावे वही औरो से बरतना पुण्य है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख है।"

सो वस योग्य है कि मुमुक्षु इस मत को अवश्य ग्रहण करे।

प्रश्न—मन की शुद्धि के लिये धर्मशास्त्रों में जो नाना क्रियायें और मंत्रादि लिखे हैं उनके विना आप आत्म-चिकित्सा द्वारा मन की शुद्धि क्यों वतलाते हो ?

उत्तर—जैसे उदर-शूल की निवृत्ति के लिये चाहे अनेक औषध लिखे है परन्तु रेचन विधि को शूल का मूल निवारक होने से सव पर प्रधानता है, वैसे ही आत्म-चिकित्सा को अशुद्धि का मूल निवारक होने से शुद्धि में प्रधानता है। जो सच पूछो तो धर्मशास्त्र सवके हृदय में लिखा हुआ है कि जिसके द्वारा पुरुप योग्य अयोग्य व्यवहारों को अपने आप जान सकता है। जैसा कि सव कोई यह जानता है कि यदि मैं पाप कर्म करूं तो परम अधर्मी और शुभ कर्म करूं तो परम धर्मी हो जाऊंगा। और मव कोई अपने हृदय से यह भी जान सकता है कि यह कर्म पाप रूप और यह कर्म धर्म (पुण्य) रूप है। उत्तर भाग में यह वात विस्तार सहित लिखी है।

प्रश्न—यद्यपि यह जीव धर्म-अधर्म को तो अपने हृदय से ही जान लेता है तथापि धर्म में प्रवृत्त और और अधर्म से निवृत्त नहीं हो सकता. इस मे कौन कारण है ?

उत्तर—प्रवृत्ति के न होने में कारण यह है कि जिस व्यवहार में प्रवृत्त होना हो उसके फल का यथार्थ ज्ञान न होना। और निवृत्ति के न होने में भी यही कारण है कि त्याज्य वस्तु के दोप को यथार्थ न जानना। जैसा कि यद्यपि सर्व संसार साधारण रूप से इस वात को जानता है कि विद्या के अध्ययन में वहुत लाभ है परन्तु अध्ययन में प्रवृत्ति उसी को होती है कि जिसको लाभ का विशेप और यथार्थ ज्ञान होवे। और चोरी के दोप को साधारण रूप से चाहे सारा जगत् जानता है परन्तु निवृत्त वही होता है कि जिसको राज्य की ताड़ना

और लोक-निंदा का यथार्थ ज्ञान होवे। बहुत से चोर समझते हैं कि यद्यपि यह कर्म मन्द तो है परन्तु न जाने हम को कोई देखेगा या नहीं। इत्यादि कारण प्रवृत्ति निवृत्ति में अनेक होते हैं।

प्रश्न—जैसे पीछे सत्वगुण की मलिन दशा और अधिकता न्यूनता से रोग और उनके प्रतिकार सुनाये थे यदि योग्य हो तो अब इस रजोगुण के भी सुनाइये।

उत्तर—इस रजोगुण के संग भी तीन रोग शत्रुता रखते हैं। एक मनोराज्य, दूसरा काम और तीसरा कार्पण्य, कि जिस को कृपणता कहते हैं।

मनोराज्य—कि जिस की उत्पत्ति मलिन रजोगुण से है, इसका नाम है कि आठों पहर मन में वृथा संकल्पों का उठते रहना। जैसा कि यदि हमारे पास धन हो तो यहा सुन्दर उपवन लगा के बीच में विहार स्थान बनवाऊँ जिस में चारों ओर सुन्दर कूल बहती हों और हंस, कारंड, तीतर मोर की कल-ध्वनि निकलती हो इत्यादि। उपाय इस रोग का यह है कि मनोराज्य को फल-शून्य और अन्त को शोक और उदासी का भरा हुआ समझ के निःसंकल्प रहे। इस मनोराज्य से कुवासना नाम उपरोग की उत्पत्ति होती है। कुवासना इसको कहते हैं कि अपने उद्यम और पुरुषार्थ से तो धन आदिक इकट्ठे करने का यत्न न करना परन्तु अन्य धनवानों और सुखियों को देख बैठे बैठे ही ईर्षा रूप अग्नि में दग्ध होते रहना। जैसा कि पैदल पुरुष अश्वारूढ़ को देख के, अश्वारूढ़ हस्तीवाह को देख के और वह हस्तीवाह शिविकारूढ़ को देख के आकांक्षा करता है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि, ऐसा पुरुष अपने से न्यून सुखी को देखा करे। जैसा कि हस्तीवाह शिविकारूढ़ से दृष्टि उठा कर यंह सोचे कि मैं अश्वारूढ़ से अच्छा हूँ और अश्वारूढ़ को चाहिये कि वह पैदल से अपने

को सुखी माने। और पैदल भार-वाहक को देख के तथा भार-वाहक लँगड़े को देख कर अपने सुख को अधिक जाने।

अब जो दूसरा काम नाम रोग कहा था, उत्पत्ति उसकी रजोगुण की अधिकता से और अर्थ उसका यह है कि भोगो से कभी भी तृप्त न होना। सो यह काम दो प्रकार का होता है एक अत्रक, दूसरा परत्रक।

अत्रक काम—यह है कि यहां संसार में इन्द्रियों के भोग और खान पान तथा भूषण वस्त्र आदिक से कभी तृप्त न होना। उपाय इस रोग का यह है कि इस बात को सोचे कि अत्रक काम से मुझे दरिद्रता और नाना व्याधि और दुर्भाग्यता, लोक अपवाद, तथा चिंता ही प्राप्त होगी। इस अत्रक काम से एक आसक्ति नाम अवान्तर रोग भी उत्पन्न होता है कि जिस का अर्थ भोगो के प्रेम में अत्यन्त सम्बद्ध हो जाना है। यह आसक्ति दो प्रकार की है।

एक यह कि बहुत लोग धन आदिको मे ऐसे संबद्ध हैं कि एक कपर्दिका भी क्षीण नहीं कर सकते। उपाय इस का यह है कि प्राणी सोचे कि मरने के पीछे सब कुछ धरा ही रह जावेगा। इत्यादि।

दूसरी यह कि बहुत लोग किसी स्त्री अथवा बालक की सुन्दरता में मन को सम्बद्ध करके अनेक उपताप सहारते है। यह एक ऐसा दुर्व्यसन है कि प्रथम तो कुछ काल पुरुप को अपने प्रिय के दर्शन आदि से कुछ सुख होता है और फिर सिवाय दुःख के और कुछ लाभ नहीं होता। क्योंकि उसे क्षण २ यही भ्रम रहता है कि यह मेरा मित्र किसी अन्य के मोह मे खिचा न रहता हो। अथवा मेरे प्रेम से हटा के कोई अन्य पुरुप इस को अपनी झोली मे न डाल ले। कभी कभी उसके तन मन और बोल चाल में ऐसी वृथा भ्रातिया उठने लग जाती है कि वैसी किसी दूसरे को स्वप्न मे भी नहीं उठतीं। कभी कभी

सम्बद्ध पुरुष अपने मित्र से संतप्त होके यह नियम भी कर लेता है कि अब मैं मृत्यु पर्यंत इसका दर्शन नहीं करूंगा परन्तु फिर शीघ्र ही अपने नियम को तोड़ के मित्र के सन्मुख दीन होने लगता है। यदि सम्बद्ध पुरुष के औगुन लिखने लगे तो और कुछ लिखने को स्थान ही न रहे। परन्तु उन में से सात औगुन कि जो अत्यन्त भारी है प्रकट किये जाते है :—

१ सम्बद्ध पुरुष को प्रिय के चिंतन से भिन्न अन्य किसी कार्य का अवकाश नहीं रहता।

२ वह सर्वदा काल चिन्ता, भय और शोक में पीड़ित रहता है।

३ उसका आयु आम घट के जल की नाईं देखते देखते ही वृथा नष्ट हो जाता है। अपने प्रिय के योग वियोग में उसे यह सुध नहीं रहती कि दिन कब उदय हुआ और रात्रि कब हो गई और मैंने आज क्या क़ाम किया।

४ वह सारे संसार को इस हेतु से अपना शत्रु समझने लग जाता है कि सब कोई मेरे प्रिय को ताकता है।

५ वह व्यर्थ भ्रांतिया उठाके श्वास-श्वास चिन्ताग्नि में दग्ध होता और उन की निवृत्ति का कुछ उपाय नहीं कर सकता।

६ सम्बद्ध पुरुप अपने प्रिय से भिन्न किसी तृतीय पुरुप की समीपता नहीं चाहता और सब को विषवत् जानता है।

७ सम्बद्ध पुरुष अष्ट प्रहर क्षीव और उन्मत्तों की नाईं चुपचाप और उदासीन और विमन रहता है। जब कोई बोलावे तो मानो कूप से निकल के उत्तर देता है। योग्य है कि प्राणी इस दुःख से सदा बचता रहे।

यद्यपि इस रोग की चिकित्सा है तो बहुत कठिन, परन्तु इस रोगी को अपने मित्र तथा उसके मिलाप जन्य सुख में सदा

दोष ढूँढते रहना चाहिये। अथवा हठ कर के तुरन्त इस व्यक्ति को उस देश में ले जावे कि जहां प्रिय का दर्शन और सन्देश न पहुंचे। यद्यपि अदर्शन से कुछ काल तो उस के मन में वहुत-सा उपताप रहेगा परन्तु अन्त को अवश्य धैर्य और शांति हो जावेगी।

दूसरा जो परत्रक काम पीछे कहा था वह यह है कि श्रवण किये हुए परलोक की झूठी कामना और पवित्रता के निमित्त सर्वदा काल अपने को व्रती और हठी तथा संग-रहित व एकाकी रखना और सर्व प्रकार के आवश्यक आनन्द से अत्यन्त उपराम रहना।

प्रश्न—विरागी और तपस्वी लोग तो भोगों के अत्यन्त त्याग को मोक्ष का कारण कहते हैं और आपने आवश्यक भोगों का न त्यागना कथन किया इसमें मुझे वड़ा सन्देह हो गया है कि मनुष्य को किस वात पर विश्वास करना चाहिये।

उत्तर—भोगों की अत्यन्त कामना तो हम भी श्रेष्ट नहीं कहते कि, जिस का नाम आसक्ति है परन्तु आवश्यक आनन्द का त्याग हम अच्छा नहीं समझते। जैसा कि विवाहादि के अत्यन्त त्याग में हम अनेक दोष देखते है। प्रथम तो यह वात अत्यन्त असम्भव हैं कि कोई मनुष्य मूत्र पुरीष के विसर्ग की नाईं वीर्य के विसर्ग को आवश्यक न समझे। द्वितीय, यदि कोई काल हठ से रोके भी तो येन-केन प्रकार से यह तन मन को मथन करकें अपने आपही वाहर हो जाता है। अथवा जव लों देह में स्थित रहे तव लो दुःसंकल्प और कुभावना, दुश्चिन्तन और असद्‌वृत्ति आदिक नाना विकारों और रोगों को उदय करता रहता है। हम यह अनुमान करते है कि कोई भी खानी-पानी जीव वीर्य के रोकने में समर्थ नहीं। जो लोग आयु पर्यंत यतित्व के अभिमानी हो रहते है यदि वे नेत्र मद के हमारे इस लेख को सच्चे मन से विचारेंगे अथवा अपने मानसिक कुकर्मों को गिनेंगे तो अवश्य

लज्जित हो जायेंगे। सो फिर यदि देह में ऐसे कई एक भोग अत्यन्त आवश्यक है तो उनके अत्यन्त त्याग में कौन सा अधिक पुण्य है? उपाय इस रोग का यह है कि यदि परत्रक सुख की कामना होवे तो परा विद्या का उपदेश सुने और भोगों की अधिक प्रवृत्ति का त्याग करे। और जिस पदार्थ के बिना शरीर यात्रा दुर्घट हो संयम पूर्वक उस के ग्रहण कर लेने मे दोष न समझे। जैसा कि शीत, उष्ण के दलन को उचित वस्त्र तथा क्षुधा, पिपासा के समय अन्न, जल को ग्रहण कर लेना आवश्यक है। बहुत ऐसे पुरुष है कि जिन्होंने हठ के प्रताप से शरीर को सुखाया और खान, पान आच्छादन के संयम से मनुष्य देह को धूलि में मिलाया और तुच्छ-तुच्छ बातों से मन को रोकते-रोकते किसी काम का न रहने दिया। हां, यह तो योग्य है कि बहुत से सरस और स्निग्ध वस्तुओं के खाने-पीने से जो मन पुष्ट होके अत्यन्त विषयावलम्बी ओर उन्मार्ग गामी बनने लगता है इस हेतु से खान-पान में भी कुछ संयम करना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं कि उस में अत्यन्त संकोच हो जावे। मन का स्वभाव है कि जब इसको बहुत से भोग और आनन्द मिलते है तो फिर उन से हटके अन्य व्यवहार का अवकाश नहीं पाता। बहुत लोग है जो प्रथम तो इस निमम से भोग में प्रवृत्त होते हैं कि किंचित् रस देख के शीघ्र ही पीछे हट जावेंगे परन्तु फिर उनका मन उधर ऐसा आसक्त हो जाता है कि पीछे की कुछ भी सुध नहीं रहती। देखा गया है कि भोग और कुसंग में तो शीघ्र फल प्राप्त हो जाने के कारण मन की वृत्ति शीघ्र ही उलझ जाती है और संयम सन्तोषादि वा सत्संग की ओर शनैः शनैः ही आती है। इसी कारण उत्तमों ने कुसंग का अत्यन्त त्याग करना लिखा है। प्रकट है कि जितना शीघ्र प्राणी को कुसग का कुफल होता है उतना सत्संग का सुफल नहीं होता। कुसंग से मन्द संकल्प मन में भर जाते हैं और फिर मन संकल्पों में भर के देह को प्रविष्ट कर देता है फिर

प्रविष्ट देह का पीछे हटना अत्यन्त दुर्घट और कठिन हो जाता हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि इस दोनों भाति के काम को मन में न आने देवे क्योंकि काम के प्रताप से कभी-कभी प्राणी के मन में कुवृत्ति और उत्कर्प नाम दो उपरोगों की उत्पत्ति हो जाती है अर्थात् अत्रक काम से कुवृत्ति और परत्रक से उत्कर्प उत्पन्न होता है।

कुवृत्ति—लज्जा हीन कर्मों से धनादि का संचय करना जैसा कि, भिक्षा आदिक व्यवहार प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वहुत से विरक्त जनों ने सुगम रूप होने से भिक्षावृत्ति को श्रेष्ठ भी लिखा है तथापि इस में कई एक दोप प्रतीत होते हैं। प्रथम दोष यह कि, सम्पूर्ण अंग उपांग से सम्पन्न होते जो कोई भीख मांगे वह संसार की दृष्टि में तुच्छ और पतित गिना जाता है। द्वितीय, भिक्षु पुरुष के मिलाप से सव का मन डरता रहता है कि वह कुछ मांग न वैठे। तृतीय, जिस को भिक्षा का रस पड़ जावे उस से मृत्यु, पर्यन्त कोई अन्य आजीविका नहीं हो सकती किंच अपने हस्त-पाद आदिक को मृतक की नाईं व्यर्थ वना के सदा अन्य पुरुषों के हाथों की ओर देख-देख जँभाइयां लेता रहता है। चतुर्थ, भिक्षाहारी पुरुप की सन्तान भी भिक्षावृत्ति को ही अच्छा जानने लग जाती है। तात्पर्य यह है कि उस अकिंचन साधु के सिवाय कि जो केवल देह-स्थिति को ही चाहता और उसके लिये केवल अन्न वस्त्र मात्र की ही कामना रख के अन्य उद्यम नहीं करता, भीख मांगने का सव को दोष है। परन्तु उस अकिंचन को भी उचित है कि अन्न वस्त्र उसी का ले जिस को कुछ भली शिक्षा करे।

इसी भाति जो लोग उपहास, ठट्ठा, स्वांग, भांड़पन, आदिक के आश्रय अपनी आजीविका चलाते हैं वे सर्वदा निन्द्य और नीच गिने जाते हैं क्यांकि उत्तमों ने नौ प्रकार से पेट पालन को वहुत निंद्य और कुवृत्ति रूप माना हैं।

१ भीख मागने से, २ नट विद्या से, ३ नृत्यकारी से, ४ भाड़पन से, ५ कुटनीपन से (जो पर स्त्रियो को पर पुरुषों के साथ मिलाती हैं), ६ वेश्यापन से, ७ छल से (यह छल कई प्रकार का होता है परन्तु सर्व प्रकार का निन्द्य ही है), ८ द्यूत विद्या से (अर्थात् जुआ खेलने-खिलाने से), ९ चोरी से।

चोरी दो भाँति की होती है एक तन से दूसरी मन से। तन से चोरी यह है कि पर पदार्थों को गुप्त में हर लेना। मन से चोरी यह है कि मिथ्यालाप द्वारा धनी के मन को भय वा लालच दे के उसीके हाथों उसका पदार्थ समक्ष ही हर लेना।

प्रश्न—जहाँ कोई देखता हो वहॉ तो राजभय और प्रजाभय वा निंदादि के भय से चोरी आदिक न करे परन्तु जहॉ यह निश्चय हो कि यहॉ देखता सुनता कोई नहीं वहॉ चोरी आदिक से धन हर लेने में क्या दोष है ?

उत्तर—धन का हरना किसी कार्य के निमित्त होता है। सो ज्ञान वान पुरुप के तो ऐसा कोई कार्य ही नहीं रहता कि जिसके पूरा करने को चोरो वा झूठ, छल-कपट अथवा हिंसा करनी पड़े क्योंकि वह ऐसे ही काम करता है जो निरुपद्रव पूरे हो सके। तथा ज्ञानवान् पुरुष को यह भी निश्चय है कि गुप्त स्थान मे चोरी करना अथवा मिथ्यालाप और छल द्वारा समक्ष ही किसी के पदार्थ को हर लेना उस पुरुष को तो दुःखी करो वा न करो परन्तु अनेक प्रकार के दु.ख और अनर्थ को वह इस छल-कर्ता के सिर पर खड़े कर देता है जैसा कि सुनो :—

चोरी वा छलादि से प्राप्त किया हुआ द्रव्य, प्रथम सदा काल मन में भय और कम्प को रखता है कि मेरा अपकर्म कभी प्रकट न हो जावे और दूसरे उस भॉति के निर्यत्न-द्रव्य-लाभ से अनेक खोटे संकल्प और भोग मन में भर जाते हैं कि जिन से सारा आयु दुःख सहित

व्यतीत होता है। और तीसरे जब एक वार चोरी वा छल द्वारा मुख मीठा हो गया तो सदा उसी काम को अच्छा समझेगा और फिर कभी पकड़ा भी अवश्य जावेगा इत्यादि।

अब दूसरा जो उत्कर्ष नाम उपरोग कहा था अर्थ उसका यह है कि चाहे यथार्थ शुचि प्राप्त भी हो जावे परन्तु उसको बढ़ाने के लिये देह को मल मल के दुःखी होते रहना। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि अत्यन्त अधिकता किसी कार्य की भी उचित नहीं। जहाँ लों हो सके सर्व व्यवहारों को समभाव पर रखना चाहिये। इस उत्कर्ष नाम उप-रोग से संशय, भ्रम, सङ्कोच इन तीन उपान्तर रोगों की उत्पत्ति होती है।

संशय—प्राप्त हुई शुचि में यह सन्देह हो जाना कि न जाने मुझे यथार्थ शुचि प्राप्त हुई है वा नहीं। फिर इस सन्देह से शुचि के यथार्थ साधनों को छोड़ के पुरुष अन्य साधनो मे मन को लगाता है। जैसा कि प्रथम तो भोग और काम के संयम और निवृत्ति से शुचि समझता है फिर इसमें संशय उठा के भोग और काम की प्रवृत्ति को शुचि का हेतु समझ लेता और पतित हो जाता है। अथवा किसी महात्मा ने मन की शुद्धि के निमित्त यथार्थ स्नानका उपदेश किया तो उसमें यह सन्देह हो जाना कि क्या जाने इस स्नान से मैं शुद्ध होऊंगा वा नहीं। अथवा यह जो मुझको उपदेश करता है आप भी पवित्र और महात्मा है वा नहीं। सो योग्य है कि इस गुरु को और इसके उपदेश को छोड़ के किसी अन्य की शरण पकड़ू। फिर वह अन्य पुरुष चाहे इसको किसी कुएं में डाल देवे। फिर कुछ दिन वहाँ रहके आगे ढूंढ़ता है। ऐसा पुरुष कभी भी अपने को पवित्र मान के सुखी नहीं होता किन्तु सर्वदा शोकित ही रहता है। उपाय इस रोग का यह है कि आत्म-चिकित्सा युक्त गुरु द्वारा यदि एक वार शुचि के साधन प्राप्त हो जायें तो फिर

कदाचित् उनमें संशय न उठावे क्योंकि उसके बताये हुए साधन कभी भी तर्क के योग्य नहीं होते। संशय युक्त मन को कभी सुख नहीं होता क्योंकि सुख का साधन मन की स्थिरता है सो संशयात्मा को जो नाना संकल्प विकल्पो से युक्त होने के कारण कभी स्थिरता नहीं होती इसी कारण सदा दुःखी रहता है। सो जहाँ लों हो सके प्राणी संशय की निवृत्ति में बहुत शीघ्र यत्न करे। यदि संशय को कुछ काल स्थिति मिले तो उस के आश्रय अनेक संशय और उत्पन्न हो जाते है और फिर उन की निवृत्ति अत्यन्त दुर्घट हो जाती है और अंत को संशय युक्त पुरुष का विनाश हो जाता है।

भ्रम—चाहे स्वयं कैसा ही शुद्ध और पवित्र है परन्तु बात २ में यह भ्रम खडा हो जाना कि मेरा शुचि धर्म टूट तो नहीं गया। फिर इस भ्रम के प्रताप से उलट-पुलट के साधन करने लग जाता है और तुच्छ २ बात मे अपने को अपवित्र मान लेता है। जैसा कि बहुत लोग भोग की स्मृति और अशुद्ध स्थान के दर्शन से भी मन को नाना ताड़ना देते और नेत्रो को निकालते वा मूंद लेते हैं तो भी अशुचि का भ्रम नहीं जाता। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी शुचि पद के अर्थ को भली भाति जान ले कि यथार्थ शुचि किस को कहते हैं। बहुत लोग हैं जो इस भ्रम के प्रताप से सौ २ बार नहाते और सहस्रो बार हाथ पाव को माटी लगाते तो भी श्वास २ मे अशुद्ध बन जाते है और इसी से अन्त को विक्षिप्त हो जाते है।

सकोच—अपनी शुचि को अधिक करने के लिये अन्य मनुष्य के स्पर्श और छाया से बचने लग जाना। इस बचने के दो कारण होते है। एक यह समझना कि जन समुदाय मे नाना पदार्थों के देखने से मन लंपट होकर अपने शुचि पथ से पतित हो जायगा। सो यह कारण तो किसी अंश में शुचि की दृढ़ता का उपयोगी होने से कभी २ ग्राह्य

भी होता है परन्तु दूसरे कारण को अभिमान मूलक होने से कोई ग्राह्य नहीं कहता। वह यह समझता है कि मेरे सिवाय जो सर्व संसार के आचार व्यवहार अशुद्ध हैं इस कारण मुझ को किसी की समीपता करनी अच्छी नहीं क्योंकि उनके स्पर्श से मैं भी नीच हो जाऊँगा। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी यह विचार करे कि किसी का नीचपन किंचित् स्पर्शादि से मुझको पतित नहीं कर सकता। किंच विशेष संग होने से और उसके आचार ग्रहण करने से ही मैं पतित हो सकता हूँ, अन्यथा नहीं। इस संकोच से विद्रोह, नैर्घृण्य, पक्षपात ये तीन उपान्तर रोग उत्पन्न होते हैं।

विद्रोह—पर-मत के पुरुषों को देख के ऐसे तप्त रहना कि इन का दर्शन न हो। फिर ऐसा पुरुष जहाँ लों हो सके पर-पुरुषों के प्राणघात तक से भी नहीं डरता। किंच सर्वदा काल इसी विचार में रहता है कि अमुक मण्डली के पुरुष बड़े नीच हैं। क्या उपाय होवे कि वे पृथ्वी से निर्मूल हो जांय। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी यह विचार करे कि मैं जो इन के स्वभावों को देख के इनके प्राणघात करने पर्यन्त कटिबद्ध होता हूं इसमे मेरी शुचिता कहाँ है। उलटा वृथा वैर के कारण मैं इनसे भी महानीच और अशुद्ध ठहरता हूँ। उत्तम वह है कि जो शुचि रहित पुरुषों को देख के उन के सुधारने में यत्न करता है न कि उनके नाश में।

नैर्घृण्य—अपने संकोच के अभिमान से इस निमित्त कि समीपता से मैं आपही पतित न हो जाऊँ शुचि रहित पुरुषों को अत्यन्त आपदा-काल में भी सहायता न देनी। जैसा कि कई लोग ऐसे निर्दय होते हैं कि जिस को वे अपने से भिन्न मत का समझें वह चाहे कैसा ही क्षुधातुर वा तृषार्त्त हो अपने अशुद्ध बन जाने के भय से उसे अन्न जल नहीं देते। अहो उनकी शुचि कि किंचित् समीपता से अपनी

अशुचि के भय से एक मनुष्य-देह को वृथा ही नष्ट कर देते हैं। उत्तम पुरुष से यह व्यवहार कभी नहीं हो सकता। जगत् में पुरुष तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम, मध्यम और नीच।

उत्तम—जो अपना सुख बिगाड़ के भी अन्य पुरुषों को सुखी करे।

मध्यम—जो अपना सुख भी न बिगाड़े और अन्य पुरुषों का सुख भी सिद्ध कर दे।

नीच—जो अपने सुख के निमित्त औरों का सुख बिगाड़ दे। इस के दो भेद हैं एक नीच, दूसरा महानीच।

नीच तो वह है जो ऊपर कहा। महा-नीच वह है जो अपना कुछ सुधरे वा न सुधरे परन्तु औरों का सुख अवश्य बिगाड़ देता है। ऐसे पुरुष को बिच्छू की नाईं महा-नीच समझ के सदा दूर रहना चाहिये क्योंकि वह बिना प्रयोजन दूसरे को दुःखी करता है।

पक्षपात—धर्म सम्बन्धी व्यवहारों में अपने को सब से उत्तम मान के अन्य मत के पुरुषों की निन्दा करना। वा अन्य मतों के विनाश में यत्न करते रहना। उपाय इस रोग का यह है कि वह पुरुष सदा समता की बात-चीत सुनता और पढ़ता रहे। समता इसका नाम है कि समस्त जीवों के दुःख सुख को अपने समान समझे। अर्थात् जैसे मैं अपने मत के निन्दक और विघातक को नहीं सहारता वैसे दूसरे को भी अवश्य उपताप आदि होते होंगे। जिसके मन में समता बसती है उससे चोरी, हिंसा, निन्दा आदिक व्यवहार कभी नहीं हो सकते। क्योंकि वह अन्य जीवों के उपताप को अपने तुल्य ही जानता है। समतावान् पुरुष का धर्म है कि धर्मतत्त्व के जिज्ञासु की सन्देह निवृत्ति के लिये तो चाहे निन्द्य मतों की अशुद्धि प्रकट करे परन्तु उस मत के लोगों का मन दुःखी करने के निमित्त कभी वाणी को न खोले क्योंकि किसी का मन दुःखी करना अत्यन्त बुरा है।

सच पूछ तो परम-मनुष्य-धर्म इसी का नाम है कि जहाँ लों हो सके प्राणी अपने और पराये मन को शुभ क्रिया द्वारा सदा प्रसन्न रखे। सो इस बात का प्राप्त होना आत्म-चिकित्सा के उपाय बिना अति दुर्घट है। यद्यपि आत्म-चिकित्सा रूप मोक्ष का मार्ग तो समस्त जीवों के लिये एक ही है परन्तु जीवों ने जो अपनी २ समझ के अनुसार अनेक पंथ और धर्म रच लिये हैं कारण उनका यह पक्षपात ही है। इस के सम्बन्ध से मनुष्य कभी सुख से नहीं बैठता। क्योंकि सदा अन्य पुरुषों के साथ वृथावाद, विरोध, आदि से चिंता, भय, शोक आदिक क्लेशों मे ग्रस्त रहता है। फिर इस पक्षपात का यह स्वभाव है कि यदि विद्यावान् के हृदय में हो तो बहुत अनर्थ करता है और विद्याहीन के हो तो इतना अधिक अनर्थ नहीं करता। कारण यह है कि विद्याहीन पुरुष को बहुत-सा ऊहापोह नहीं होता और विद्यावान् पुरुष एक क्षण मे अनेक संकल्प रच सकता है।

प्रश्न—क्या उसको विद्या कुछ फल नहीं करती ?

उत्तर—विद्या केवल अक्षर ज्ञान वा अक्षरों के अर्थ ज्ञान मात्र का नाम नहीं किंच प्रथम तरंग में जो कुछ वर्णन हो चुका है उस का नाम विद्या है। कभी २ तो उलटा यह देखने में आता है कि फल सम्पूर्ण पदार्थों का पात्र के ही आधीन होता है। अर्थात् स्वभाव के दुर्जनों मे यदि कोई गुण भी आ जावे तो वह दोष रूप हो जाता है। जैसा कि सर्प के मुख मे पड़ा हुआ दुग्ध विष रूप बन जाता है। और स्वभाव के सज्जनों मे आ के दोष भी गुण रूप बन जाता है। जैसा कि समुद्र का खारी पानी भी मेघ मे जा के मीठा हो जाता है। सो इसी भांति जब किसी विद्यावान् मे कोई दोष देखो तो वह उस के स्वभाव का दोष समझो न कि विद्या का।

प्रश्न—यदि विद्या भी खोटे स्वभाव को दूर नहीं कर सकती तो क्या खोटा स्वभाव कभी जाता ही नहीं ?

उत्तर—सर्वथा तो यह नहीं कहा जा सकता कि विद्या से खोटा स्वभाव दूर नहीं होता परन्तु कभी २ किसी हेतु से यह व्यतिक्रम भी दिखाई दे जाता है। यदि विद्या से दुःस्वभाव दूर न होता हो तो आत्म-चिकित्सा आदिक सदुपदेश को वृथापत्ति आये। यह बात सर्व-सम्मत है कि साधन करने से सब कुछ हो सकता है। अर्थात् खोटा स्वभाव भी जा सकता है।

तीसरा जो कार्पण्य नाम रोग कहा था, उत्पत्ति उस की रजोगुण की न्यूनता से है। अर्थ इस कार्पण्य का यह है कि स्वाभाविक ही भोगादि से रुके रहना अर्थात् यथायोग्य प्रवृत्त न होना और जहाँ लो हो सके संकोच और संक्षेप में दृष्टि रखना। यह कार्पण्य दो प्रकार का है एक स्वार्थ दूसरा परमार्थ।

स्वार्थ—अपने भोजन-छादनादि आवश्यक आनन्द भोग में सर्वदा ऊणता रखना। जैसा कि बहुत लोग चाहे सर्व प्रकार से सम्पन्न भी है परन्तु अपने सुख के निमित्त यत्न नहीं करते। भोजन ऐसा करते हैं जो रूक्ष और उपान्न वा बासी अथवा परित्यक्त और गतरस होवे। छादन (वस्त्रादि) ऐसा रखते है जो अत्यन्त खरस्पर्श, वा जर्ज्जर और शतग्रंथ अथवा शीत, उष्ण के रोकने में अशक्त होवे। अथवा पदवी और अधिकार से न्यून होवे। आनन्द और भोग का साधन ऐसा अयोग्य रखते हैं कि शीत, उष्ण और वर्षादि की विपत्ति में भी कोई स्थान न बनाना तथा रोग की दशा में धन का व्यय विचार के औषधि आदि मे सकोच करना। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि यदि आवश्यक कार्यों में भी संपत्ति काम न आई तो और किस काम आवेगी? मैं जो सासारिक भोगों से इतना उप-राम रहता हूँ इससे मुझे मनुष्य बनने का क्या लाभ है?

परार्थ—यदि किसी अन्य के सुख साधन में उत्साह करना तो पूरा

न करना। जैसा कि अन्न देना तो तृप्ति से न्यून देना। और अधिकारी जनों के पालन पोषण में ऊणता रखना जैसा कि बहुत लोग अपने माता पिता की सेवा में भी संकोच करते हैं। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी यह विचार मन में रक्खे कि दान और सेवादि तबही श्लाघ्य गिने जाते हैं जब वे दाता और भोक्ता की तृप्ति-पूर्वक हों। यदि क्रम और अधिकार तथा तृप्ति के विरुद्ध हों तो महा निन्द्य हो जाते है। जैसे यदि चक्रवर्त्ती राजा किसी को एक मुष्टि अन्न की दे के अपनी प्रतिष्ठा चाहे तो अत्यन्त असम्भव है। यह परार्थ कार्पण्य केवल धन मात्र से ही नहीं होता किन्तु बुद्धिमान लोग इसको तीन भांति से मानते है। एक काया से, दूसरा वाणी से और तीसरा मन से।

कायिक कार्पण्य—अपने शरीर द्वारा किसी की सेवा और सहायता का न करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि यदि मनुष्य देह से कुछ पुरोपकार न होवे तो वह महापशु है क्यों कि पशु भी अनेक व्यवहारो में मनुष्य के काम आते है। अथवा यह सोचे कि यदि मैं किसी की सेवा और सहायता में यत्न करूंगा तो लोग भी मेरी सेवा और सहायता को आवश्यक समझेंगे। क्योंकि जगत् में संपूर्ण व्यवहार परस्पर मिलाप द्वारा ही सिद्ध होते है। फिर वह सहायता और सेवा भी तीन प्रकार की होती है। एक उत्तम दूसरी मध्यम और तीसरी निकृष्ट।

उत्तम सेवा—जो विना किसी प्रयोजन के केवल मनुष्य देह को सफल करने के निमित्त की जावे जैसा कि उत्तम-जन साधु और गुरु वा अभ्यागत वा किसी दु:खी आदि की करते है।

मध्यम सेवा—जो किसी ऐसे पुरुष की की जावे, कि जिसने कभी तुम्हारी की हो। जैसा कि जगत् मे परस्परके व्यवहार सिद्ध हो रहे है।

निकृष्ट सेवा—जो मोल और धनादि के अर्थ से की जावे। जैसा कि जगत् में नौकरी चाकरी आदिक का करना प्रसिद्ध है। सो उत्तम सेवादि के बिना और सब गौण है।

वाचनिक कार्पण्य—किसी का वाणी द्वारा शिष्टाचार न करना, अथवा शिक्षा प्रदान और विद्या दान में वाणी को न खोलना। अथवा यदि कोई पुरुष कुछ प्रश्न करे तो यथार्थ और पूर्ण उत्तर न देना इत्यादि। उपाय इसका यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि पूर्वोक्त शिष्टाचार आदिक व्यवहारों की शक्ति केवल मनुष्य की जिह्वा को ही प्राप्त है सो यदि मैं उन व्यवहारों का संकोच करूं तो जिह्वा निष्फल है। अथवा जिनके प्रश्नादि के उत्तर में मैं प्रवृत्त नहीं होता उनका मन कैसा दुःखी होता होगा। उत्तमो का तो यह स्वभाव है कि मन में चाहे किसी प्रकार की विषमता हो परन्तु जिह्वा द्वारा सबसे प्रेम भाव रखते हैं। अथवा यह विचारे कि धन्य है वे लोग जो परसुख साधन के अर्थ कूप, तड़ाग, बापी, पथिगृह, धर्मशाला आदिक बनवाते है। और धिक् है मुझको कि जो सम्भाषण मात्र से भी किसी को प्रसन्न नहीं करता। प्रकट है कि जो जिह्वा सम्भाषण से किसी का हृदय शांत नहीं करती वह मींडक (मेंढ़क) की जिह्वा के समान वृथा बकवादिनी है।

मानसिक कार्पण्य—मन को जगत् हितैषी बातों के विचार में और किसी के साथ शुभ परामर्श करने में और कृतज्ञता वा शुभ फल प्रदानादि में प्रवृत्त न करना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी अपने ज्ञान बुद्धि को पशु वर्ग से अधिक समझ के इस बात को सामने रक्खे कि मनुष्य वही है कि जिसका मन परोपकारी है, नहीं तो सींग रहित पशु है। उत्तम जन कहते हैं कि जिसके मन में विचार, पर-उपकार, प्रेम, दया, विद्या, सरलता ये छै गुण नहीं वह

महा दरिद्र और पशु है। अथवा यह सोचे कि मैं जो प्रातःकाल से सन्ध्या लों अपने अनेक सकल्प-विकल्प रचता रहता हूं, यदि कुछ समय पराये अर्थ लग जाय तो क्या क्षति की बात है। उलटा लोक में यश का कारण हो जायगा। अथवा यह विचार करे कि मन का स्वभाव है कि यदि निर्बन्ध रहे तो नाना अनर्थ को उत्पन्न करता है। सो यदि परोपकार आदिक क्रिया में प्रवृत्त रहेगा तो अन्य विकारों के विचार को अवकाश नहीं पावेगा।

वस सन्तोष धर्म प्रकट करने के निमित्त मनोराज्य आदिक उक्त रोग-त्रय से सर्वदा वचता रहे। अर्थात् जब किसी हेतु से रजोगुण में मलिनता और तारतम्य देखे तो तुरन्त ही चिकित्सा करे। नहीं तो समभाव टूटने से आत्मा पतित हो जावेगा और फिर-किसी उपाय का वनना असंभव है।

प्रश्न—रजोगुण को समभाव पर रखने के लिये पूर्वोक्त चिकित्सा के अतिरिक्त क्या कोई और उपाय भी है?

उत्तर—श्रेष्ट उपाय तो यही है, परन्तु संसार मे कई एक उपाय और भी प्रसिद्ध हो रहे है। जैसा कि कई लोग रजोगुण की शुद्धि के लिये धन, स्त्री, पुत्रादि का त्याग करते और अनेक इनके दर्शन से कोसों दूर भागते हैं, तथापि उन्हें रजोगुण की शुद्धि प्राप्त नहीं होती। वहुत से लोग कुसंग की भीति से जगत् के सम्पूर्णजनों से उदास हो के कहीं वन-पर्वतादि विविक्त स्थानों में निवास करते हैं। परन्तु हम इस का नाम भी शुद्धि नहीं रखते। अथवा कई एक लोग जो त्यागी और विरागियों के वेप वनाये रखते और सांसारिक सरल पुरुषों को ठगते हैं उनको भी शुद्धि की प्राप्ति नहीं। उलटा वे लोग अत्यन्त काम और कार्पण्य से ग्रस्त और सांसारिक आनन्द से शून्य कहने चाहियें। रजोगुण की स्वच्छता के निमित्त काम और कार्पण्य का त्याग करना

योग्य है कुछ धनादि पदार्थ और जगत् का त्याग आवश्यक नहीं। अथवा अन्त करण का सुधारना आवश्यक है कुछ बाह्य आचार और चिन्हों का सुधारना या बदलना आवश्यक नहीं। क्योंकि जैसे ऊपर से उज्ज्वल और स्वच्छ किया हुआ और भीतर से मल का भरा हुआ पात्र शोभा नहीं पाता वैसे ही बाहर से शुद्ध और भीतर से अशुद्ध पुरुष भी शोभनीय और श्लाघ्य नहीं गिना जाता। प्रकट है कि मनुष्य यदि अन्तर से शुद्ध और पवित्र तथा सरल है तो बाहर से निर्धन या कुरूप होने पर भी पूज्य और श्लाघ्य है परन्तु यदि ऊपर से स्वच्छ और कुलीन वा धनी, गुणी, मानी, प्रतिष्ठित हो और अन्तर से कुटिल, कठोर और दुःशील तथा अशुद्ध होवे तो महा नीच और निन्द्य है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु पुरुष को सब प्रकार अन्तर का शोधन ही आवश्यक है और कुछ कर्तव्य नहीं। और जब अन्तर की शुद्धि हो जाती है तब जितनी कि चाहिये उतनी बाहर की शुद्धि भी अपने आप हो जाती है। परन्तु यह अन्तर और बाहर का शोधन सद्गुरु की कृपा से होता है।

प्रश्न—सद्गुरु का क्या लक्षण है ?

उत्तर—सद्गुरु वह है जो सत्पद का उपदेश करे। उसकी विद्या, बुद्धि, बल सब पराये अर्थ लगते हैं। वह आप कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहार के भी लोगों को सीधे मार्ग में चलाना चाहता है। उसके काया, मन, वाणी से सदा परोपकार रूप क्रिया निकलती रहती है और वह दूसरे को सुखी करना अपना सुख जानता है। वह दया, धर्म, धैर्य्य, सन्तोष, न्याय आदिक से विभूषित और आत्म-चिकित्सा में कुशल और सब का हित साधक होता है। बस उपरोक्त सब लक्षण जिस में देखो उसको सद्गुरु समझो और उस के उपदेश को अपने सुख का साधन जान के परम श्रद्धा के साथ ग्रहण

करो। तथा उसके उपकार के पलटे में तन, मन, धन से उसकी सेवा और भक्ति करते रहो कि जिस से तुम पर कृतघ्नता का कलंक न लगे।

तन से सेवा यह है कि जब गुरु का दर्शन हो तो अभ्युत्थान करो और अपने आप को निर्माण वनाने लिये सब सङ्कोच तज के उस के चरणों में शिर रक्खो और प्रणाम करो। मुख से आदर युक्त वाक्य कहो। और हाथों से चरण स्पर्श करो या धोवो और पाँव से गुरु-द्वार की यात्रा करो।

मन से सेवा यह है कि सद्गुरु के उपकार की कृतज्ञता मानो और कभी उनके प्रेम से मन को पीछे न होने दो। यदि उनकी सेवा और सङ्गति में मन को कुछ कष्ट हो तो भी सहार लो। और यदि उनके पीछे चलने में लोग शत्रुता वा निन्दा करें तो उसे भी अपना सौभाग्य मान के सहार लो और कभी अश्रद्धक न होवो।

धन से सेवा यह है कि जिस के उपदेश से तुम्हारा वह सारा द्रव्य वच गया जो तुम अज्ञान दशा मे भूत-प्रेत तथा देवी-देवता और ग्रहादि की पूजा में झूठे भय और लालच के प्रताप से नष्ट करते और विकारों में खोते थे यदि उस की सेवा में यत्किञ्चित् द्रव्य व्यय हो जावे तो कैसी उत्तम वात है। अर्थात् उसके दर्शन को जाओ तो यथा शक्ति कुछ द्रव्य हाथ में लेकर जाओ। और जहां लों हो सके उस सद्गुरु के भरण-पोषण और यान-स्थानादि में अपने द्रव्य द्वारा सहायता करो।

सच्चे सद्गुरु के उपदेश से प्राणी को नया जन्म प्राप्त होता है क्योंकि उस दिन के पूर्व जो २ कुकर्म किये थे वे तो सच्चे पश्चात्ताप के प्रताप से भस्मीभूत हो गये और आगे को उनके उपदेश द्वारा जब पाप का यथार्थ स्वरूप और उसका फल भली प्रकार समझ में आ

जाता है तो फिर कभी वह उधर प्रवृत्त नहीं होता। इससे दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है और मनुष्य-जन्म का यही परम-पुरुषार्थ है।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-
प्रवाह पूर्व भागे आत्म चिकित्सायां
रजो गुण वर्णनं तृतीयस्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य पूर्वभागः ॥

अथ चतुर्थ तरङ्गस्यारम्भः
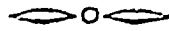
प्रश्न—अव तमोगुण नामक आत्मा के तृतीय गुण को कथन कीजिये। प्रथम यह वताइये कि तमोगुण तो एक मन्द पदार्थ है इसका आत्मा में रहना क्या फल करता है ?

उत्तर—तीनों गुण में से ऐसा गुण कोई नहीं जो स्वरूप से मन्द हो किन्तु तीनों ही से आत्मा की सहायना होती है। ऐसा पुरुप भी जगत् में कोई नहीं कि जो इन तीनों गुणमें से किसी एक को आत्मा में से दूर कर सके। हाँ, यह सत्य है कि इन तीन के अधिक और न्यून भाव को प्राणी सदुपदेश और प्रयत्न के वल से दूर कर सकता है जो आत्मा को रोग रूप है।

तमोगुण से आत्मा की सहायता इस रीति से होती है कि उसके प्रताप से आत्मा दुःख जनक पदार्थों के तिरस्कार में प्रवृत्त होता है। जैसा कि यदि सर्प में तमोगुण न होता तो वहुत लोग उसको रज्जु रूप जान के लकड़िया वांधने लगते। परन्तु उस का तमोगुण ही उसे दुःखदायक जनों के हाथ से वचाता है। सो जव लों यह तमोगुण समभाव पर स्वच्छ रहता है तव लों तो इससे शौर्य्य नाम धर्म का प्रभाव वना रहता है और जव न्यून वा अधिक होता है तव रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं।

इस शौर्य्य नाम धर्म का, कि जिस की उत्पत्ति स्वच्छ तमोगुण से है यह अर्थ है कि निन्द्य रजोगुण और तमो गुण के वेग को, कि जिन से काम और क्रोध उत्पन्न होते है, जीत के स्वच्छ तमो गुण के अधीन करने को समर्थ होना। सो जहाँ यह शौर्य्य धर्म रहता है वहा एकादश गुण और रहते है। जब लों वे एकादश गुण प्राप्त न हों तब लों कोई सच्चा शूर-वीर नहीं कहा जा सकता।

१ तितिक्षा—चाहे कैसा ही खेद और विपत्ति सन्मुख आवे परन्तु मन में भय और कंप तथा व्याकुलता आदिक उत्पन्न न हों। और उस समय मन कुछ ऐसा काम न कर बैठे कि जो बुद्धि से बाहर हो। जैसा कि कई एक मूर्ख भय और आपदा काल में व्याकुल हो के ऐसे निन्द्य काम कर बैठते है कि जिन से मरण पर्यंत कलंक और पश्चात्ताप रहता है। बहुत से अज्ञानियों ने भय और विपत्ति काल में देश और कुल को त्यागा और कई अल्पज्ञों ने अपने हाथ से अपने प्राण को खोया है।

२ दृढ़ता—निन्द्य और वर्जित वस्तु की ओर मन प्रवृत्त न होने पावे और न धन से आनन्द और निर्धनता से कुछ शोक माने। यदि किसी अलभ्य वा अमोलक वस्तु की हानि हो जावे तो दुःख न माने। और सारे जगत् का राज्य प्राप्त हो जावे तो अत्यन्त गर्वित न हो जावे। मन का स्वभाव है कि जब किसी निन्द्य और वर्जित काम मे प्रवृत्त होने लगता है तो उस मे नाना गुण आरोपण कर लेता है जैसा कि मद्य पान मे आल्हाद और चौर्य्य, द्यूत तथा व्यभिचारादि में चातुर्य्य और शौर्य्य आरोपण करके प्रवृत्त हो जाता है। सो ऐसे समय में मन की दुष्टता मान के उसे कुकर्म से रोकता रहे। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि निन्द्य व्यवहारों मे मन की प्रवृत्ति तो होती जाती है परन्तु अपने को प्रतीत नहीं होती। अथवा काम के वश से निन्द्य

व्यवहार का दोष भी गुण रूप ही भासने लग जाता है। सो योग्य है कि ऐसी दशा में प्राणी अपने शत्रुओं की बातें, कि जो वे इसके विषय में करते रहते हैं, सुना करे।

३ जिग्राहयिषा—शुभ चिन्तन और शुभ ग्रहण में मृत्यु से भी न डरे और ग्राह्य वस्तु की प्राप्ति अप्राप्ति के विचार के विनाही उसमें प्रवृत्त रहे।

शुभ चिन्तन इसका नाम है कि जगत् में सुख सम्पादन और सहायतादि के उपायों को सोचते रहना।

शुभ ग्रहण इस को कहते हैं कि विद्याध्ययन और धर्म सम्पादन आदिक कर्म को आवश्यक समझना। बहुत ऐसे लोग हैं कि जो किंचित् भय और क्लेश और लोकापवाद से ही इन दोनों बातों को त्याग देते हैं परन्तु उन में जिग्राहयिषा धर्म नहीं जानना चाहिये।

४ धृति—शत्रु के सामर्थ्य और बल को देख के ऐसा क्लीब न हो जावे कि इन्द्रियों को उसकी निवृत्ति की शक्ति ही न रहे। जैसा कि भीरु पुरुष सिंह और सर्प के सन्मुख पीत मुख होके उसके हटाने और भगाने में शक्त नहीं रहता और वृथा ही अपना नाश कर लेता है।

५ दम—तन और मन को व्यर्थ और अयोग्य क्रिया से रोके। उत्तम वह है कि जो मन को योग्य और सार्थ व्यवहार में प्रवृत्त रखे। देखो, जितने अंग उपांग मनुष्य के हैं उनमे कोई भी व्यर्थ नहीं प्रतीत होता। सो जो कोई इनको आवश्यक क्रिया से रोक के वृथा व्यवहार मे प्रवृत्त करे वह मूर्ख है। मनुष्य के अङ्ग उपाङ्ग की अयोग्य क्रिया में प्रवृत्ति देख के सब कोई उसे तुच्छ और ओछा समझने लग जाता है।

६ महत्व—अपने को बड़ा और योग्य समझना। यह महत्व दो प्रकार का होता है। एक निन्द्य दूसरा श्लाघ्य :—

निंद्य महत्व यह है कि अपने धन गुणादि में उन्नत हो के सर्व संसार को तुच्छ और अपने को पूज्य समझना। ऐसा पुरुष सदैव

उत्तमों के संग और ससार के परस्पर मिलाप जन्य सुखसे शून्य रहता है। क्योकि यद्यपि नाना व्यवहार प्रत्यक्ष ही नष्ट होते हैं परन्तु मानी पुरुष किसी अन्य से सहायता पाने को अपनी क्षति मानता है। इस मान के अन्त में जो अनेक दु ख और उपताप होते हैं उन का तो क्या कहना, परन्तु वह जो सर्व जगत् को तुच्छ जान के किसी को आदर नहीं देता इस कारण समस्त जीव उस से शत्रु भाव रखते हैं।

श्लाघ्य महत्व यह होता है कि अपने में महत्व मान के प्रतिष्ठा भंग के भय से अनुचित क्रिया कलाप में चित्त को प्रवृत्त न करना। यद्यपि चौर्य्य, व्यभिचार, पर-निन्दा, अति-क्रोध, विवाद, याञ्चा, इत्यादि व्यवहार मुख्यत. प्रतिष्ठा भंग में कारण है परन्तु प्रतिष्ठा एक ऐसा सूक्ष्म तंतु है कि व्यत्यय व्यवहार चाहे स्वल्प-सा भी हो जावे तो तुरंत टूट जाता है। योग्य है कि प्राणी अपनी प्रतिष्ठा को प्राण से भी अधिक प्रिय समझे। इसके प्रताप से समस्त मन्दाचार सहज ही निवृत्त हो जाते हैं। बहुत से वुद्धिमान इस हेतु से अपने पुत्रादि को वाल्यवस्था से ही शुभाचार और प्रतिष्ठावानो के संग में रख छोड़ते है कि इनको प्रतिष्ठा प्राप्ति का व्यसन हो जावे क्योंकि जब मनुष्य अपने को प्रतिष्ठित मानने लग जाता है तो अपने-आप ही समस्त दुराचार से दूर रहता है।

७ गौरव—तुच्छों और दीनों पर बड़ाई का न चाहना और किंचित् अपराध आदिक को देखके उनपर शीघ्र कुपित न हो जाना वरन् लोगों के कुवाक्यादि की ओर कान न लगा के मत्त गज की नाई अपने आनन्द में मस्त रहना। जो पुरुष दीनों पर बड़ाई चाहता और किंचित् अपराध से कुपित हो जाता है वह ससार की दृष्टि मे तुच्छ और महा निन्द्य गिना जाता है। जो किसी दूसरे से महत्व चाहता है, यद्यपि कोई अर्थी पुरुष तो उसे बड़ा कहे परन्तु अन्य सर्व लोग उसे छोटा

समझने लग जाते हैं। और जो पुरुष स्वभावतः बड़ा है उसको शत्रु भी बड़ा ही कहते हैं। और जिस को केवल मित्रों और सम्बन्धियों वा भिक्षुक और लुब्धक वा दीनों ने बड़ा कर छोड़ा है वह बड़ा नहीं, उलटा परम लघु है।

८ वाक्य पालन—यदि किसी को कुछ देना, वा सहायता करना, वा मिलना, वा कुछ करना, वाणी से कहा होवे तो यथा शक्ति उन की पूर्णता में यत्न करना। जिस को अपने वाक्य भंग की लज्जा नहीं वह मनुष्य गोवर का कीट है। जगत् में पांच भांति के वक्ता हैं :—

एक वह कि जो जितना कहे उतना ही कर दिखावे। दूसरा वह कि जो करे थोड़ा और कहे बहुत। तीसरा वह कि जो कहे थोड़ा और करे बहुत। चौथा वह जो कहता ही है और करने का नाम भी नहीं लेता। पंचम वह है कि जो कहता कुछ नहीं और सब कुछ कर दिखाता है।

बुद्धिमान को चाहिये कि अकरणीय व्यवहार को कभी मुख से न कहे। कभी २ ऐसा होता है कि पुरुष कथन के समय तो करने को सुगम जान के वाचाबद्ध हो जाता है परन्तु फिर आलस्य के वश से वाचा पालन में अशक्त हो जाता और निन्दा उठाता है। सो योग्य है कि विचार पूर्वक कथन किया करे, नहीं तो महान् लज्जा और उपताप इसका फल होगा। ऐसे पुरुष से समस्त लोगों का वैर हो जाता और वह सदा दुःखी रहता है।

९ उद्यम—करणीय कार्य की सिद्धि के पूर्व किसी अन्य क्रिया का आरम्भ न करना किन्तु जो कार्य हाथ में है उसे पूरा करके किसी दूसरे कार्य को हाथ लगाना। जो पुरुष किसी हेतु करणीय कार्य को पीछे रख के किसी नवीन कार्य के करने में लग जाता है, उसके संपूर्ण कार्य असिद्ध ही रह जाते हैं। उद्यम-हीन पुरुष धीरे २ क्रिया

कलाप से अत्यन्त संकोच करने लग जाता है। और इस संकोच को परम सुख मान के अन्य पुरुषों को भी क्रिया के त्याग का उपदेश करने लग जाता है। जैसा कि 'हे लोगों, क्रिया के करने में बहुत क्लेश है सो चाहिये कि प्राणी जहां लों हो सके क्रिया से बचता रहे' इत्यादि।

१० आर्द्रव—अन्य जीव वर्ग को चकित और दुःखित वा शोकित देख के द्रवीभूत हो जाना और यथा शक्ति उसकी निवृत्ति में यत्न करना। परन्तु यह आर्द्रव कई प्रकार का होता है :—

एक वह कि जो अपने सम्बन्धियों को दुःखित देखके द्रवीभूत होना। सो यह आर्द्रव नहीं, मोह है। क्योंकि उनको दुःखी देख के अपना मन दुःखी होता है इस कारण अपने सुख के निमित्त यत्न करता है न कि उनके निमित्त।

दूसरा वह कि जो अपने मित्रों और मिलापियों के दुःख से द्रवीभूत होवे। सो यह भी आर्द्रव नहीं व्यापार है। क्यों कि वहाँ यह आशा होती है कि यदि मैं इन के दुःख से दुःखी होऊंगा तो कभी ये भी मेरी सहायता में अधिक प्रवृत्त होवेंगे। जो सच पूछो तो यह आर्द्रव भी अपने ही सुख के निमित्त है। ऐसे पुरुषों को यदि अपने मित्र वा समीपियों के दुःख निवृत्ति के लिये किसी अन्य जीव के प्राणघात की भी आवश्यकता होवे तो भी कुछ विलम्ब नहीं करते। क्योंकि उन को अपने सुख से ही काम है दूसरे के दुःख सुख को अपने समान नहीं समझते।

मेरी समझ में यह आता है कि यदि सबके मन में यह बात भर जावे कि दूसरे का दुःख मेरे समान वा मेरा ही है तो चोरी, व्यभिचार, हिंसा, छल आदिक कुकर्म का नाम भी संसार में न रहे।

तीसरा वह कि जो स्वत्व परत्व नीच ऊंच का विचार त्याग के समस्त जीवों पर समान द्रवीभूत होवे। सो यथार्थ आर्द्रव इसी का

नाम है। ऐसे पुरुष का यह स्वभाव होता है कि यदि उसका शत्रु भी विपत्ति मे ग्रस्त हो तो भी उस के दुःख निवृत्तिमें यत्न करता है। पूरण दयालु पुरुष का यह लक्षण है कि दूसरे की रक्षा के निमित्त—यद्यपि वह परम शत्रु भी है—ऐसा उद्यम करना कि चाहे अपना धन, मान, यश, सब कुछ दूर हो जावे परन्तु दया (आर्द्रता) को नहीं छोड़ता।

दयालु का धर्म है कि प्रथम अपराधी का अपराध क्षमा कर देवे, और फिर द्वितीय अपराध मे नीति पूर्वक शिक्षा करे। और तृतीय अपराध में ऐसा उचित दण्ड देवे कि जिस से उसका वह दु स्वभाव छूट जावे। देखो, जब किसी का व्रण सुगम उपायों से दमन न होवे तो वहा वैद्य लोग चीरा देने को योग्य समझते है परंच ऐसी रीति से कि जिस भाति सर्वदा काल उसको व्रण से भी अधिक पीड़ा उपस्थित न हो जावे। अपराधी की रक्षा करना और क्षमा करना भी एक प्रकार की शासना है। क्योंकि कई एक अपराधी रक्षा और क्षमा को पा के महा लज्जित होते और भारी दण्ड से भी अधिक दुःख मानते है। और फिर कभी अपराध का नाम नहीं लेते। सो बस, उत्तम दया इसी का नाम है कि स्वत्व परत्वादि के विचार विना सर्व जगत् को अपना अंग जान के रक्षा करना। विशेषतः विपत्ति काल में भी दया, धर्म से विमुख न होना।

बहुत लोग ऐसे है कि सुख और सम्पत्‌काल में तो धर्म के समाश्रित रहते है और यदि कोई क्लेश और विपदा आ जावे तो यह कह के अधर्म में प्रविष्ट हो जाते हैं कि 'यदि हमारा शरीर रहेगा तो दया धर्म फिर उपार्जित हो सकेगा, दया और धर्म के हठ में शरीर को विपत्ति और क्लेश में रखना उचित नहीं'। फिर ऐसी-ऐसी निंदित युक्तियां निकालते है जैसाकि 'विपत्ति काल में पर-स्व हरण, मिथ्यालाप, जीव-घात, छल-कपट द्वारा निर्वाह करने का भी दोष नहीं'।

बड़े शोक की बात है कि उन को यह नहीं सूझता कि यदि हम अधर्म द्वारा अपनी विपत्का निवारण करलेंगे तो क्या फिर यह हमारा देह सदा काल बना रहेगा। अथवा जब कि एक दिन यह देह अवश्य ही मिटने वाला और विनाशी है तो विपत् में मिटा तो क्या और सम्पत् में छूटा तो क्या। यह देह तो ऐसा कृतघ्न है कि चाहे कोई अत्यन्त अमोलक और दुर्लभ पदार्थ से इसका पालन करे, परन्तु विनाश काल में एक क्षण भी विलम्ब नहीं करता किन्तु सदा की मैत्री तुरन्त त्याग देता है। फिर ऐसे कुटिल के निमित्त अपने धर्म मार्ग से पतित हो जाना योग्य नहीं। शूर-वीर वही है कि जो आपदा में भी अधर्म-पथ में प्रविष्ट नहीं होता।

११ क्षांति—समय और व्यवहारों को अपनी इच्छा से विरुद्ध होते देख के क्रोधाग्नि के धूम को अपने नेत्रों में न भरने देना। बहुत ऐसे पुरुष है कि विरुद्ध आचार के पूर्व तो अपनी शांति का घमण्ड करते हैं और जब समय आता है तो तत्कालही जीते जाते है। सच पूछो तो परम शौर्य्य इसी का नाम है कि प्रतिकूल समय में मनका धैर्य्य नष्ट न होने पावे। समय का स्वभाव है कि यह एक रस कभी नहीं रहता। सो चाहिये कि अनुकूल समय के चले जाने को देख के यह निश्चय करे कि जैसे वह स्थिर नहीं रहा वैसे यह प्रतिकूल समय भी स्थिर नहीं रहेगा।

जैसे शूर-वीर पुरुष युद्ध के बीच खड़ा चारों ओर से शस्त्र-पात को सन्मुख सहारता है वैसे ही प्रतिकूल समय के आदि और मध्य में महा दक्ष हो के दीनता और क्रोध से बचना चाहिये। यद्यपि यह अत्यन्त कठिन व्यवहार है कि पुरुष स-धूम अग्नि के समीप बैठ के भी नेत्रों में जल न आने देवे परन्तु अभ्यासी पुरुष महानस आदि स-धूम स्थान को छोड़ के भागने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार

प्रतिकूल समय के क्लेश को सहार के भी दृढ़ और ध्रुव बना रहना चाहिये।

प्रश्न—इस शौर्य्य नाम तृतीय धर्म को तो मैंने भली प्रकार सुन लिया परन्तु अब यह कथन कीजिये कि तमोगुण के साथ रोग कितने और इनकी निवृत्ति के कौन उपाय हैं ?

उत्तर—जैसे पूर्व गुणों के तीन-तीन रोग कहे थे, इसी प्रकार इस तमोगुण के भी क्रोध, कु-उद्योग और क्लैव्य ये तीन रोग और इनकी निवृत्ति के भी कई उपाय हैं :—

१ क्रोध—उत्पत्ति इसकी मलिन अर्थात् गुणातर के संग कलुषीभूत तमोगुण से है। अर्थ इस रोग का यह है कि मन में एक प्रकार का तपन अर्थात् जलन उत्पन्न हो जाना। यह क्रोध दो प्रकार का होता है, एक सम, दूसरा विषम —

सम क्रोध—इसका नाम है कि अपने निन्दकों और विघातकों की बुराई चित्त मे रख के बदला लेने की घात मे लगे रहना। ऐसे पुरुष से सब किसी को भीत रहना चाहिये क्योंकि उसका अन्तरी कपट कभी प्रतीत नहीं हो सकता। यद्यपि प्रत्यक्ष में वह महा सरल और नम्र और मनोहर मित्र-सा प्रतीत होता है परन्तु अन्तःकरण मे इस से विरुद्ध है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी अपने मन में यह विचारे कि मैं जो बदला लेने को उपस्थित रहता हूँ न जाने उस समय के पूर्व ही मेरा देहान्त हो जावे। अथवा मेरा कपट शत्रु पर प्रकट हो जावे और वह मुझ से भी पहले मेरा काम बना देवे इस हेतु से योग्य है कि मन के क्रोध और कपट का त्याग करू।

दूसरा विषम क्रोध—इसका नाम है कि आठों पहर वृथा ही चित्त में जलते रहना और अयोग्य स्थानों में अपनी क्रोधाग्नि को प्रकाशित करना। जैसा कि मूर्ख लोग क्रोध के समय भीति, पाषाण, बरतन,

वस्त्रादि पर दांत पीस २ क्रोध करते हैं। यद्यपि वे यह तो जानते हैं कि इन जड़ वस्तुओं पर क्रोध और ताड़ना का कुछ फल नहीं, परन्तु उस समय चित्त उनके तोड़ने फोड़ने और शासना करने में ही प्रसन्न होता है और रोकते २ भी उन अनुचित क्रियाओं को करने लग जाता है।

इन दो बातों से क्रोध की अग्नि अधिक प्रचण्ड होती और बहुत काल में बुझती है सो चाहिए कि कोई पुरुष क्रोध के समय इन दोनों बात के ईंधन को कि जो नीचे लिखी है उस में न डाले :—

पहली यह कि क्रोध के समय उस के शमन के लिये शिक्षा करना। इस में यह हानि है कि उस समय क्रोधी को शिक्षादि उपाय गाली के समान दु:खदायक प्रतीत होते है। और हठ से क्रोध को अधिक प्रकट करने लग जाता है।

दूसरी यह कि जिस पर वह क्रुद्ध है उसकी सहायता और रक्षा करना। इस में यह दोष है कि क्रोधी पुरुष उसकी ताड़ना रूप अपने मनोरथ को रुका देख के अत्यन्त क्रोधी हो जाता है, और जितना कोई रक्षा करे उतना ही अधिक ताड़ना का हठ बांधता है और कभी-कभी उलटा रक्षक की ताड़ना को ही उपस्थित हो जाता है। यद्यपि पैत्तिक स्वभाव वाले और मूर्ख पुरुष को क्रोध अधिक आता है तथापि सर्व संसार का क्रोध एक समान नहीं होता। किसी को शीघ्र आता और शीघ्र ही जाता है, किसी को बहुत काल में आता और बहुत काल में ही जाता है, किसी को चिरंकाल में आता और शीघ्र ही जाता है और किसी को शीघ्र आता और चिरंकाल में जाता है।

क्रोध से बहुत-सी अपनी ही हानि होती है और दूसरे की थोड़ी। देखो, प्रथम किसी ने क्रोध में किसी को गाली दी तो लोग उस के स्वभाव पर हँसते हैं। फिर उन का हँसना देख के क्रोधाग्नि अधिक

प्रचंड हो जाती और इससे फिर वह मारने वा गाली देने लग जाता है। फिर यदि उस का कुवाक्य सुन के उस दूसरे में भी क्रोध उत्पन्न हो जावे तो अत्यन्त विवाद, क्लेश, वैर, वैमनस्य आदिक का उभयतो उद्‌गम हो जाता है। कभी २ क्रोधी पुरुष अपने हाथ से अपना प्राण-घात भी कर लेता है। प्रतिकार इस रोग का यह है कि प्राणी उन एकादश बातों से बचता रहे कि जो क्रोध की उत्पत्ति में कारण और आत्मा को रोग रूप है। अथवा उस दशा को कि जिस मे क्रोध हुआ है पलट देवे। अर्थात खड़ा हो तो बैठ जावे और बैठा हो तो सो जावे। अथवा उस स्थान को त्याग देवे। वा शीतल जल पीवे और क्षुधातुर हो तो कुछ खावे। चलता हो तो किसी छाया मे विश्राम करे इत्यादि।

यद्यपि उस समय क्रोध निवृत्ति के साधनों को तो कई लोग जानते होते है परन्तु उस दशा में यही बात मन को भाती है कि, जैसे-तैसे क्रोध को ही बढ़ाता रहूँ। परन्तु योग्य यही है कि प्राणी उस की निवृत्ति में शीघ्र यत्न करे।

प्रश्न—अब वे एकादश बातें भी प्रकट कीजिये कि जो क्रोध की उत्पत्ति में कारण और रोग रूप हैं।

उत्तर—हां, मै आप ही उनको प्रकट करना चाहता था क्योंकि उनके प्रकट करने में मुमुक्षु, वर्ग को बहुत लाभ होगा। सो सुनो :

यद्यपि मुख्य तो क्रोध की उत्पत्ति मे सर्वथा यह कारण होता है कि प्राणी अपने मनोरथ से शून्य रह के क्रोधाग्नि में तप्त होने लग जाता है परन्तु ग्यारह बातें जो गौण कारण रूप है वे ये हैं, जो नीचे लिखी जाती हैं :—

१ विवाद—विजय प्राप्ति के निमित्त कुछ संभाषण करना। चाहे कोई कितना ही मन को रोके परन्तु अति संभाषण से मन तप्त हो के अवश्य क्रुद्ध हो जाता है। उत्तमों का धर्म है कि संभाषण तब तक

करते हैं कि जब तक कोई उनके सामने किसी बात पर हठ न बाधे। क्योंकि हठी पुरुष के साथ अति सभाषण करना पड़ता और उस अति संभाषण का फल क्रोध है। महात्मा का यह नियम होता है कि यदि किसी को कुछ वाक्य कहना तो एक बार अथवा दो बार; तीसरे बार भी यदि वह न माने तो चुप हो जाना। यद्यपि उस समय चित्त अपने पक्ष को परास्त होता देख के येन-केन जीतने का उद्यम तो किया करता है परन्तु अन्त को बहुत दुःख पाता है। सच पूछो तो जीतना दो प्रकार का होता है। एक यह कि अपने बल से दूसरे को गिराने की इच्छा रखना। इसमें बहुत क्लेश है अर्थात् वैर, वैमनस्य, छल, कपट, झूठ, हठ, मान, दंभ क्रोधादिक मन्द व्यवहार इस का फल होते है। और कभी २ आप भी परास्त हो के महा लज्जा और भय से अपने प्राणघात को उपस्थित होना पड़ता है। दूसरा यह कि अपने हठ को छोड़ के उस समय चुप हो जाना। ऐसा पुरुष सहज में ही सर्व संसार को जीत सकता और क्रोधाग्नि के दाह से त्राण पाता है। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी येन-केन उस समय अपनी वाणी को मौन करे। और जो कुछ सत्य तथ्य अपने मन में भरा हुआ हो सो कालांतर में धीरे २ उसको सुनावे। फिर वह अपने आप ही लज्जित हो के अधोदृष्ट हो जाता है। योग्य है कि जहाँ विवाद, क्रोध और बैर होवे वहाँ दोनों को मूर्ख जानना चाहिए। क्योंकि जहाँ कोई एक भी बुद्धिमान हो वहाँ इन विकारों की उत्पत्ति असम्भव है।

२ घमण्ड—अपने धन, कुल, रूप, विद्या और जाति पर घमंड करना। घमण्डी पुरुष अपने को सब से अच्छा और बड़ा समझता है। इस कारण जब कोई उसकी पदवी से न्यून बात कहे वा आज्ञा न माने वा विरुद्ध उत्तर देवे तो अवश्य क्रोधाग्नि में दग्ध होने लगता है। इसी कारण प्रतिकार इसका यह बतलाया है कि प्राणी को सीधा और

सरल स्वभाव रखना चाहिये। क्योंकि सरल पुरुषों के मन में बात-बात की खेंच नहीं होती। देखो, कोई पुरुष जितना ऊँचा चढ़ता है गिरने के पीछे उतना ही अधिक दुःख पाता है। और जो नीचे पृथ्वी पर सोया पड़ा हो प्रथम तो उसका गिरना असम्भव है फिर चोट का लगना कैसे संभव हो। प्रकट है कि यदि घमण्डी पुरुष की पगड़ी किसी हेतु से उतर जावे तो सिर कटने के समान दुःखी होता है, और जो सरल की गिर पड़े तो झाड़ के फिर हँसता हुआ बाध लेता है।

३ ठट्ठा—मन बहलाने के अर्थ किसी को ऐसा वाक्य कहना कि जिस से सब लोग हँस पड़ें। इसमें अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जाता है। बहुत लोगों का स्वभाव है कि अपने मित्रों व पड़ोसियों के मिलने के समय उपहास मे गालियाँ दे दे के विलास करते है। सज्जन पुरुष चाहे कैसा ही क्रोध मे हो परन्तु कुवाक्य नहीं कहता। और दुर्जन पुरुष चाहे कैसा ही आनन्द में हो उसके मुख से हँसी मे भी वे वाक्य निकलते है जो उत्तम पुरुष महा क्रोध के समय भी किसी को नहीं कहते। उपाय इस रोग का यह है कि मनुष्य ठट्ठा और हँसी को सम्पूर्ण उपद्रवों का बीज समझ के त्याग देवे। अथवा यह सोचे कि जहाँ बहुत उपहास और ठट्ठा होता है वह स्थान प्रतिष्ठितों की दृष्टि में कभी श्लाध्य नहीं होता। अथवा यह सोचे कि हँसना चित्त की चंचलता से होता है और चित्त की चंचलता रजोगुण की अधिकता से होती है। रजोगुण की अधिकता को अनेक औगुणों की जनक और तमोगुण की समीपवर्त्तिनी होने से कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

४ दुर्जनता—किसी की हानि में प्रवृत्त होना वा छल, अन्याय, विश्वास-घात करना। ऐसा पुरुष आप तो प्रतिश्वास क्रोधाग्नि मे तप्त रहता ही है और जो उसकी दुर्जनता से पीड़ित हैं वे भी सदैव उस पर क्रुद्ध

ही रहते हैं। उपाय इसका यह है कि इसका रोगी यह विचार करे कि मेरा मन जो अपनी दुर्जनता के कारण सदा चिंतातुर और परितप्त रहता है, योग्य है कि मैं सुजनता अंगीकार करूं जिस से सर्वदा काल शांति रहती है।

सुजनता के ये लक्षण हैं जो हम तुमको अब सुनाते हैं सो चाहिये कि तुम उन को ग्रहण करो। और जहाँ ये लक्षण देखो वहाँ सुजनता का निवास समझो जैसा कि :—

तृष्णा को छेदन कर, कि यह सर्व व्याधियों का मूल है।
क्षमा को ग्रहण कर, कि यह सर्व सुखों का कारण है।
मदको त्याग दे, कि इससे सहस्रों उपद्रव खड़े होते हैं।
असत्य मत बोल, कि यह समस्त पापों का बीज है।
श्रेष्ठ आचार रख, कि यह सर्व सुखों की जड़ है।
विद्वानों की सेवा कर, कि इस में अनेक फल हैं।
अपयश से डर, कि इससे सम्पूर्ण अनाचार निवृत्त हो जाते हैं।
दीनों पर दया कर, कि मनुष्यत्व प्राप्ति का परम प्रयोजन यही है।

५ गर्व—अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर अभिमान करना। जब इस में थोड़ा-सा भी तारतम्य होता है तो क्रोधाग्नि दग्ध करने लग जाती है। उपाय इसका यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि गर्वी पुरुष किसी को प्रिय नहीं किन्तु व्यर्थ ही सब को शत्रु प्रतीत होता है।

६ निर्दयता—किसी को सताना। इसमें अवश्य परस्पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। प्रतिकार इसका यह है कि सब के सुख दुःख को अपना वा अपने समान समझे।

७ संघर्ष—एक ही बात को बहुत घसाना अर्थात् कई बार उच्चारण

करना। जैसा कि किसी पुरुष को कहा, तुम मन्दाचार का त्याग करो। जब उस ने कुछ उत्तर न दिया तो उसी बात को फिर कहना। जब उस ने फिर भी कुछ उत्तर न दिया तो फिर क्रूरता और बल से कहना। जब फिर भी उसे मौन ही देखा तो अब वक्ता को अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जावेगा। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि किसी बात का छुड़ाना वा अंगीकार कराना राज्य या शासक का काम है, मुझे तो केवल एक दो बार कह देना ही योग्य था। संघर्ष इस को भी कहते हैं कि किसी अन्य पुरुष से उन वस्तुओं और बातों का मागना और पूछना कि जिनका देना और प्रकट करना उसको भाता न हो। प्रतिकार इसका यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि जब मैं भी अपनी अनेक गुप्त बातों को मृत्यु पर्यंत प्रकट करना नहीं चाहता तो अन्य पुरुषों से पूछने में क्यों हठ करता हूँ? क्योंकि बहुत ऐसी बातें है कि जिनको पुरुष कभी प्रकट करना नहीं चाहता। हाँ, एक बात है कि यदि किसी को कोई ऐसी औषधि वा विद्या प्राप्त हो कि जिस से अनेक जीवों को सुख की प्राप्ति होती हो तो उसे अपने आप प्रकट कर देना चाहिये।

८ प्रमत्तता—जो व्यवहार श्रेष्ठ पुरुषों ने अकरणीय और त्याज्य ठहराये हों उनमें इस अभिमति से प्रवृत्त हो जाना कि हमारा कोई क्या विगाड़ सकता है। ऐसा पुरुष यद्यपि बहुतों का विरुद्धाचारी होने से सब को बुरा लगता है परन्तु वह अपने दुःखभाव के प्रताप से उलटा अन्य मनुष्यों को ही विरुद्धवर्ती समझता और सब से चिड़ा रहता है। अथवा थोड़ी २ बात पर ही अति क्रुद्ध हो के सब से वैर कर लेता है। यह कैसी आश्चर्य की बात है कि उसको अपने अपराध और क्रौर्य्य पर तो दृष्टि नहीं होती उलटा अति सरल और शुद्धाचारी पुरुषों को ही अपने शत्रु समझ लेता और बात बात मे उनके संग क्रोध प्रकट करता है। फिर इस प्रमत्तता के साथ और भी बहुत-से

अनर्थ हैं : जैसा कि प्रमत्त पुरुष सदा इस विचार में रहता है कि मैं जो सर्व संसार से विरुद्धाचारी होने से निंद्य गिना जाता हूँ इस कारण कोई ऐसा उपाय करूं कि जिस से मेरा आचार सबको सम्मत और श्रेष्ठ प्रतीत होवे। फिर वह कोई उत्तम उपाय तो कर नहीं सकता परन्तु इन दो उपायों—मिथ्याचार और हिंसा—को अच्छा समझ बैठता है जो अनर्थ रूप है।

मिथ्याचार—छल और कपट से बहुत लोगों के साथ प्रेम भाव रखना कि जिससे उसकी प्रमत्तता को कोई दोष न लगावे। वा उस के किये हुए कार्य को बिगाड़ न देवे।

हिंसा—जिस को अपने समान प्रमत्त वा अनम्र वा मुख तोड़ने वाला समझा, उस के प्राण हरण में यत्न करना। उस को जो किसी का भय नहीं, इस कारण विषदान, अग्निदाह, शस्त्रपात, राजदण्ड, आदिक कई क्लेश देने को उपस्थित हो जाता है। यद्यपि वह किसी २ शत्रु को तो पूर्वोक्त उपायों से जीत भी लेता है, परन्तु अजात-शत्रु हो के कभी आप भी नहीं बैठ सकता। क्योंकि उसको सबका विषमवर्ती जान के सारा संसार शत्रु बन जाता है।

प्रतिकार इस प्रमत्तता का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि यदि मन्द व्यवहार और त्याज्य कर्म में अग्रगण्य बनना उचित होता तो पूर्वाचार्यों ने इसमें उद्यम क्यो नहीं किया। अथवा यदि मेरे क्रौर्य्य और दुराचार के भय से किसी सरल और सौम्य पुरुष ने मेरी प्रमत्तता को सहार भी लिया तो जो पुरुष मुझ से अधिक वलवान और समर्थ है वे कैसे सहार सकेंगे। वरन् समय पा के अवश्य ही मेरा मुख तोड़ेंगे। इस कारण योग्य है कि सदा श्रेष्ठ पुरुषों का अनुयायी और अनुवर्ती रहूं। अथवा यह सोचे कि जो पुरुष बहुत लोगों से उलटा चलता और विषम आचार रखता है वह सबका शत्रु होता और मनो-मुख गिना जाता है।

प्रश्न—मनोमुख किस को कहते हैं ?

उत्तर—जगत् में दो भांति के पुरुष हैं, एक गुरुमुख दूसरा मनोमुख ।

गुरुमुख—जो अपने मन को सत्पुरुषों की रीति से चलावे। अर्थात् उनकी आज्ञा और रीति चाहे प्रत्यक्ष में कुछ दिन दुःखदायक भी प्रतीत हो परन्तु उसके अंतिम फल को सुखदायक समझ के येन-केन मन को उसका अनुसारी रखे। यदि उन की रीति में मन कुछ कष्ट मान के स्वेच्छाचारी बनना चाहे तो बलात्कार से उधर ही नियुक्त करे। बहुत लोग है कि जिन्होंने गुरुमुखता धर्म के पूर्ण करने को अपना चित्त मानों मृतक बनाया अर्थात् यह नियम धारा कि चाहे प्राण भी चले जावें परन्तु गुरु की आज्ञा के विरुद्ध जहां लों हो सके मैं कभी नहीं चलूंगा ।

इसमें इतनी बात और भी जानने के योग्य है कि वह गुरु केवल कान मे फूक लगानेवाला ही न हो किन्तु शिष्य के संशयो को भी छेदन करने वाला हो।

मनोमुख—जो गुरु और महात्मा सत्पुरुषों की बात पर कान न धर के केवल मन के कहने पर चले। जैसा कि बहुत लोगों का स्वभाव है कि जब मन्द कर्मों मे प्रवृत्त होने लगते है तो चाहे बुद्धि उनकी मन्दता को प्रकट भी कर देनी है तो भी मन के पीछे लग के उस मन्द कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। मन्द भोगों में प्रवृत पुरुष को कुछ काल तो चाहे सुख मिलता है परन्तु अन्त को वे अमृत रूप भोग विष रूप हो जाते है। मनोमुख पुरुष अपने मन के आधीन हुआ चाहे भोगादि में कई प्रकार के क्लेश भी देखता है तथापि मन को वश न कर सकने से प्रतिक्षण विषयासक्त रहता है। मनोमुख पुरुष को कुछ लज्जा, भय आदिक भी नही होते। कभी त्यागी, कभी ग्रही, कभी चोर, कभी साधु

कभी यति, कभी व्यभिचारी इत्यादि अनेक स्वांगों को एक क्षण में धारण कर लेता है। और ऐसी ऐसी निषिद्ध युक्तिया बना के जिधर मन चाहे उधर ही नाचता रहता है। जैसाकि :

'मनुष्य देह पा के जो हम मन भाते भोग न भोग लें तो फिर कब प्राप्त होंगे'।

'यदि मन ही भोगों से तरसता रहे तो जन्म का क्या फल है'।

'हम मर जायेंगे, जगत् छूट जावेगा, सब कुछ यहां ही रह जावेगा; हमारा तो वही है जो खा उड़ा जायें, नहीं तो क्या हम छाती पर ले जायेंगे' इत्यादि।

फिर मनोमुख पुरुष मन को किंचित् पीड़ित देख के सहस्त्रों लाभ और सुखों को त्याग देता है। और औषध के प्रयासरूप किंचित् कष्ट की भीति से रोगजन्य अत्यन्त पीड़ा को सहारता रहता है। अथवा पाक क्रिया में आयास मान के क्षुधा रूप अग्नि में जलता रहता है। तात्पर्य यह कि मन का घोड़ा बना रहता है। और मन उस पर आरूढ़ हो के उसे जहां चाहे ले जाता है। उससे यह नहीं हो सकता कि कभी आंख उघाड़ के देखे कि मन पापी मुझे कहां लिये जाता है और अन्त को मेरी क्या दशा होगी। मनोमुख पुरुष अपने इस अमोलक जीवन में विषयासक्ति, पर-निन्दा, वादानुवाद, चोरी, व्यभिचार, मान, मद, ईर्षा, बैर, द्रोह, क्रोध, कपट, आदिक पापों के सिवाय और कुछ उपार्जित नहीं कर सकता। और जब कभी किसी महात्मा की संगति से सन्मार्ग में भी चल पड़े तो थोड़े दिन ही स्थिर रहता है कि जब लों कोई कठिन क्रिया सामने न आ जावे कि जिसके करने से मन को कुछ बोझ-सा प्रतीत होने लगे। जैसा कि यदि कोई सज्जन उससे कहे कि तुम अशुद्धता को तज के नित्य स्नान, और मिथ्या भाषण छोड़ के सत्य बोलना ग्रहण करो तो उस सज्जन के दर्शन का त्याग कर देना

परन्तु उस शुभाचार का बोझ नहीं उठाना। योग्य है कि मुमुक्षु पुरुष मनोमुख मनुष्य का एक क्षण भी संग न करे।

६ परिवर्तन—चित्त का सद्दैवी (सनातन) यथार्थ स्वभाव से उलट के रोगी हो जाना। सो यह रोग दो प्रकार का होता है एक गुप्त, दूसरा प्रकट।

गुप्त रोग यह है कि सत्वादि तीनों गुण अपने समभाव को त्याग के न्यून वा अधिक हो गये हों। अथवा किसी चिन्ता, शोक, भय के विचार मे मन लगा हुआ होवे। क्योंकि उस समय मन का यह स्वभाव हो जाता है कि चाहे कोई उसके सामने प्रेम भाव और आनन्द की बात भी करे तो भी क्रोध की ज्वाला प्रचंड हो के दग्ध करने लगती है। उपाय इसका यह है कि यदि सत्वादि गुण न्यून व अधिक हुए हों तो बारंबार आत्म-चिकित्सा के ग्रन्थों का अध्ययन करे। और यदि किसी सोच संकोच वा चिन्तादि से मन तप्त है तो ऐसे एकांत स्थल में चला जावे कि जहां किसी का शब्द भी न सुनाई देवे। क्यों कि यदि जन समुदाय में रहेगा तो उसका किसी के साथ विरोध हो जावेगा। अथवा जब किसी के शब्दादि बुरे लगें तो अपना ही दोष समझे कि मैं जो इस समय चिन्तादि से ग्रस्त हूँ इस कारण मुझे सर्व संसार बुरा लगता है। सो योग्य है कि मैं इस समय जैसे बने अपनी जिह्वा को रोके रहूँ। अथवा चिन्तादि से ग्रस्त प्राणी को चाहिये कि यद्यपि उसको निद्रा तो नहीं पड़ा करती परन्तु जैसे तैसे मुख ढाप के सो जावे। इसमें दो फल हैं, एक यह कि यदि निद्रा आ जावेगी तो अवश्य ही मन स्वस्थ हो जावेगा। और दूसरा यह कि यदि निद्रा न आई तो एकांत पड़े रहने से लोगों के बोल चाल न सुनने पायेगा कि जो उस के मन को तपाते और क्रुद्ध करते है।

प्रकट रोग यह है कि शरीर में कोई ज्वर, शूल आदिक खेद और

व्रण, क्षत आदिक कष्ट होवे। इससे भी पुरुष का धैर्य टूट के ऐसा परि-तप्त हो जाता है कि बात बात में उससे क्रोध प्रकट होता है। परन्तु इस क्रोध को प्राणी के वश से बाहर होने के कारण बुद्धिमान दोषरूप नहीं मानते। क्योंकि जैसे शरीर के शिथिल-भाव में गोपनीय अंग उपाग की लज्जा शिथिल हो जाती है वैसे रोग-दशा में यदि बुद्धि के शैथिल्य से धैर्य्यादि बुद्धि-व्यवहार भी शिथिल हो जायें तो विचित्र नहीं। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी उस दशा में क्रोध निवृत्ति के निमित्त मौन का व्रत धारे कि मैं जल, औषधि मागने के सिवाय और किसी बात में जिह्वा नहीं खोलूँगा।

१० *प्रभुत्व*—अपने स्त्री, पुत्र भृत्यादि पर महत्व का होना। जहां प्रभुता होती है वहा मनुष्य अपने भृत्यादि के व्यवहार से क्रुद्ध हो जाता है। यह क्रोध दो प्रकार का होता है। एक स-कारण, दूसरा अ-कारण। यद्यपि स-कारण क्रोध को कई लोग निन्द्य नहीं मानते परन्तु मुमुक्षु पुरुष को उस से भी अवश्य बचना चाहिये क्योंकि वह धीरे २ अधिक हो के अ-कारण भी हो जाता है।

स-कारण क्रोध—यह है कि अपने आधीन पुरुषों के अपराध देख के क्रोध करना। उपाय इसका यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि जितना इनको बुद्धिबल, विचार है उतना ही कार्य वर्ग में प्रवृत्त होते है। यदि इन को मेरे समान बुद्धिबल होता तो मेरे आधीन क्यों होते। और यदि वह शक्त होकर अपराध करे तो भी उन पर क्रोध करना उचित नहीं, किन्तु शाति पूर्वक पृथक कर देना योग्य है।

अ-कारण क्रोध—इसका नाम है कि अपनी क्रूरता और कुटिल-ता के प्रताप से भृत्यादि पर वृथा ही अपराध आरोपण कर लेना और क्रोध प्रकट करना। जब किसी की ओर से मन परितप्त और क्रुद्ध होता है तो उसके अच्छे काम भी बुरे दिखने लग जाते है। फिर जब

क्रुद्ध पुरुष उसे भले बुरे दोनों काम में वारंवार झिड़कने दवकने लग जाता है तब अन्त को वह भी निर्भय हो के उसकी पगड़ी उतारने को उपस्थित हो जाता है।

११ दर्प—अपने हाथ से किये विना किसी अन्य के किये हुए अच्छे काम को भी अच्छा न कहना। तात्पर्य यह है कि दूसरा पुरुष चाहे कैसा ही बुद्धि और ज्ञान से काम को सुधार के लावे तो भी उसमें दोष निकालने। ऐसे पुरुष का मन न कभी आप शांति पाता और न कभी समीपवर्ती लोगों को सुख से बैठने देता है। चाहे कैसा ही धनी सम्पन्न हो तथा और अनेक चाकर और सेवक पास हों पर उसको अपने आवश्यक काम सदा आप ही करने पड़ते है। वह प्रतिश्वास लोगो के काम देख देख क्रोध करता और जल जल मरता है। और अपने किये हुए काम चाहे कैसे ही बुरे हों परन्तु जब कोई उनकी बुराई जताने लगे तो उन के गले का हार बन जाता है। सार यह कि दर्प भी क्रोध की उत्पत्ति में मुख्य कारण है। उपाय इसका यह है कि अपने सेवक वर्ग को अपने हस्त पदादि अंगों के समान प्रिय समझ के मन को दयालु और धीमा बनावे।

उपरोक्त ग्यारह बातो से क्रोध की उत्पत्ति होती है। जिसको इससे बचना हो वह इन ग्यारह बातों को समीप न आने देवे।

अब दूसरा जो कु-उद्योग नाम रोग कहा था उसका व्यवहार सुनो: उत्पत्ति उसकी तमोगुण की अधिकता से होती है और अर्थ उसका यह है कि अपने शौर्य्य के अभिमान से किसी काम को भारी न समझना। वरन् अपने प्राण को इस हेतु से हथेली पर लिये फिरना कि हम संसार में किसी से नहीं डरते। उपाय इसका यह है कि सदा इस बात को दृष्टिपथ रखे कि शूर-वीर वही है जो दुःख सुख, हानि, लाभ में व्याकुल न होवे और काम क्रोधादि शत्रुओ पर विजय पावे न कि

अपने प्राण को वृथा कष्ट देवे वा तुच्छ जीवों के भय का कारण बने। आश्चर्य है कि लोग बाहर के शत्रुओं के जीतने का तो यत्न करते है। किन्तु अन्तर के शत्रुओं की ओर कभी दृष्टिपात नहीं करते। जैसा कि काम और क्रोध, लोभ और मोह, ये चार शत्रु बड़े बलवान घर में बसते और प्रतिक्षण महा दुःख देते है। वाह्य शत्रुओं के जीतने को तो सारा जगत ही उद्योगी रहता है परन्तु ऐसे लोग बहुत थोड़े निकलेंगे कि जो काम कोधादि के वेग,को सहार सके। फिर इस कु-उद्योग से अभीति, हठ, और निठुरता इन तीन उप-रोगों की उत्पत्ति होती है।

अभीति—जिन स्थानो में सिंह, सर्प, वा शस्त्र आदिक का संघट्ट और मृत्यु का भय हो उनमे जाने को सब से अग्रणी हो जाना और ऐसे बड़े भारी शत्रु समुदाय से युद्धादि की इच्छा करना कि जो क्षण में उसका मुख तोड़ देवे। उपाय इसका यह है कि सदा इस बात को सोचे कि मनुष्य में जो बुद्धि है इसका यही तात्पर्य हैं कि प्राणी अपने हानि लाभ को पूर्व ही विचार के काम करे। जो कोई अपनी शक्ति से बाहर बुद्धि-वर्जित कार्यों और स्थानों में प्रवृत्त होना चाहता है वह अन्त को अत्यन्त दु खी होता और लज्जा का पात्र बनता है। देखो, यदि कोई तुच्छ और असमर्थ जीव अकेला ही किसी सेना समूह के साथ लड़ना और किसी भारी पत्थर को उठाना चाहे तो केवल उप-हास का पात्र बनेगा। अथवा अभीति के अभिमान मे सर्प के मुख में अँगुली देवे तो अपने जीवन धन को व्यर्थ खोवेगा।

हठ—इसका नाम है कि जिन कार्यों और व्यवहारो में बारंबार कष्ट और दुःखादि को उठाया हो उनको इन हेतु से न त्यागना कि लोग मुझे तुच्छ और असक्त तथा हार गया समझेंगे। अथवा थोड़े से लाभ और सुख के निमित्त अपने धन, मान, प्रतिष्ठा को नष्ट करना। जैसा

कि मूर्ख लोग बहुत-सा खाने और बोझ उठाने का हठ बांधते और राज द्वार मे वारंवार अपने झगड़ों में परास्त हो के भी हठ नहीं छोड़ते किन्तु आगे से आगे झगड़ा बढ़ाते जाते है। तथा तुच्छ लाभ या व्यभिविचार आदिक मे प्रतिष्ठा भंग कर लेते हैं। उपाय इस रोग का यह है कि संपूर्ण कार्यों के अन्तिम फल को बुद्धि तुला के साथ तोल के आरंभ किया करे। जैसा कि यदि मैं इस काम का हठ बांधूं तो क्या लाभ और क्या हानि होगी। सो यदि लाभ थोड़ा और हानि अधिक अथवा दोनों सम हो तो उसमे कभी प्रवृत्त न होवे। क्योंकि जिस कार्य मे आयास बहुत और फल तुच्छ हो उसका आरंभ नीति-वर्जित है।

निठुरता—शौर्य्य के अभिमान मे अनेक सामान्य जीवों को सताना। यद्यपि वह जान बूझ के तो ऐसा करना नहीं चाहता, परन्तु धीरे-धीरे उसका स्वभाव ही ऐसा निठुर हो जाता है कि उस के काया मन, वाणी से वैसी ही क्रिया उत्पन्न होती है कि जिससे स्वभावत. अन्य जीवों को कष्ट पहुंचे।

काया से यह कि, अकड़ ऐंठ के चलने में कई निर्बलो को धक्का लगना और ऊँची दृष्टि रखने के कारण सहस्रों सूक्ष्म जंतुओ का पावो तले दब जाना।

मन से यह कि, सदा यही विचार मन मे फुरते रहना कि अमुक पुरुष जो धन मे मुझ से उच्च है उसका धन नष्ट हो जावे। अमुक जो विद्या मे उत्कृष्ट है उसे विवाद से परास्त करूं। अमुक जो जगत् में पूज्य और श्लाघ्य है उसे कोई कलंक लगाके निन्द्य बना दूं इत्यादि। प्रथम तो पूर्वोक्त मन्द संकल्प केवल मन मे ही फुरते है और फिर जब कोई संकल्प बलवान हो जाता है तो देह से भी वैसी ही क्रियाये और वाणी से वैसे ही वचन निकलने लग जाते है कि जिनसे अन्य जीवों को दुःख मिले।

वाणी से यह कि, कठोर, ऊंचे व मानयुक्त वचन बोलना तथा दूसरों के सरल व मीठे वचनो का उत्तर भी कड़े तथा रूखे शब्दों से देना। यदि ठीक विचारो तो हिंसा, बैर, कपट आदिक समस्त पाप-व्यवहार इस निठुरता से ही प्रकट होते है। निठुर पुरुष जो किसी का दुःख देख के नम्र नहीं होता,इसी कारण उसे पुरुष-व्याघ्र कहना चाहिये।

तृतीय जो "क्लैव्य" नाम रोग कहा था उत्पत्ति उस की तमोगुण की न्यूनता से और अर्थ उस का यह है कि यद्यपि शरीर समस्त अंगों से सम्पन्न है और बल, धन, गुण, मान, परिवार आदिको में भी कुछ ऊणता नहीं, तो भी किसी अन्य बलवान के आधीन रहना और मन की तुच्छता के कारण अपने को किसी कार्य-व्यवहार के योग्य न समझना। ऐसा पुरुष अपने जीवन पर्यंत न कुछ अपना ही सुधार सकता है और न किसी दूसरे के काम आता है, किंच गोबर के कीट की नाईं उस का जन्म वृथा ही व्यतीत हो जाता है। सच है कि जो पुरुष न तो दाता हो न शूर-वीर, और न परोपकारी हो, उसकी जननी नव मास वृथा बोझ उठाती है। उपाय इस रोग का का यह है कि इस पुरुष को अहंकारी और मानी और महामना पुरुषों का संग करना चाहिये। क्योंकि इन के संग से जब वह कुछेक अपने सामर्थ्य और पराक्रम को समझने लग जावेगा तो उसे शौर्य्य धर्म की प्राप्ति हो जावेगी। फिर इस क्लैव्य से असक्ति, विस्मय, और भय, इन तीन उपरोगों की उत्पत्ति होती है।

अशक्ति—तुच्छ और सुगम व्यवहारों में भी सदा यही विचार करते रहना कि क्या जाने इस कार्य को मैं कर सकूंगा वा नहीं। अथवा इस इस कार्य की साधन-सामग्री मेरे पास है वा नहीं। अशक्त पुरुष इसी ऊहापोह मे कार्य का समय व्यतीत करके चुपाचाप बैठा रहता है। फिर थोड़े ही दिनों में उस अशक्ति के प्रताप से, प्राप्त सुखों

का विनाश और दारिद्र्य, आलस्य, चिंता, अकिञ्चनता आदिक के फलों की उत्पत्ति हो जाती है। उपाय इसका यह है कि जो जो कार्य आगे आवे यथाधिकार उसके करने को उद्यत हो बैठे और निश्चय रखे कि जब अन्य लोग धीरे २ संपूर्ण कार्यों को कर लेते हैं तो मुझे किस बात में ऊणता है। और लम्बी दृष्टि रखे अर्थात् यदि अब की बार यह कार्य सिद्ध नहीं हो सका तो दूसरे वा तीसरे आरंभ मे तो अवश्य ही सिद्ध कर लूंगा। तात्पर्य यह कि प्राणी को भरोसा न हारना चाहिये। क्योंकि यदि आपदा आने से पहिले कोई पक्षी भरोसा हार के अपने पक्षों को संकोचले और उड्डीयमान न होवे तो अवश्य मृत्यु पावेगा। और यथाशक्ति उद्यम करे तो बच जाना सम्भव है। ऐसा कोई कार्य नहीं कि जिस मे यथा रीति उद्यम करता हुआ पुरुष सिद्धि से शून्य रह जावे क्योंकि शक्ति से सब कुछ समीप ही है कुछ दूर नहीं। जैसा कि शक्तिवाली पिपीलिका चाहे तो धीरे २ सारी पृथ्वी का पर्यटन कर आवे। और अशक्त पुरुष सारी आयु मे अपने घर का द्वार न छोड़े।

अशक्ति यह पदार्थ है कि सासारिक व्यवहार अर्थात् खान, पान, भोग, लेन, देन आदिक क्रिया की सिद्धि और विपत्तिकाल मे सहिष्णुता आदि गुणो की प्राप्ति मे शक्त न हो सकना। और यदि कोई अन्य पुरुष सहायता और शिक्षादि प्रदान भी करे तो सांगोपांग ग्रहण न कर सकना किंच समस्त कार्यों में कांपते हुए ही प्रवृत्त होना। और यदि किसी कार्य के करते २ किसी ने थोड़ी-सी भी धमकी दी तो तुरन्त संपूर्ण अंगो का ढीले पड़ जाना। अथवा यदि कोई किसी सिंह, सर्प, चोर, शत्रु, शस्त्र आदि के पौरुष की बात सुनावे तो बैठे ही मूत्र निकल जाना तथा रात्रि को स्वप्न में चौंक-चौंक उठना। प्रतिकार इस का यह है कि अपने से निर्बलो और अशक्तो की प्रसन्नता को देखता

रहे कि वे अपने २ कार्यों में और सुखदुखादि साधनों में कैसे नियुक्त रहते है। सो यदि कोई उन को नहीं खा लेता तो मुझे कौन मारेगा। इस अशक्ति के दो भेद हैं एक न्यून, दूसरी अधिक ·

न्यून अशक्ति—यह है कि जब कोई काम अथवा कोई कठिनता सामने आवे तो उसे देख के दब जाना जैसा कि कई पुरुष चोरादि को देख के जागते ही सोतों-सा मुख बनाते और अपने समक्ष ही अपना घर लुटाते है।

अधिक अशक्ति—यह है कि देखा तो कुछ नहीं परन्तु जो विपत्ति दश वर्ष को आवेगी और जिन कठिनताओं का आयु पर्यन्त भी समागम नही पड़ेगा उनकी चिन्ता में आतुर रहना। जैसा कि कोई कहे कि भाई यदि दो चार वर्ष को दुर्भिक्ष वा राजविग्रह वा मरी पड़ जावेगी तो हम क्या करेंगे। अथवा यदि अमुक नदी जो यहा से बीस कोस पर बहती है हमारे नगर को बहाय ले जावेगी तो हम कैसे त्राण पावेंगे।

फिर वे अशक्त पुरुप चाहे मन के विकारों को जानते और उन के कारण सदैव दुःख भी पाते है परन्तु मन को अपने वश नहीं कर सकते। कई बार अनेक मन्द कर्मो से दुखित हो के यह नियम भी करते हैं कि फिर इस कुकर्म में जीवित लों प्रविष्ट नहीं होवेंगे परन्तु दो घड़ी भी नहीं पड़ती कि आप ही उस नियम को तोड़ देते है। उन के काया, वाणी, मन पर यह विश्वास कभी नहीं करना चाहिये कि वे जो कुछ करते वा कहते वा करना चाहते है सो अवश्य ही पूरा कर देवेंगे। यद्यपि वे सदा अपनी वाचा और नियमों को पूर्ण न कर सकने के कारण लज्जा उठाते हैं तथापि किसी बात पर दृढ़ता नहीं बाध सकते। यदि किसी की शिक्षा वा प्रेरणा से वे शुभ कार्यो में प्रवृत्त भी हों तो उतना काल ही रहते हैं कि जब लों कोई शुश्रूषा वा शरीर से टहल,

सेवा नहीं करनी पड़ती क्योंकि वे अपने हाथों से एक तिनका मात्र भी नहीं तोड़ना चाहते।

विस्मय—इस का नाम है कि जो बात वा वस्तु सामने आवे उसके ग्रहण, त्याग की सुध भुला के दर्शन मात्र में ही चकित हो जाना। बुद्धि में यह सामर्थ्य न रहना कि उस के याथा-तथ्य का निर्णय कर सके और निस्संशय होवे।

यह विस्मय दो भाति का होता है एक 'सांसारिक' दूसरा 'पारमार्थिक' :

सांसारिक—यह होता है कि जब संसार के किसी वस्तु और व्यवहार की अद्भुतता और नानात्व को देखना तो हाथ मलते रह जाना। अर्थात् यह कहना कि यह काम मनुष्य का किया हुआ नहीं किन्तु किसी देवता ने किया होगा। और जो काम किसी ने अपने चातुर्य्य से किया होवे उसमें सिद्धि आरोपण करके दासानुदास बन जाना। उपाय इस रोग का यह है कि जो जो आश्चर्य-कर्म जगत् में देखे उन को बुद्धिजन्य समझे। और निश्चय करे कि बुद्धिमान वैसे कई विचित्र कार्य कर सकते हैं, जिन को मूर्ख लोग कौतुक समझते है। सो यदि मैं भी इन कामों का आद्योपांत समझ के इन के समान करने लगू तो सब कुछ कर दिखाऊं। तात्पर्य यह है कि जिस कामको देखे उसके करने और समझने में उद्योग करे न कि चकित होके आँख मूंदे और हाथ पांव को ढीला कर ले।

प्रश्न—क्या जगत् में जो अनेक व्यवहार सिद्धि से किये हुए सुने जाते है वह सब कुछ बुद्धि-चातुर्य्य ही समझना चाहिये?

उत्तर—हमने जहा तक देखा सब बुद्धि-चातुर्य्य ही पाया। सो बस अब जो कई एक आश्चर्य-कर्मो का हमने अन्त देख लिया इस कारण किसी बात को देख के विस्मय नहीं होता।

प्रश्न क्या-क्या आश्चर्य हैं जिन को आपने देखा और उनका अंत समझ लिया है ?

उत्तर—नाम किस २ आश्चर्य का लें परन्तु संक्षेप से कुछ यहाँ लिख देते हैं। सुनो, कारण तो समस्त आश्चर्यों का बुद्धि-चातुर्य ही है परन्तु बुद्धिमानों ने उसे तीन भांति से प्रकट किया है अर्थात् यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र

यन्त्र—किसी पत्र पर कुछ लिख के कटि भुजा और कंठ में बांधना और उसके द्वारा शरीर की आरोग्यता और मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदिक आश्चर्यों की इच्छा करना। ये सब काम तो जगत् में आप ही होते रहते है परन्तु मूर्ख लोग कारण उसका उस यन्त्र को समझ लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि जैसे क्षुधातुर के गले में अन्न और प्यासे की कटि पर जल बाधने से क्षुधा, पिपासा रूप अन्तरीय रोग निवृत्त नहीं होते वैसे ही कटि, भुजा, कंठ में बांधा हुआ धागा और यन्त्र अन्तरीय रोगों को कैसे दूर करेगा।

मन्त्र— किसी वचन वा नाम को पढ़के फूकना और मारण, मोहनादि कार्य की इच्छा रखना। यह भी अज्ञान है क्योंकि बिना गाली और आशीर्वाद के अपने मुख से कहा और पढ़ा हुआ अन्य शब्द किसी भी दूसरे पुरुप के मन को नहीं हिला सकता। हा, यदि गाली और आशीर्वाद को सिद्ध मन्त्र कहो तो कुछ झूठ नहीं, क्योंकि इन दोनो मन्त्र का फल प्रत्यक्ष में दिखाई देता है।

तन्त्र—वस्तुवर्ग के मिलाने से मारण, मोहन आदिक व्यवहार की इच्छा रखना। सो यह तन्त्र अवश्य फल दाता है क्योंकि वस्तुवर्ग में ऐसी विचित्र शक्तियां है कि जिन से अत्यन्त आश्चर्य कर्म प्रकट हो सकते हैं। जैसा कि विष में मारण शक्ति, घृतादि मे पुष्टि शक्ति प्रसिद्ध है। फिर वस्तुओं के संयोग में अनेक ऐसे आश्चर्य देखे जाते हैं कि

जिन से मनुष्य अत्यन्त चकित हो जाता है। जैसा कि किंचित गंधक और क्षारक अर्थात शोरा और कोयलों के संयोग से बनी हुई बारूद से अति ऊँचे मन्दिर और पर्वतादि भी क्षण मात्र मे ढह जाते है।

हाथ पर सरसों का उगाना, दिन में तारों का दिखाना, आकाश मे उड़ना, नदी पर विना आश्रय के चलना, अग्नि को शीतल कर देना, जल को आग लगाना, एक क्षण में आम का वृक्ष उगाना, इत्यादि जो २ इन्द्रजाल आश्चर्य रूप प्रकट हो रहे है जाहे वे सब वस्तुओं के संयोग या क्रिया-चातुर्य से ही होते हैं परन्तु स्थूल बुद्धिवाले लोग इन को दृष्टि-रोध वा मन्त्र-क्रिया समझ के चकित हो जाते हैं। लोगों का स्वभाव है कि जो काम अपनी बुद्धि से बाहर कहीं देखते है तो उस में यह नहीं सोचते कि इस को किसी ऐसे बुद्धिमान ने किया होगा जो मुझ से अधिक है किन्तु किसी सिद्ध वा देवता का किया हुआ मान बैठते है।

संसार की दृष्टि मे जो लोग सिद्ध थप रहे है यदि उनके अंतरीय कुकर्मों को लिखने लगे तो मुख्य प्रसंग छूट जाता है परन्तु सामान्यतः कुछ लिखते है। ये सिद्ध लोग जब अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त किसी को ऐसे वचन कहते है कि जा तेरा पुत्र मरे वा घर जले तो अपनी वाचा पूरी करने के लिए उसके पुत्र को गुप्त में विष खिलाते और घर को आप ही किसी गुप्त प्रकार से आग लगा देते है। धिक् है ऐसे सिद्ध और उनकी बुद्धि को।

पारमार्थिक विस्मय—इसके कई भेद होते हैं अर्थात् ऐसी २ बातों में सदा विस्मय रहना कि ईश्वर है वा नहीं, जगत् कैसे बना, कब बना, काहे मे से बना, किसने बनाया, क्यो बनाया, कब बनाया तथा पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि, आकाश आदि के भिन्न २ स्वभाव और व्यवहार कैसे और क्यों हैं इत्यादि। इन सम्पूर्ण विस्मयों का उपाय

केवल महात्मा का सग और विद्या तथा यथार्थ विचार है अन्यथा ये विस्मय कभी निवृत्त नहीं हो सकते। इस विस्मय नाम रोग से कभी २ अध्रुवता नाम एक अवान्तर रोग भी उत्पन्न हो जाता है अर्थात् कभी किसी मत पर श्रद्धा करना और कभी किसी पर, इस प्रकार दो चार वर्ष भी किसी पर ध्रुव या दृढ न रहना।

भय—थोड़ी २ बात से अत्यन्त भय करने लग जाना। इस रोग का यह स्वभाव है कि चाहे कैसा स्थूल-देह और बलवान पुरुष होवे तथापि सर्व प्रकार मन धड़कता रहता है। उपाय इसका यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि जिन बातों से मैं भय करता हूँ क्या जाने वे झूठ है वा सत्य। यद्यपि भय तो ससार में अनेक भांति का होता है परन्तु उनमें से तीन भांति का भय बहुत प्रसिद्ध है :

१ अपने अप-कर्म का भय, जो क्रिया अपने तन मन से हुई हो उस का भय रहना। जैसा कि चोर और व्यभिचारी वा निन्दक तथा विघातक को होता है। सो उपाय इसका यह है कि प्राणी अपने पूर्व अपराधों से पछता के आगे को यह नियम बाधे कि मैं गुप्त प्रकट किसी स्थान में कभी कोई अपराध नहीं करूंगा। अथवा यदि राजा उसका दण्ड देवे तो उसको सहार लेना; क्योंकि वह किये का फल है न कि कुछ वृथा दण्ड मिलता है। इस भय के कारण जो बहुधा झूठ बोलना और धन लुटाना, आत्मघात करना, इत्यादि उपद्रव बन पडते हैं इस कारण इसको झट ही त्याग देना योग्य है, नहीं तो जब लों रहेगा विविध पाप करावेगा।

२ भूत, छाया, टोना, ग्रह, पितृ आदिक का भय, अर्थात् जब किसी अँधेरे स्थान में जाना अथवा किसी दुःख में अचानक ग्रस्त होना तो डर-डर मरना। उपाय इस रोग का यह है कि प्राणी वह विद्या अध्ययन करे कि जिससे भूतादि का होना और न होना निश्चय हो

जावे। यद्यपि इस बात को सब की बुद्धि जान सकती है कि मनुष्य के देह में भूत के प्रवेश और रहने को कोई स्थान नहीं और न अरूप वस्तु की छाया वा बोझ ही किसी को दबा सकता है, तथापि बाल्यावस्था की गृहीत शिक्षा के कारण वे निर्भय नहीं हो सकते। उलटा यदि कोई दयालु बुद्धिमान उन्हें उत्तम युक्तियां सुना के भूतादि के भय से निवृत्त करने लगे तो उस उपदेष्टा को नास्तिक वा अशुद्ध कह के निन्दा करने लग जाते हैं।

प्रश्न—मैंने तो बहुत स्त्री॰ पुरुष भूत-ग्रस्त देखे और लोग इन की छाया से मृत्यु पाते भी सुने हैं क्या आप मन्त्रादि की नाईं इन का आवेश भी नहीं मानते?

उत्तर—तुम तो क्या भारत खण्ड मे से ऐसे लोग बहुत थोड़े निकलेंगे जो भूतादि का भय न रखते हों। अच्छे २ विद्वानो को भी देखा है कि जब कोई अचानक पीड़ा आ जावे तो कारण उस का भूत या छाया मान के औषधि में तो उद्यम नहीं करते परन्तु झाड़-फूंक करने कराने लग जाते है। सच तो यह है कि जब किसी स्त्री, पुरुष को तुम भूत-ग्रस्त देखो तो या तो वहाँ उस रोगी का कोई चरित्र समझो या और कोई रोग विशेष, कि जिसके कारण वह अचेत होकर कुछ यद्वा तद्वा बकने लग जाता है।

एक बात मैं परीक्षा के योग्य तुम को सुनाता हूँ कि जिस बालक ने भूत और हाऊ आदिक का जन्म से ही कभी नाम न सुना हो उसे अन्धेरी रात के समय श्मशान भूमि आदिक भयानक स्थान मे भी अकेला छोड़ दें तो किंचित भय नहीं करेगा। और जिस ने जन्म से ऐसा कुछ नाम सुन रखा है वह अपनी ही छाया को भूत मान के डरने लग जाता है। कई लोगों ने अपने ही मन से भूतादि का भ्रम उठा के मृत्यु पाई है क्योंकि यह बात निश्चित है कि मन मे जिस वस्तु का

दृढ़ विश्वास बैठा हुआ हो कभी २ उस का झूठा स्वरूप भी मन में कल्पित हो के असल-सा प्रकट हो जाता है। इस हेतु से अब तुम यही समझो कि यह भूतादि का भय केवल उन्हीं पुरुषों को होता है कि जो जन्म से इन के नामादि सुनते रहे है।

३ मृत्यु का भय, यह सबसे बड़ा है और सच पूछो तो इसी के कारण सारे भय होते है और समस्त भयों का बीज भी यही है। क्यों कि जब कुछ भय होता है तो उसमें बहुत कुछ संशय मृत्यु का ही होता है। जिसको जीने का मोह नहीं उसे किसी का भय नहीं। इस मृत्यु का भय होने में तीन कारण हैं :

एक यह कि ये जो सुन्दर मन्दिर और चन्द्रमुखी स्त्री और मनोहर पुत्र वा मित्र मेरी दृष्टि में आते है वे सब छूट जायेंगे। और मैं जो संसार की अनन्त रचना और विचित्र भोगों में अनुरागी हो रहा हूँ इन्हें फिर कहाँ पाऊंगा। तात्पर्य यह कि जिन पदार्थों के मिलाप में आनन्द होता है उन के वियोग को सहारना कठिन हो जाता है। मृत्यु दशा में जो सर्व संघात से वियोगी होना पड़ता है, इसी कारण इस से सब कोई डरता है। इसका उपाय यह है कि जिस किसी ने इस कारण को निवृत्त करना हो वह जन समुदाय से अत्यन्त संग और समीपता को त्याग के एकांत सेवी रहे। जिससे समीपता के अभाव से संसार में अनुराग नही होगा और अनुराग के अभाव से मृत्यु के समय वियोग जन्य उपताप और भय भी नहीं होगा। जिस वस्तु में अनुराग नहीं उस के वियोग में किसी को दुःख नहीं होता।

दूसरा कारण मृत्यु के भय मे यह होता है कि मैं नष्ट हो चला, मेरा जगत् से नाम मिट जावेगा। उपाय इस कारण की निवृत्ति का यह है कि वह प्राणी पहले इस बात को विचारे कि जब एक दिन मृत्यु का आना अनिवार्य है तो उस से भय करने में क्या लाभ है ? वह चाहे

आज आ जावे चाहे दश वर्ष में; परन्तु मरना एक दिन अवश्य होगा।

दूसरा उपाय इस कारण की निवृत्ति का पराविद्या का ज्ञान है। उस के प्राप्त करने से यह निश्चित हो जावेगा कि मैं इस एक देह के नष्ट हुए से नष्ट नहीं होता क्योंकि मैं केवल यह एक देह ही नहीं हूँ किन्तु सर्वमय हूँ।

फिर एक यह उपाय भी इस कारण की निवृत्ति का है कि सदा इस बात को दृष्टिपथ रखे कि प्रथम तो सदाकाल कभी किसी का नाम जगत् पर नहीं रहता और यदि नाम रह भी गया तो मरने के पीछे वह मेरा क्या बनावेगा। नाम तब लों ही सुख देता कि जब लों देह बना रहे। वे लोग बड़े मूर्ख हैं जो देह पात के पीछे किसी पदार्थ की कामना रखते हैं।

मृत्यु के भय में तीसरा कारण यह है कि देह पात के पीछे क्या जाने मेरी क्या गति होगी और कैसे कैसे सुख दुःख मुझे भोगने पड़ेंगे। उपाय इस कारण की निवृत्ति का यह है कि प्राणी यथार्थ ज्ञान अर्थात् पराविद्या को प्राप्त करे। अथवा जिन मन्द कर्मों के करने से देह पात के पीछे इस ने परलोक का दण्ड और दुःख सुना हुआ है उन को कभी न करे। हम ने बहुत परीक्षा के पश्चात् यह निश्चय किया है कि परमेश्वर और परलोक के भय द्वारा पाप कर्म से बचने वाले लोग तो बहुत दुर्लभ प्राप्त होते है परन्तु जितने लोग मन्द कर्म को त्यागते हैं उनके मन में केवल राज-दण्ड वा लोकापवाद का ही भय होता है। हम सच कहते हैं कि यदि राज-दण्ड जगत् से उठ जावे तो परमेश्वर और परलोक-दंड के भय से मन्द कर्म का त्याग कोई कभी न करे। देखो, कई कर्म परलोक में दंड देने वाले और परमेश्वर को कुपित करने वाले जगत् में ऐसे भी है कि जिन के करने से राजा कुछ

दंड नहीं देता तो प्राणी परमेश्वर और परलोक के भय से उन्हें कभी नहीं छोड़ता। और जिसमें राज-दण्ड दिखाई देवे उसके करने में कभी उद्यम नहीं करता। जैसा कि देखो, दयालु परमेश्वर की दृष्टि में किसी जीव को दुःखी करना श्रेष्ठ नहीं और वह उस का दण्ड देता शास्त्रों से सुना जाता है परन्तु भेड़, बकरी आदि के मारने मे जो किसी को राज-दण्ड कुछ नहीं होता, उन्हे तो सब कोई निर्भय हो के दुःखी करता और मार के खा लेता है और मनुष्य के मांस खाने में कोई उद्यम नहीं करता कि जिस के मारने मे राज-दंड मिलता दिखाई देता है। अत' सिद्ध है कि जो लोग परमेश्वर और परलोक का भय प्रकट करते हैं वे वाचनिक है सच्चा भय राज-दंडादिक का ही है।

बस जो कोई इन सम्पूर्ण रोगों से बचे उस में यथार्थ शौर्य्य की प्राप्ति समझो नहीं तो कोई शूर-वीर नहीं कहा जा सकता। जो लोग मूर्खों की नाईं सिह, सर्पादि के मुख में अँगुली दे कर तथा कूपादि को लांघकर शौर्य्य को प्रकट करते हैं, वे शूर-वीर नहीं किन्तु जड़ है।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-
प्रवाह पूर्व भागे आत्म चिकित्सायां
तमो गुण वर्णनं चतुर्थस्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नमः

अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रन्थस्य पूर्वभागः

अथ पञ्चम तरङ्गस्यारम्भः
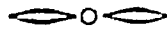
प्रश्न—अब यह बात वर्णन कीजिये कि जैसे सत्वादि तीनों गुण मलिन और न्यून अधिक हो जाते है वैसे क्या संवित्, संतोष, शौर्य्य इन तीनों धर्म का भी स्वभाव है कि कभी मलिन और न्यून अधिक हो जावे। और क्या इनकी समता से कोई और धर्म भी प्रकट होता है ?

उत्तर—जैसे सत्वादि तीनों गुण की मलिनता और न्यूनता अधिकता से रोग, और समता से सुधर्मों का प्रादुर्भाव है वैसे ही संवित् आदिक तीनों धर्म की व्यवस्था है। सो इन तीनो धर्म के रोगादिक तो पूर्वोक्त रोगों के अन्तर्गत होने से भिन्न कथन करना गौरव है, परन्तु समता जन्य न्याय नाम सुधर्म को अब प्रकट करते है।

जैसे सत्वादि तीनों गुण की समता से संवित्, सन्तोष, शौर्य्य ये तीन धर्म प्रकट हुए वैसे ही इन संवित् आदिक तीन धर्म की व्यवस्था है। सो इन की समष्टि-सम-अवस्था से न्याय नाम सुधर्म प्रकाशित होता है। अर्थात् जहां ये तीनो सम होकर रहते हैं वहा न्याय का निवास होता है। न्याय का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण व्यवहारों में यथार्थता को दृष्टिगोचर रखना अर्थात् किसी व्यवहार मे न्यूनता अधिकता न होने देना किंच जो कुछ करना वा वरतना हो वह समभाव और ऐसी रीति से हो कि अन्याय रूप न होने पावे। यह न्याय बड़ी

सूक्ष्म वस्तु हैं जो कि किंचित् अविचार से नष्ट हो जाता है। सो योग्य है कि मुमुक्षु सर्वदा काल इस की पूर्त्ति और रक्षा में यत्न करता रहे। जैसा कि मतांतर वादी लोग कोई कर्म, कोई ज्ञान, कोई योग तथा कोई तप, तीर्थ को मोक्ष का कारण कहते हैं वैसे ही हमारे मत अर्थात् पराविद्या में केवल न्याय अर्थात सम्पूर्ण व्यवहारों के सम भाव को मोक्ष में कारणता है।

प्रश्न—पीछे आप अन्तःकरण की शुद्धि को मोक्ष का कारण कहते रहे और अब न्याय को मोक्ष की कारणता कही, इस में मुझे बड़ा सन्देह हो गया कि प्राणी किस बात को सत्य माने ?

उत्तर—अन्त करण की शुद्धि अर्थात् आत्मा की चिकित्सा उसी का नाम है कि जहां न्याय हो और जहां न्याय नहीं वहा अन्त करण की शुद्धि भी नहीं कहनी चाहिये। जो लोग केवल ज्ञान और व्रत, जप, तप, तीर्थादि से अन्त'करण की शुद्धि मानते हैं वे अल्पज्ञ हैं। अन्त करण शुद्ध तब ही होता है कि जब सत्वादि तीनों गुण समभाव पर हों और उन की समता से संवित्, सन्तोप, शौर्य्य और इनकी समष्टि-सम-अवस्था से न्याय प्रकाशित होवे। सो बस. यही मुक्ति का कारण और संपूर्ण सुखों का मूल है। जब किसी को न्याय धर्म की प्राति हो जावे तो उसे अन्य किसी साधन या धर्म की अपेक्षा नहीं रहती। सम्पूर्ण साधन—धर्म—इस के अन्तर्गत हो जाते है। न्यायवान् पुरुष के समान कोई भो सुखी नहीं होता, क्यों कि वह अपने न्याय के प्रताप से सर्वदा काल मत्त गज की नाईं प्रसन्न रहता है। उसे कभी किसी विपत्ति में फॅस के हाय हाय नहीं करना पडता। और न उससे कभी कोई अपराध होता है कि जिस का अन्त: फल उसको दु:ख रूप भोगना पड़े। जहा यह न्याय वर्त्तमान हो वहा ये दश धर्म और उसके सहवर्ती रहते हैं ·

१ अनुग्रह—किसी को दुःखित देखे तो मन में खेद मान के उस की निवृत्ति में यत्न करे।

२ शुभ सम्बंध—आपस में ऐसी रीति से कार्य व्यवहार को करे कि साभी का मन दुःखित न होवे। बहुत लोग हैं कि जब लों उन से कुछ व्यवहार नहीं पडता महा सरल और प्रेमी प्रतीत होते हैं परन्तु व्यवहार पड़ने पर पूरे नहीं उतरते। मनुष्य की पूर्णता की परीक्षा को व्यवहार एक उत्तम कसौटी है। सो पूर्ण वही है कि जो व्यवहार और अति समीपता मे आद्योपांत एक समान रहे।

३ विवेचना—जिस का जो अधिकार है उसको यथार्थ रीति से विचारे और पूर्ण करे। यह दो भाति से होता है, एक व्यवहार में दूसरा सत्कार मे :

व्यवहार में—यह कि जिस का जो भाग हो उसको उससे अपने लालच और वल तथा बुद्धि और किसी युक्ति से अभागी न करे। जैसा कि पंच और राज-भृत्य लोग घूस के लालच से भागी को अभागी वना देते हैं। यह व्यवहार जो सर्व संसार को निन्दक और शत्रु वना देता है अत. उसका नाम महा पाप रखा गया है।

सत्कार में—यह कि अपने विद्या, धन, वल आदि के अभिमान से किसी अन्य के मान सत्कार का लाघव न करे। यह भी दो प्रकार से होता है :

एक यह कि जव किसी के पास जावे तो उस की प्रतिष्ठा को भंग न करने लगे।

दूसरा यह कि यदि कोई अपने पास आवे तो उसकी यथाधिकार प्रतिष्ठा और सत्कार करे। अनेक साधु वा पंडित वा धनी ऐसे देखने मे आते हैं कि अपनी उच्चता प्रकट करने के लिये समागत पुरुषों से निरादर से वोलते और उन्हें अनाधिकारिता से वैठाते है। यद्यपि वह समागत

पुरुष किसी अर्थ में सम्बद्ध होने के कारण उस समय तो कुछ वाक्य नहीं बोलता परन्तु इसकी क्रूरता को मृत्यु पर्यंत मन से नहीं भूलता और पलटा देने की घात में लगा रहता है। आश्चर्य है कि वे मानी लोग यह नहीं सोचते कि इस रूखाई और क्रूरता से हमारी उच्चता और निराकाँक्षिता नहीं उलटा अत्यन्त लघुता और साकाक्षता प्रतीत होती है कि जो अपनी उच्चता को दूसरे के मन मे भरनी चाहता है। योग्य तो यह है कि अपने पास आये हुए पुरुष को आप अमान हो के भी मान दान करे। कई मूर्ख यह कहा करते है कि हमारा मन दीन पुरुषों का तो मान सत्कार करना चाहता है परन्तु मानी और प्रतिष्ठा वानों का नहीं; क्योंकि उनके मानादि करने में हमारी तुच्छता और लघुता पाई जावेगी। उनको सोचना चाहिये कि जेसे अन्न और जल का दान भूखे और प्यासे से छीन के तृप्त और अचाह पुरुष को देना व्यर्थ और उसको दु:खदायक होता है वैसे ही मानी पुरुष जो आदर सत्कार का भूखा होता है उसे आदर न दे के किसी दीन पुरुष को मान देने लग जाना भो व्यर्थ और दु:खदायक है। सो योग्य है कि प्राणी मान देना मानी पुरुषों के लिये ही श्रेष्ट समझे, नहीं तो वे अमान हो के अत्यन्त दु:खित और कोपित हो जाते है।

४ प्रीति—सच्चा प्रेम, कि जिस से दोनों का भेद मिट जावे और सम्पूर्ण व्यवहारो में सत्व परत्व का विचार न रहे। जैसा अपने देह में प्रेम होता है वैसाही एक का दूसरे के शरीर में होवे। और दोनों के काया मन वाणी सत्य से पूर्ण हो और कभी भी झूठा व्यवहार बीच में न आने पावे। यद्यपि प्रीति का अंश सम्पूर्ण पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष के हृदय मे होता है परन्तु यह प्रीति दो प्रकारकी होती है। एक स्वभाव सिद्ध, दूसरी कृत्रिम या बनावटी :

स्वभाव सिद्ध प्रीति—वह है जो अपने आप स्वभाव से हो कि

जैसी माता की पुत्र से होती है। सो पुत्र चाहे कैसा ही दुःस्वभाव होवे परन्तु माता का प्रेम उससे दूर नहीं होता। आश्चर्य है कि बहुत से दुष्टात्मा लोग माता के प्रेम और उपकार की स्मृति नहीं रखते।

कृत्रिम प्रीति—यह है कि जैसे अध्येता की अध्यापक से होती है। सो इस प्रीति को इच्छा मूलक होनेसे कई भांति की जानना चाहिये। एक यह कि जो शीघ्र हो और शीघ्र ही नष्ट हो जावे। दूसरी वह कि जो बहुत काल मे उत्पन्न हो और बहुत काल में ही जावे। तीसरी यह कि जो बहुत काल मे हो और शीघ्र नष्ट होवे। चौथी वह कि जो शीघ्र हो और बहुत काल मे जावे। इस इच्छा मूलक प्रीति का मुख्य कारण लाभ होता है सो जितना शीघ्र मनोवांछित पदार्थ का लाभ हो जावे उतनी ही शीघ्र प्रीति नष्ट हो जाती है। योग्य तो यह है कि जहां लों हो सके प्राणी शुद्ध प्रीति के पूर्ण करने की इच्छा रक्खे।

प्रश्न—क्या कोई प्रीति अशुद्ध भी होती है?

उत्तर—हां, अशुद्ध प्रीति वह है कि जिस का पीछे तृतीय तरंग में आसक्ति नाम से कथन हो चुका कि जिस से मूर्ख लोग किसी स्त्री वा बालक का बाह्य सौंदर्य्य देख के ऐसे सम्बद्ध हो जाते हैं कि अपना धन, मान, गुण सारा नष्ट कर देते है, परन्तु छूट नहीं सकते। इस प्रीति को रोगरूप होने से बुद्धिमान अशुद्ध और त्याज्य कहते हैं।

५ दातृत्व—जिस आनन्द और ऐश्वर्य्य से आप विभूषित हो, अन्य पुरुषों को भी उस मे युक्त करना चाहे। यह दो भांति से होता है एक अन्तर, दूसरा बाह्य :

अंतर—यह कि जो ज्ञान, विद्या और बुद्धि द्वारा अपने को सुख प्राप्त हुआ हो उसे अन्य पुरुषों पर भी प्रकट करे। बहुत लोग इस हेतु से अपना गुण दूसरे को नहीं सिखाते कि यह हमारे तुल्य हो जावेगा अथवा हमारी आजीविका बिगाड़ेगा।

उनकी पहली बात कि कोई हमारे तुल्य न हो जावे महा अन्याय रूप है क्योंकि वे सब को अपने से छोटा रखना चाहते हैं।

उनकी दूसरी बात कि हमारी आजीविका बिगाड़ेगा, अज्ञान रूप है क्योंकि जगत् में अनेक लोग एक ही व्यापार करते है परन्तु किसी की जीविका नष्ट नहीं होती। फिर एक ही गुण के दो गुणियों में एक की जीविका कैसे बिगड़ सकती है।

६ कृतज्ञता—जो फल दूसरे से पावे उससे अधिक फल पहुँचाने की इच्छा रखे। और उसके उपकार को कभी मन से दूर न करे। इस में एक यह बात भी जानने योग्य है कि जो भला फल अपने को किसी से पहुँचा हो तो सदा स्मृत रखना चाहिये और यदि बुरा फल पहुंचा हो तो उसे मन से भूल जाना चाहिये। पलटा देने की घात में रहना श्रेष्ठ नहीं। प्राणी को सदा दो बातें स्मर्त्तव्य और दो बातें विस्मर्त्तव्य हैं।

स्मर्त्तव्य—एक यह कि, अमुक पुरुष ने हमारे ऊपर अमुक समय उपकार किया है सो जैसे बने उसकी कृतज्ञता में लगे रहना चाहिये। दूसरी यह कि मृत्यु सर्वदा काल समीप है। मृत्यु के स्मृत रखने में यह फल है कि सम्पूर्ण मन्द कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं। देखो, यदि किसी को यह निश्चय हो जावे कि मैं इस सप्ताह में मृत हो जाऊंगा तो फिर बैर, छल कपट, अहङ्कार आदिक कुकर्म से अवश्य भय करने लग जाता है क्योंकि वह जानता है कि अब चला चली है और कभी पथिगृह के पाथ की नाईं किसी बड़े कार्य का कि जिस से नाना क्लेश और उपद्रव उत्पन्न हो जायें आरम्भ नहीं करता। वह यह भी जानने लग जाता है कि जैसे कोई भागती हुई गाड़ी की छाया में सोने से कुछ सुख नहीं पाता वैसे ही अब मृत्यु ग्रस्त और चले जाते शरीर से भोगो की कामना क्या और कब तक सुख देवेगी।

विस्मर्त्तव्य—एक यह कि, यदि अपने तन मन से किसी अन्य के ऊपर उपकार किया हो तो उस को ऐसा विस्मृत कर छोड़े कि कभी भी वाणी पर न आने पावे। क्योंकि यदि गुप्त रखे तो जिस पर उपकार किया हो वह सदा प्रेमी बना रहता है। और यदि कोई प्रकट कर देवे तो वह-लज्जित हो के एक वाक्य में उपकारी के उपकार को शिर से उतार फेकता है। और दूसरी यह कि यदि किसीने तुम्हारे साथ कुछ अपकार किया हो तो उसे भी विस्मृत कर दो अर्थात् पलटा देने की घात मे न लगे रहो। इसमे वह तुम्हारी सहिष्णुता देख के सदा अपने को धिक्कार करता और तुम्हारे सन्मुख लज्जित रहेगा। जैसाकि एक महात्मा को किसी दुष्ट ने गाली दी तो उसने सहिष्णु होकर प्रणाम कहा। फिर जो उसने नित्य गाली देना आरंभ किया और उसने प्रणाम करना, तो अंत को प्रणाम ने उस दुष्टके मन को ऐसा झुकाया कि मृत्यु पर्यंत उसका दास हो गया और गाली देने के बदले प्रणाम करता रहा।

७ अनृणित्त्व—जो कुछ किसी दूसरे का तुम्हारे ऊपर ऋण चढ़ा हुआ हो विनो जताने किसी उपकार के अथवा विना साधे किसी अपने अर्थ के, वह उसे पहुँचा देना। बहुत लोग हैं कि जब किसी दीन पुरुप से कुछ वस्तु मोल लेते हैं तो मोल देने के समय उस दीन को डराते वा धमकाते वा थोड़ा देना चाहते अथवा देने से पूर्व उससे दश वीस काम करा लेते हैं और फिर भी यदि देने लगते है तो कहते हैं कि जा, हमने तेरी दीनता देख के दया की, नहीं तो कभी न देते।

८ योग्यता—समस्त जीव वर्ग के साथ उसकी समझ और शक्ति के योग्य वात करे। तथा उस ही के अनुसार काम ले और उतना ही आदर सत्कार करे। क्योंकि इस रीति से सब का मन प्रेम करने लग जाता है। देखा गया है कि यदि किसी के योग्य और अनुकूल वात-

चीत वा क्रियादि करो तो वह चाहे कैसा ही क्रूर हो, प्रेम करने लग जाता है। और यदि प्रतिकूल करो तो चाहे कैसा ही सुहृद हो, विमन हो के बैर बांध लेता है। इस कारण उचित है कि सब के साथ यथा-योग्य रीति से मिले व बरताव करे।

प्रश्न—यदि बुद्धिमान पुरुष अशुद्धाचारी मूर्ख लोगों के साथ उन की प्रसन्नता ओर अनुकूलता के लिये उनके सदृश आचार कर ले तो उन के स्वभावादि की मन्दता जता के उन्हें सुमार्गगामी कौन बनावेगा ?

उत्तर—हमने यह नहीं कहा कि बुद्धिमान पुरुष मुर्खों के अनुसार आचरण करने लग जावे परन्तु यह जताया है कि सब कोई अपने अनुकूल व्यवहार और आचार को देख प्रसन्न, और प्रतिकूल को देख के अप्रसन्न होता है।

९ ध्रुवता—यदि सारा जगत् उलटा हो के निन्दक वा विघातक हो जावे अथवा कोई दुष्ट वृथा ईर्षा वा विद्वेष करके दुःख देने लगे और सर्व प्रकार से समय प्रतिकूल दिखाई देवे तो भी अयोग्य और मन्द क्रिया द्वारा सुखी होना न चाहे; किन्तु शुभ रीति से सुखी होना चाहे। बहुत लोग है कि जो विपत्ति में ग्रस्त होके अनुचित कर्मों को भी उचित समझने लग जाते है और निन्दित वाक्यों को प्रमाण रूप मान लेते है। जैसा कि 'जो कोई अपने संग बुराई करे उसको कपट, छल, कलङ्क, आदिक उपाय से जैसे बने तैसे मारना चाहिये, नहीं तो धीरे२ अत्यन्त बल पा के हमारे मूल छेदन में समर्थ हो जावेगा'। अथवा 'समय की प्रतिकूलता में यदि अन्याय-जन्य व्यवहारों से भी सुख का उपार्जन कर लें तो दोष नहीं' इत्यादि।

१० भक्ति—मनसा, वाचा, कर्मणा सर्व संसार के भले में यत्न करते रहना और अपने कुल, रूप, धन, विद्या, बल आदिक का अभिमान तज के सब की सेवा परिचर्य्या मे रत रहना।

बस इन उपरोक्त दश धर्मों के ग्रहण करने का नाम यथार्थ न्याय है। और यह न्याय दो प्रकार का होता है एक स्व-सम्बन्धी, दूसरा पर-सम्बन्धी :—

स्व-सम्बन्धी न्याय—वह है कि जिससे अपना आप सुधारा जावे अर्थात् अपनी कहत, वहत और रहत को शुद्ध किया जावे। जो कोई इन्हें श्रेष्ठ पुरुषों के समान शुद्ध नहीं करता वह अपने ऊपर अन्याय करता है।

पर-सम्बन्धी न्याय—वह है जो आगे कथन होगा।

प्रथम कहत का सुधारना

कहत बोलने का नाम है। बहुत मत बोलो इस में प्रतिष्ठा भंग होती है। बहुत बोलने वाले का सत्य भी झूठ ही प्रतीत होता है। शीघ्र न बोलो इस में श्रोता को अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाक्य में हठ न करो इस में अन्त को विवाद हो जाता है। जैसाकि किसी ने कहा कल मध्यान्ह के समय वर्षा हुई थी दूसरा बोला मध्यान्ह में तो नहीं प्रातः काल में हुई थी। ऐसे स्थल मे आग्रह करने से अवश्य विवाद हो जाता है। योग्य है कि यदि कोई पुरुष किसी बात में वृथा हठ बांध बैठे तो एक दो बार रोक के अन्त को विवाद शमन के निमित्त आप मौन को धारण करे ; नहीं तो बोलते २ विरोध खड़ा हो जावेगा। प्रश्न का उत्तर देने के समय शीघ्रता और चंचलता न करो। इस में जो मुख से कुछ यद्वा तद्वा वाक्य निकल जाता है इस कारण वक्ता को लज्जा उठानी पड़ती है। प्रश्न के बिना उत्तर न दो। इस मे यह दोष है कि तुम्हारा उत्तर किसी को ग्रहण नही होगा। किसी का वाक्य न काटो। सो यह काटना दो भांति का होता है :—

एक यह कि जब कोई कुछ कह रहा हो तो उस की समाप्ति के पूर्व ही अपनी बात का आरंभ कर देना।

दूसरा यह कि जब कोई पुरुष कुछ कह रहा हो तो उसको छल, बल और हठ से मिथ्या बना देना।

अति धीरे और अति ऊँचे शब्द न बोलो इस में प्राणी सब को कटु प्रतीत होने लगता है। यदि कोई पुरुष किसी बात को तुम से छिपावे तो पूछने में अत्यन्त हठ न करो। इस में अन्त को क्रोधाग्नि प्रचण्ड हो जाती है। अपने वाक्य की पुष्टि के निमित्त किसी के वाक्य को मिथ्या न बनाओ। श्रोता की बुद्धि पर्यंत वाक्य कहो। और अति गूढ़ और सूक्ष्म वाक्य वा परा विद्या का वाक्य सब के सामने न कहो। स्थान के योग्य वाक्य कहो क्योंकि मगल मे अमंगल तथा अमंगल में मंगल वाक्य कहना निन्दित होता है। कटाक्ष से वाक्य न कहो इस में श्रोता को कभी २ लज्जा उठानी पड़ती है। वचन के समय बिना प्रयोजन हाथ, पांव, शिर, मुख, जांघ, प्रभृति किसी अवयव को न हिलाओ क्योंकि सम्भाषण के लिये केवल जिह्वा ही है। मिथ्या वाक्य कभी उपहास प्रभृति में भी न कहो क्योंकि इसमें संसार का अविश्वास होता है। यह मिथ्यालाप दो प्रकार का होता है। एक शारीरिक, दूसरा मानसिक :

शारीरिक यह है कि जिह्वा और नेत्र वा हस्त, मुख आदिक हिला के मिथ्या सैन का करना।

मानसिक यह है कि वाणी में तो चाहे सत्य ही भरा हो परन्तु मन में झूठ का होना। जैसा कि यदि कोई किसी वेश्या-गृह से समागत पुरुष को पूछे, तुम कहाँ से आते हो और वह उत्तर दे कि तड़ाग की ओर से आता हूँ। सो यद्यपि उधर कोई तड़ाग वर्त्तमान होने से उस की वाणी सत्य भी है परन्तु मन में झूठ के होने से वह सत्य संभाषी नहीं गिना जाता। सत्यवक्ता वह है कि जो मन और वाणी इन दोनों अंग से सत्य बोले, नहीं तो उस में मानसिक झूठ अवश्य गिना

जावेगा। जिस वाक्य को सुनके किसी का मन दुःखित हो जावे उस को महा विपत्ति के समय भी मुख से न निकालो। जिस वाक्य के कहने से तुम्हें पश्चात्ताप और शोक और भयादि में कम्पित होना पड़े वह कभी भी उच्चारण न करो। अपने देश के लोगों से अन्य देश की भाषा में वार्त्तालाप न करो क्योंकि इसमें वक्ता की तुच्छता और वाचालता प्रकट होती और श्रोता लोग उपहास करते हैं। यद्यपि भाषान्तर का सीखना तो एक प्रकार का चातुर्य्य है परन्तु स्वकीय लोगों से भाषान्तर मे सम्भाषण करने को बुद्धिमान लोग अनुचित मानते हैं। गाली और अशुद्ध शब्द कभी मुख पर न लाओ। किसी की निन्दा का वाक्य कभी न कहो। निन्दक पुरुष यद्यपि निन्दा करने के समय तो किसी अंश में प्रसन्न होता है परन्तु पीछे सर्वदा अपने कथन की लज्जा में मरता है।

अपने सम्भाषण मे कभी कोई ऐसा व्यर्थ शब्द न कहो जो प्रस्ताव मे सार्थक और सापेक्ष न होवे। किसी को ऐसे शब्द से न बुलाओ कि जो उसकी पदवी से न्यून हो। तात्पर्य्य यह कि जो शब्द परोपकार वा लौकिक व्यवहार से रहित हो उस में कदाचित् भी वाणी को न खोलो।

द्वितीय बहत का सुधारना

बहत बैठने का नाम है। कुसंग में न बैठो। क्योंकि वहा मद्यपान, स्त्री-चर्चा, अज्ञान, अभिमान, उपहास, दम्भ, वैर, पर निन्दा, निर्बन्धता, निर्लज्जता, द्यूत, चौर्य्य आदिक अनेक दोष की स्थिति रहती है कि जिन से मनुष्य का जन्म वृथा नष्ट हो जाता है। जिस का मन कुसंग सेवी हो वह सत्संग में कभी रुचि नहीं करता। कुसंग के अन्य दोष लिखने में तो गौरव है परन्तु सार यह है कि सम्पूर्ण अनर्थों का मूल समझ के कुसंग से सदा बचते रहो।

शोकित और अकड़ के न बैठो, अपने अधिकार पूर्वक सीधा और सरल बैठो। किसी के सन्मुख पांव और पीठ करके न बैठो। सभा में बैठ के बहुत-सा किसी एक ही की ओर न ताको। केश, श्मश्रु में बिना प्रयोजन हाथ न लगाओ। बैठों मे सोना, और सोतों में बैठना कभी न करो क्योंकि इसमें कभी तुम्हें उनसे और उन्हें तुम से लज्जा वा कष्ट उठाना पड़ता है। राजा, गुरु और वृद्धों के सन्मुख उस रीति से न बैठो कि जिसमे उनकी तुल्यता पाई जावे। अपनी पदवी से न्यून स्थान में अथवा बालकों और स्त्रियों के समुदाय में बिना किसी आवश्यक व्यवहार के न बैठो। क्योंकि पदवी से न्यून स्थान में बैठने से प्रतिष्ठा नहीं रहती और बालकों वा स्त्रियों के संग में शारीरिक और मानसिक विकारों की उत्पत्ति होती है। विशेषत· स्त्री-जन का संग तो अत्यन्त अनर्थ का हेतु है।

व्यर्थ बैठने का स्वभाव न रखो। क्योंकि अवकाशी मन में अनेक अपराध भर जाते हैं। मन का स्वभाव है कि यदि इस को अवकाश मिले तो नाना योग्य और अयोग्य संकल्प रच के शरीर को प्रवृत्त कर देता है। और शरीर की प्रवृत्ति से मन भी प्रवृत्त व पतित हो जाता है। सो योग्य है कि यदि किसी को कोई अन्य कार्य न होवे तो सत्सङ्ग वा सद्-ग्रन्थो का अवलोकन आदिक क्रिया में मन को लगावे। क्योंकि इस को यदि एक क्षण भी अवकाश मिलेगा तो अनेक दिनों का धैर्य्य, विचार, बिगाड़ के पतित कर देवेगा। मन का स्वभाव है कि यह निर्विषय कभी नहीं रहता। इसी कारण उचित है कि इसको किसी सत् व्यसन में लगा छोड़े। जो लोग मन को सदा अवकाशी रखना चाहते हैं उन को तास चौपट आदिक खेल और विकार युक्त उपन्यासादिके पढ़ने सुनने और पर-निन्दा, आलस्य, एवं मनोराज्य के सिवाय अपने अलभ्य जीवन में और कुछ प्राप्त नहीं होता। मनुष्य शतञ्जीवी हैं सो यदि इस वर्ष-शत में भी शुभ संचय नहीं करते और वृथा काष्ट

पापाणादि के खेल में आयु व्यतीत कर लेते है तो उन से अधिक मूर्ख और कौन होगा। उचित है कि प्राणी समय को दुर्लभ और अमोलक जान के एक क्षण भी वृथा नष्ट न होने देवे। मनुष्य का यही परम पुरुपार्थ है कि अपने जीवन-धन को परोपकार, धर्माचरण, जगत्-हितैपी कामों के करने में व्यय करता रहे। समय का यह स्वभाव है कि आमघट के जल की नाईं जाता हुआ प्रतीत नहीं होता। परन्तु जो कोई इस में से प्रतिदिन एक घड़ी भी किसी सुभ कार्यके सम्पादन में लगाता रहे तो वड़ा काम हो और नाम रह जावे। और जिन की आयु हास्य, उपहास, खेल तमाशा आदिक में ही व्यतीत हो जाती है उनका जन्म वृथा है।

तृतीय रहत का सुधारना

रहत रहने का नाम है। सदा निष्कलंक रहो। वस्त्र सीधे और सरल रखो। वहुत भूपण और पुष्प सुगन्धादि से सिंगार न करो। क्योंकि यह स्त्रियों का धर्म है। अति चिकने और अति लंवे वाल न रखो। सव का हितैषी और मनोहर स्वभाव रखो। निरालस और प्रसन्न रहो। स्थान ऐसा वनाओ कि जिस मे पवन का प्रवेश हो। क्योंकि स्थान मे तीन वस्तु की आवश्यकता सव को रहती है:

१ पवन—कि जिधर से चाहो पवन मिलती रहे। जहां पवन का गमनागमन नहीं होता, वहां अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

२ एकांतता—जव सव से अलग हो के मन स्वतन्त्र वैठना चाहे तो एकात स्थल प्राप्त हो सके।

३ विस्तृति—जो स्थान विस्तृत नहीं होता उसमें गृहस्थ को वहुत से आवश्यक कृत्यों का संकोच रहता है।

स्थान को सदा स्वच्छ रखो। क्योंकि मलिन स्थान में बुद्धि भी मलिन हो जाती है। स्थान ऐसी भूमि में बनाओ कि जहां किसी से विवाद आदिक न रहे। पड़ोस ऐसा ग्रहण करो कि जिस में सब प्रकार की उत्तमता होवे। क्योंकि पड़ोस का मन्द होना एक प्रकार का नर्क है। चलते हुए बार बार दाहिने बायें न देखो। प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व जागने का स्वभाव डालो। क्योंकि इसके लाभ और फल अनन्त हैं। प्रातः और सायं काल में स्त्री-संग का त्याग करो। क्योंकि इसमें शरीर रोगी और अत्यन्त निर्बल हो जाता है।

अब दूसरा पर-सम्बन्धी न्याय कि जो अन्य लोगो के साथ सम्बन्ध रखता है यह है कि पुरुष अपने माता-पिता आदि के साथ कैसे बरते तथा राजा अपनी प्रजा पर किस रीति से राज्य करे कि जिस को राजनीति कहते हैं। और प्रजा अपने राजा की भक्ति और आज्ञा में कैसे नियुक्त रहे इत्यादि। सो राज्य-व्यवहार तथा अन्य व्यवहारों का वर्णन तो आगे होगा परन्तु यहां प्रथम यह लिखते है कि पुत्र अपने माता-पिता के साथ कैसे बरते।

अथ मातृ-पितृ व्यवहार

पुत्र को चाहिये कि माता-पिता को परम गुरु जान के सदा उन का महत्त्व दृष्टि पथ रखे और उनकी आज्ञा से विमुख न होवे। सदा उनका आदर-सन्मान करता रहे। उनके सन्मुख विशेष उपहास और चंचलता, निर्लज्जता करना कभी भी योग्य नहीं। उनकी इच्छा को—यदि वह मनुष्य धर्म के विरुद्ध न होवे—अपनी इच्छा से अधिक पूरण करे। उनके सामने बकवाद वा अन्य को झिड़कना आदि न करे। वृद्धों का वचन शिक्षा-वाक्य जान के ग्रहण करे।

प्रश्न—मनुष्य-धर्म के विरुद्ध वाक्य माता, पिता का मान लेने में क्या हानि है?

उत्तर—जगत की सीमा मर्यादा मनुष्य-धर्म से विरुद्ध चलने में टूट जाती है जिससे अपने और पराये मनों को बड़ा भारी खेद होता है। जैसा कि देखो, यदि किसी के माता, पिता अपने पुत्र को चोरी वा छल सिखायें अथवा ज्ञान, विवेक और विद्या के सीखने से रोकें तो यह व्यवहार मनुष्य धर्म से वाहर और अत्यन्त अनर्थ का उत्पादक है। हम देखते है कि कई एक माता, पिता अपने पुत्रको अपनी बुद्धि के अनुसार किसी ऐसे मत, पंथ और धर्म में फंसा देते हैं कि जो महा अशुद्ध और श्रेष्ट बुद्धि के विरुद्ध हो। और वहुत से माता, पिता अपने अज्ञान द्वारा किसी मन्द मत को सुधर्म जान के पुत्र को यथार्थ धर्म और सन्मार्ग से रोकते और अपने मत में प्रवृत्त करना चाहते है। ऐसे स्थल मे पुत्र यदि उनकी आज्ञा न माने तो कुछ दोप नहीं। पुत्र को उचित है कि अपने तन, मन, धन से माता, पिता की सेवा में सदा तत्पर रहे।

अथ स्त्री व्यवहार

स्त्री उत्तम कुल से ग्रहण करो कि जो रूप गुण, शील से सम्पन्न हो। उसको सदा प्रेम और प्रसन्नता दिखाओ। जहां लों हो सके स्त्री को निर्भय और निर्लज्ज न होने दो। गृहस्थ व्यवहार मे संपूर्ण कार्य स्त्री की सम्मति से करो। यथाशक्ति भूषण, वस्त्र, खान-पानादि सुख साधनों में उसे प्रसन्न रखो। स्त्री को अपने ऊपर किसी पक्ष में वलवती न होने दो। कुसंग और अन्य जनों के समुदाय में जाने से रोकते रहो। गोपनीय भेद मूर्ख स्त्री को कभी न वताओ। स्वतन्त्र और निरंकुश न विचरने दो। विना भारी अपराध के उसका त्याग न करो। विद्या पढ़ने में नियुक्त रखो।

अथ पुत्र-पुत्री व्यवहार

पुत्र को पांच वर्ष पर्यन्त लाड़ देना और तदंतर शिक्षा प्रदान करना योग्य है। पिता को चाहिये कि पुत्र को विद्या के अर्थ सदा उद्योगी रखे कभी आलस न होने देवे। उसके आचार व्यवहार स्वभावादि के सुधारने में यदि पिता समर्थ हो तो अच्छा, नहीं तो कोई अन्य उपदेष्टा नियत करे। उपदेष्टा और अध्यापक को उचित है कि पर-पुत्र को अपने पुत्र के समान हित से उपदेश करे। दण्डनीय बालक को दण्ड देना और श्लाघ्य की प्रशंसा करना अध्यापक को विचार पूर्वक योग्य है। बालक के आत्मा की चिकित्सा या स्वभाव-शोधन अध्यापक के आधीन है।

पिता को चाहिये कि बालक के आनन्द का ऐसा प्रतिबन्धी न होवे कि धीरे-धीरे वह आप ही निर्भय और निःशंक तथा निरंकुश हो जावे। तात्पर्य यह कि किसी-किसी काल में बालक को खेलमें प्रवृत्त देख के भी चुप हो रहना चाहिये। पुत्र के साथ पिता ऐसा साभिप्य और अति प्रेम न करे कि अन्त को निर्भय हो कर वह शिक्षा न माने। पिता को उचित है कि पुत्र के सन्मुख किसी अयोग्य बात का करना और कहना तथा बरतना त्याग देवे। क्योंकि इस से पुत्र भी उसी के अनुसार स्वेच्छाचारी हो जाता है। पुत्री को भी उतने ही लाड़-प्यार से पाले जितने कि पुत्र को। और पुत्री के विवाह-अवसर पर उसे यथोचित धन दहेज के रूप मे देना चाहिये जो केवल उसीके निमित्त हो। तथा पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त उसे कुछ हस्तशिल्प भी सिखावे जिससे विपत्तिकाल में अपना और अपने आश्रितो का भरण-पोषण कर सके। पुत्र पुत्री के विवाह आदिक कार्य में पिता को अवश्य यत्न करना चाहिये। स्वसंचित पदार्थो का पुत्रों के निमित्त यथाधिकार विभाग करना पिता

को अपने जीवित काल में ही उचित है। षोड़श वर्ष से पीछे पुत्र को बल और हठ युक्त हो कर पिता कोई भी शिक्षा न देवे।

अथ भ्रातृ व्यवहार

भ्राता के समान जगत् में अलभ्य सम्बन्धी कोई नहीं। क्योंकि जिस बीज से अपनी उत्पत्ति है उसी से उस की होती है। जब लों भ्राता षोड़श वर्ष से नीचे है तव लों उसे शिक्षादि योग्य है। उसके पीछे उसे बल से कुछ न कहो। जहां लों हो सके भ्राता के आनन्द में आनन्दित रहो। विरुद्धाचार विरोध का हेतु है। भ्राता के कार्य सिद्धि में उसकी प्रेरणा के विना ही प्रवृत्त रहो। यदि तुम भ्राता के साथ कुछ उपकारादि करो तो आयु पर्यंत मुख पर न लाओ। भ्राता के दु:ख सुख मे सदा सहायक और संयुक्त रहो। ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा को पितृवत् हितैपी समझो। भ्राता के पदार्थादि को उसकी आज्ञा के विना अपने अधिकार मे लाना न चाहो। पिता के दिये हुए पदार्थ को भ्राता से लेने का उद्यम न करो। यदि किसी हेतु से भ्राता के साथ वैमनस्य भी हो जावे तो भी दुःख सुख के समय मिलाप मे विलम्ब न करो। अति समीपता तथा अति दीर्घ्य भ्राता के साथ प्रयोजन विना कदाचित् भी उचित नहीं। भ्राता के दोषादि अन्य पुरुषों के सामने कथनीय नहीं होते। कैसा ही विरोध होवे परन्तु यह नियम करना अनुचित है कि भ्राता के साथ अब हम कभी नहीं मिलेंगे। क्योंकि जीवत में ऐसे कई व्यवहार हैं कि भ्राता विना उन की सिद्धि दुर्घट है।

अथ मित्र व्यवहार

जगत्में मित्र बहुत दुर्लभ पदार्थ है। यथार्थ मित्र वह है कि जो हानि, लाभ, सुख, दुःख मे सहायक रहे। बुद्धिमान और सत्यवक्ता मित्र ग्रहण करो। मित्र के साथ निष्कपट व्यवहार रखो। मैत्री मे तीन

वस्तुको कभी न आने दो। एक कपट अर्थात् अपने किसी व्यवहार को मित्र से गुप्त रखना, चाहे कैसीही घनिष्ठता परस्पर हो परन्तु अन्त को अवश्य विरोध हो जाता है। सो चाहिये कि मित्रको अपना हृदय समझ के सम्पूर्ण व्यवहार कह दिया करे। जहां हार्द नहीं कहा जाता वहा पूर्ण मैत्री नहीं होती। मैत्री के तीन भेद होते हैं। सामान्य, मध्यम, उत्तमः—

सामान्य मैत्री—वह है कि जिसमें एक पुरुष अपने जाति, विद्या, बल, धनादि का मान त्याग के दूसरे पुरुष के स्थान पर जाने आने लग जावे।

मध्यम मैत्री—वह है कि जिस में वह उस के घर का खान, पान निशंकता से ग्रहण करे और वह उस के घर में खाने, पीने लग जावे।

उत्तम मैत्री—वह है कि जिस में एक दूसरे को अपना गुह्य हार्द कहने लग जावे। सो बस यह उत्तम मैत्री दुर्लभ है।

दूसरी भ्रांति—अपने मित्र के तन, मन तथा इन्द्रियादि में कोई वृथा भ्राति अपने ही मन से अथवा किसी द्वेषी के कहने से आरोपण न कर ले। मैत्री बहुत सूक्ष्म तंतु है कि जो किंचित-सी भ्रांति में टूट जाती है। योग्य है कि जब मित्र के किसी आचार व्यवहारादि मे भ्राति खड़ी हो जावे तो अपने मन में न रखे, किन्तु मित्र के आगे प्रकट कर देवे। नहीं तो एक भ्राति के आश्रय अनेक भ्रांतियां खड़ी हो जाती है। और फिर जैसे एक तृण के आश्रय अनेक तृण एकत्र हो कर चलती कूल को रोक देते है वैसे मैत्री के पक्षमें भ्राति भी रोध का कारण है।

तीसरा व्यवहार—अर्थात् परस्पर लेन देन वा वाणिज्यादि को मैत्री में कभी न आने देवे। इसमे यह कारण है कि मूल सपूर्ण व्यवहारो का स्वार्थ है। सो जहा स्वार्थ होता है वहां पदार्थो मे स्वत्व परत्व खड़ा

हो जाता है। जहां स्वत्व परत्व की खैंच हो वहां अष्ट प्रहर कपट, भ्राति, विवाद, हठ, क्रोध, वैर आदिक व्यवहार मनमें उदय होते रहते है जिससे अंत को मैत्री टूट जाती है। सच्चा मित्र वह है कि जो अपने मित्र के किसी अपराध पर भी कुपित नहीं होता। जो कुपित हो जावे और मैत्री पक्ष में चरण रखे उस को पूर्ण मित्र कभी न समझना चाहिये। मित्र जगत् में तीन प्रकारके होते है। एक वह कि जो अपना मित्र हो। दूसरा वह जो अपने मित्र का मित्र हो। तीसरा वह जो अपने शत्रु का शत्रु हो क्योंकि उसका उद्देश भी हमारे उद्देश के तुल्य ही होता है अर्थात् जिस के साथ हमारा विरोध है उसका भी उसके साथ विरोध है। विदित हो कि वह साधारण मित्र है उसको अपना हार्द कभी न कहना चाहिये।

अथ प्रभु व्यवहार

प्रजा को राजा, स्त्री को भर्त्ता, शिष्य को गुरु और भृत्य को स्वामी ये सव प्रभु कहलाते है। इन के संग ऐसा व्यवहार वरतना चाहिये कि जो नीचे लिखा है:—

प्रभु के सन्मुख कभी मिथ्या न वोले। यदि अपने से कुछ अपराध हो जावे तो प्रभु के सामने गुप्त न रखे किन्तु अपने को अपराधी ठहरा के प्रभु के पास क्षमा की प्रार्थना करे। प्रभु का महत्व सदा अपनी दृष्टि मे रखे। जो उस की आज्ञा मिले उस के अनुसार सत्य मन से प्रवृत्त होना चाहिये। यदि स्वामी तुम्हारी क्षति करता हो तो किसी अन्य के पास उस की निन्दा न करो। सर्व प्रकार प्रभु के कृतज्ञ वने रहो। उसके सन्मुख किसी अंश मे निर्लज्ज वनना योग्य नहीं। उसके अनुग्रह और दिये हुए पदार्थों पर उन्नत और प्रमत्त न वनो। उस के सन्मुख अपने खान, पान, पहिरान, वोलचाल आदिक व्यवहारों में उसकी तुल्यता प्रकट न करो। प्रभु के चित्तमें अपने सर्व व्यवहार और

आचार से सत्यता भरते रहो। उस के प्रिय कार्य साधन मे बिना प्रेरे प्रवृत्त रहो। स्वामी के धन, मान, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ के विनाश का कभी संकल्प न करो। सदा उस की प्रसन्नता में प्रसन्न रहो। अपने प्रभु की हानि वा निन्दादि को देख के वा सुन के जैसे बने उस के प्रतिकार मे यत्न करते रहो। उस की सेवा को अपना सौभाग्य समझ के किसी अंश में भी लज्जा न करो। सच पूछो तो वशीकरण-मंत्र इसी का नाम है।

प्रश्न—जगत् मे जो वशीकरण, मारन, मोहन,, उच्चाटनादि कई प्रकार के मंत्र सुने जाते है, वे सत्य है वा झूठ?

उत्तर—बहुत तो जगत् में झूठ ही देखा है परन्तु यदि कहीं कुछ सच भी होगा तो या तो उसमें कुछ चतुराई होगी और या कुछ अर्थ में भेद होगा। चतुराई से जो लोगों ने मूर्खों और स्त्रियों को कुछ आश्चर्य दिखाया वे उसे मन्त्र जन्त्र समझ के सदा डरते रहते हैं सो इसको हम पीछे कथन कर चुके है। जिस में कुछ अर्थ भेद है वह यह है जैसा कि बहुत लोग समझते है कि वशीकरण का कोई मन्त्र ऐसा होगा कि जो पढ़ के फूका हुआ दूसरे को अपने वश मे करले। सो ऐसा वशीकरण का मन्त्र तो कोई नहीं होता किन्तु उत्तम गुणों से मोहने का नाम वशीकरण है।

अथ दास, शिष्य व्यवहार

दास दो प्रकार का होता है। एक वह कि जो भृत्ति पर चाकर हुआ होवे और द्वितीय वह कि जो शिष्यभाव से सेवा करे किन्तु भृत्ति की कुछ इच्छा न रखे।

चाकर वह रखो कि जिस पर सर्व प्रकार से विश्वास हो। उस के किंचित् अपराध और अवज्ञा को देख के भी क्षमा करना योग्य है, परन्तु ऐसी रीति से कि निर्भय और स्वतन्त्र न हो जावे। उस पर

अकारण ही शीघ्र अविश्वासी न हो जाओ। उस को अपने हस्त, पदादि अंगवत् जान के सदा प्रसन्न रखो। क्योंकि यदि उसको प्रसन्न न रखोगे तो उसके नियत कार्य तुम को अपने हस्त, पदादि से करने पड़ेंगे। जो कार्य उस की शक्ति और बुद्धि से बाहर हो, उसमें प्रेरणा न करो। उस के सन्मुख किसी व्यवहार मे उसकी बहुत प्रशंसा न करो। अपने तुल्य खान, पान, वस्त्र, आभरण, यान आदि की शक्ति न दो। दया और प्रदानादि ऐसी रीति से करो कि चाकर उन्नत न हो जावे। छोटे काम और तुच्छ अपराध वा किंचित् आलस्यादि को देख के मन में विकृत न हुआ करो। चाकर के साथ प्रति क्षण क्रोध न करो। यदि वह निर्भय और निर्लज्ज और अनाज्ञाकार हो जावे तो तुरंत ही त्याग दो, परन्तु ऐसी रीति से कि तुम्हारे मुख से उस समय कोई कुवाक्य न निकले कि जो उस के मन को दुःखित कर देवे। क्योंकि यदि ऐसी दशा मे उसे अपने गृह से निकालोगे तो वह आयु पर्यंत शत्रु बना रहेगा।

योग्य है कि बुद्धिमान चाहे कैसा ही दुःखित और आकोपित हो परन्तु आवाच्यादि किसी को न कहे। क्योंकि प्रतिष्ठित पुरुष का अवाच्य कथन सब को स्मृत रहता है। सो उचित है कि वाणी से किसी को अपना शत्रु न बनावे। और जीवन पर्यंत किसी को कोप न दिखावे।

द्वितीय दास—जो बिना भृत्ति के केवल शिष्य भाव से सेवा करता है। उस का व्यवहार यद्यपि पुत्र व्यवहार के समान है परन्तु कई एक बातों में उसके संग पुत्र से भी अधिक प्रेम करना उचित है। क्योंकि उसने अपने गृह, बाधव, कुटुंब को तज के केवल गुरु का आश्रय लिया होता है। जो गुरु उस को दुःखी करे उस को कृतघ्न कहना चाहिये। जगत् में कृतघ्न और विश्वासघाती के तुल्य कोई निन्द्य नहीं।

प्रश्न—कृतघ्न और विश्वासघाती पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर—कृतघ्न वह है जो किसी के किये हुए उपकारादि को न माने। जैसा कि ऐसे बहुत लोग हैं कि चाहे कोई कैसी ही मन्द दशा में उन की सहायता वा सेवादि उपकार करे परंच उस का गुण नहीं मानते। उलटा नाना दोष आरोपित करके उसे दु खी करते हैं।

विश्वासघाती—वह है कि जो किसी ऐसे पुरुष के साथ छल करे कि जिस का उस पर दृढ़ विश्वास हो गया हो कि यह कभी मुझ से छल नही करेगा। धिक्कार है उन के जन्म को जो सरलों और सीधों से छल करते हैं। यद्यपि छल करना सर्वथा त्याज्य है परन्तु उन से छल करना कि जो तुम्हारे छल को उपकार ही मानते हैं अत्यन्त अनर्थ की बात है। देखो, यदि कोई पुरुष किसी श्वान के आगे कुछ खाद्य पदार्थ डाल के पहले उस को विश्वासी बना ले और फिर खाने लगे तो उसका शिर फोड़े तो वह कैसा निघृ ण और विश्वास-घाती है।

शिष्य को सदा सदुपदेश और हित की बातें बतलाता रहे। संपूर्ण व्यवहारों में उस की उन्नति के लिये उद्योगी रहना चाहिये। यदि शिष्य अनेक हों और धर्मानुसार सेवादि में सब प्रवृत्त रहें तो गुरु किसी को न्यून अधिक न समझे किन्तु सबको समान शिक्षादि प्रदान करे। गुरु को उचित है कि किसी अंश में शिष्य का मन भंग न करे। और कोई वस्तु और वाक्य वा विद्या उस से गुप्त न रखे। उस को अपना प्रिय अंग समझ के सदा प्रसन्न रखे। मन्द प्रवृत्ति और मन्दाचारादि से सदा रोकता रहे। ऐसा दण्ड किसी बात पर भी न देवे कि वह मृत्यु पर्यंत कभी सन्मुख न आ सके। किंचित् अनाज्ञाकार वा अपराधी देख के उस को अपने पास से पृथक् न कर देवे किन्तु उसके मन से अपनी बुद्धि और विचार द्वारा उस बात के दूर कराने का यत्न करे कि जिस ने उसे अनाज्ञाकार और अपराधी बनाया है। गुरु यदि

उस का त्याग करना ही योग्य समझेगा तो गुरु के उपदेश और शिक्षा की निर्बलता प्रतीत होगी। यह बात तो प्राणी को सर्वदा मन्तव्य और ज्ञातव्य है कि जो कोई पुरुष अपने साथ बुराई करे उस को शीघ्र ही दण्ड प्रदान और अपने से अलग न करे। किंच जहा लो हो सके उस के चित्त से उस विकार को दूर करे कि जिस के कारण उस ने बुराई की।

प्रश्न—आपने पूर्व कहा था कि राज-व्यवहार को आगे वर्णन करेंगे सो यदि योग्य हो तो अब राजनीति कथन कीजिये।

उत्तर—हा, अब राजनीति कहने के लिये प्रथम राजा के होने का प्रयोजन और प्रकार लिखा जाता है कि राजा के होने की जगत् पर क्या आवश्यकता थी। जगत् मे जितने जीव है उन मे मनुष्य एक दूसरे का अत्यन्त अर्थी और साकाक्ष है। जैसा कि देखो, मनुष्य को जो अन्न, वस्त्र की आकांक्षा है, इस कारण वह कृषिकार और तंतुवाय का अर्थी, कृषिकार और तंतुवाय हलीषा और तुरी वेम के लिये लोहकार तथा वाढ़ी का अर्थी और लोहकार तथा वाढ़ी किसी अन्य का अर्थी ओर वह अन्य किसी प्रत्यन्य का अर्थी दिखाई देता है। फिर जब कि कोई पुरुष अपनी आयु को एकाकी समाप्त नहीं कर सकता इस कारण उन को बहुतो के समुदाय मे रहना पड़ा। इसी हेतु से ग्राम, पुर, नगर प्रकट हो रहे हैं। फिर जो सत्व, रजस, तमस इन तीनो गुण की न्यूनता, अधिकता से सब की इच्छा और स्वभावादि भिन्न २ है इस कारण परस्पर विरोध, वैर, चौर्य, व्यभिचार कपटादि कलेशो से सब लोग पीड़ित होते है। इस दशा मे आवश्यक ठहरा कि जैसे सम्वित, संतोष, शौर्य इन तीनों के सम रखने के लिये व्यक्ति मे न्याय को प्रधानता है वैसे ही सम्पूर्ण जीवो को सम रखने के लिये समष्टी मे राजा की आवश्यकता है कि जो प्रजा को किसी अंश मे क्रम विरुद्ध और विषम न होने देवे और उसके पालन पोषण तथा

रक्षा में नियुक्त रहे। सो राजा वह होना चाहिये जिस में पांच गुण वर्त्तमान हो —

१ महामनता—किसी कार्य और व्यवहार को देख के वा सुन के भीरु वा चकित न हो जावे। सो यह आत्मा की चिकित्सा बिना दुर्लभ है।

२ समझ—देखते सुनते सार ही सर्व व्यवहारों के अन्त फल को समझ लेना। सो यह विद्या और पूर्व इतिहासों के पढ़ने सुनने से प्राप्त होती है।

३ सहिष्णुता—संपूर्ण कठिनताओं पर धैर्य्य रखे।

४ सन्तोष—प्रजा के पदार्थों की लिप्सा न करे। और उन के मत धर्म से कुछ प्रयोजन न रखे जिस मत में जिस किसी की इच्छा हो बरते।

५ कुलीनता—उच्च घर का होवे कि उसे कोई तुच्छता से न देखे और उस की सेना निर्भय न होने पावे किन्तु उस की आज्ञानुसार सन्नद्ध वद्ध रहे। यहा उच्च घर कहने से यह तात्पर्य है कि राजा उस घर में से होना चाहिये कि जिस घर मे सदा से राज्य, भाग्य, ऐश्वर्य, धन, विद्या, यश, मान चला आता हो।

राजा की राज्य-श्री चार भाति के पुरुषों से शोभित और स्थिर रहती है जो यह है —

एक, विद्वान—इस मे कई प्रकार के लोग हैं अर्थात् मन्त्री, सेना-पति, कोषाध्यक्ष, कर-ग्राह, लेखक, दूत, पंडित, वैद्य, कवि, गणक (जो आय व्यय की गणना जाने) और चतुर (जो नवीन रीति और यन्त्रादि को रच सके) इत्यादि।

दूसरे, व्यापारी—जो देश देशान्तर के अमोलक पदार्थ लाया करे।

तीसरे, कृषिकार और सेवक प्रभृति।

चौथे, शस्त्रधारी—जैसा कि तोप, बाण, खड्ग आदिक के प्रहारी प्रसिद्ध है।

राजा को भलाई करने के चार प्रकार है—

१ यथार्थ परीक्षा के बिना किसी को अन्य पुरुषों पर उच्च न बनावे क्योंकि इस में अन्य पुरुषों पर अन्याय होता है। यथार्थ अपराध के बिना किसी को नीच न ठहरावे क्योंकि यह उस पर अन्याय है और ऐसे व्यवहारों से राज्य मे उपद्रव खड़े होते हैं।

२ यह कि जिन अपराधो से राज्य में उपद्रव और प्रजा मे क्लेश उठे उन को भूल न जावे। जैसा कि चौर्य्य, व्यभिचार, द्यूत, प्राणघात आदिक प्रसिद्ध है।

३ प्रत्येक भलाई और बुराई का फल उसके अनुसार नियत होवे। अधिकता न्यूनता का नाम अन्याय है।

४ राजा को चाहिये कि प्रजा जनों और पीड़ित लोगों को अपनी दशा सुनाने के निमित्त मार्ग खुला रखे। यदि यह बात सर्वदा न हो सके तो एक समय वा एक दिन सबके आने के लिये अवश्य नियत करे।

राजा को युद्ध के विषय में दश बातों की आवश्यकता है :—

प्रथम—शत्रु के मानसिक संकल्पो के जानने के लिए उद्योग करे। और उस देश में छिपा के भेदियो को भेजे। जिस का भेद लेना हो हँस के ले कि वह इसको मित्र जान के कुछ छिपा न रखे।

द्वितीय—अपने भेद को कभी प्रकट न होने देवे।

तृतीय—जब किसी के मन मे शत्रुता और वैमनस्य के चिन्ह देखे तो उसके शमन का यत्न करे। जब लों प्रेम और नम्रता से काम बने तब लों युद्ध और बल का आरम्भ न करे। और मत धर्म की विषमता से भी युद्ध न करे क्योंकि यह अन्याय है।

चतुर्थ—जब लों सेना एकाग्र और एक मन न होवे युद्ध का उद्योग न करे। क्योंकि इसमें विजय का होना सम्भव नहीं।

पञ्चम—जब लों कोई अन्य उपाय त्राण का होवे दुर्गका आश्रय न लेवे। क्योंकि दुर्ग ओर कोट आदि स्थान अत्यन्त भीड़ मे आवश्यक होते हैं। और शूर-वीरो की दृष्टि में वह भी एक भांति का पराजय है।

षष्ठ—जहां लो हो सके राजा शत्रु के सम्मुख आप कभी न होवे।

सप्तम—सेनापति वह होना चाहिये कि जिसने कई बार युद्ध देखे हों और हठ, धैर्य्य, दृढ़ता, विद्या, निर्भयता, उद्यम, उत्साह इन सात बातो में परीक्षित और जैसा समागम होवे उसी प्रकार के उपाय करने में चतुर हो तथा भीरु और क्लीव न होवे, क्योंकि सारी सेना उसी के अनुसार चेष्टा करती है।

अष्टम—शत्रु को तुच्छ और अशक्त जान के आप निरुद्यम, अलस और निश्चिन्त न हो बैठे। क्योंकि यह अपने पराजय का मार्ग है।

नवम—जो जन युद्ध में अच्छा काम देवे उसे उच्च पदवी देवे और कोई युद्ध में मृत हो जावे तो उस के सम्बन्धियों की पालनादि में यत्न करे।

दशम - यदि शत्रु जीता मिल जावे तो जहां लों हो सके उसे जान से न मारे। और जीतने के पीछे फिर उसके साथ मानसिक बैर न रखे। और शत्रु के बाल-बच्चे वा स्त्री आदिक से कदाचित् किसी प्रकार की बुराई न करे और न उन के ताड़नादि को श्रेष्ठ समझे।

राजा को न्याय के विषय मे बारह बातो की आवश्यकता है जो उनको ग्रहण न करे तो न्याय नष्ट हो जाता है :—

१ जिस वस्तु और व्यवहार का ग्रहण करना वा त्यागना किसी अन्य की आज्ञा वा इच्छा से अपने को न भावे वह आप भी किसी से न चाहे।

२ जो विवाद अपने सामने आवे उसके निपटाने के पूर्व अन्य कार्य मे प्रवृत्त न होवे कि पीड़ित लोग आशा मे ही मृत हो जायें। जिस विवाद को निपटाना चाहे उसमें राजा किसी अन्य को मान के आप मानो झगड़ालू वने। और उस समय जैसा कि अपना मन राजा के यथार्थ न्याय को चाहे वैसा ही व्यवहार उस झगड़ालू के साथ करे। जो वात वा न्याय अपने मन को न भावे वह उसके साथ भी न करे। अर्थात् जैसाकि अपना मन अपने विजय और प्रतिष्ठा, धन, धर्म, मत, प्राणादि को प्रिय समझता है वैसा ही दूसरे का समझे।

३ प्रसन्न चेष्टा से राज्य व्यवहार को पूर्ण करे कि जिसमें शीघ्र कोप और अन्याय न प्रकट होवे।

४ अपने दुर्लभ और अमोलक काल को प्राय: मद्य. मांस, आखेट, व्यभिचार. नाट्य, गीत आदिक शारीरिक और मानसिक आनन्दों में ही व्यय न करे कि कोई शत्रु समय पा के काम वनाले अथवा राजा को विषयों मे उलझा देख के कोई मन्त्री वा भृत्य ही राज्य-प्रभु होके प्रजा को पीड़ित करे।

५ प्रजा की प्रसन्नता को अपनी प्रसन्नता जाने और जहां लों हो सके किसी जीव को सताना वा प्राण लेना न चाहे।

६ आप अन्याय न करे और अपने मन्त्री आदिक और प्रजा को भी अन्याय से रोके। जो राजा अन्यायी होता है उसके राज्य में सव कोई अन्याय करने लग जाता है।

७ सवको उसके अधिकार पूर्वक रखे किसी को ऐसा समर्थ न वनावे कि आप असमर्थ हो जावे और न ऐसा असमर्थ करे कि वह अपने को निकम्मा समझे।

८ जो कुछ आज्ञा देवे न्याय से हो तथा किसी को छलादि न करने देवे। और न्याय के अनुसार कभी २ क्षमा को भी काम मे लावे।

९ अहंकारी और क्रूर तथा उन्नत लोगों के साथ आप भी उनके समान ही होवे और निष्कपट वा सरलाचारों से हित करे और यद्यपि सबके मानसिक कपटों को समझता हो, परन्तु आप उनके तुल्य स्व-भाव न कर ले।

१० जो आज्ञा देवे उसका आदि अन्त विचार के देवे और यदि आज्ञा दे चुका होवे तो उसको अवश्य पूरा करे। यदि आज्ञा दी हुई एकबार व्यर्थ जावेगी तो फिर सब लोग उसकी आज्ञा का उलंघन करेंगे और कोई काम उसका पूरा नहीं होने पावेगा।

११ वृथा क्रूरता और ताड़ना का स्वभाव न रखे क्योंकि इसमें लोग निश्चिन्त और ढीठ हो जाते हैं। जैसा कि देखो, यदि कोई न चलते घोड़े को मारे तो चलने लग जाता है और चलते को मारे तो खड़ा हो जाता है। और यदि फिर भी उसे मारे तो वह यह समझ के निश्चिन्त और ढीठ हो जाता है कि इसकी ताड़ना किसी काम के लिए नहीं केवल स्वाभाविक है।

१२ अपराधी चाहे अपने पुत्र मित्रादि में से भी हो परन्तु न्याय के अनुसार दंड प्रदान में विलम्ब न करे। और अपना बैर पूरा करने के निमित्त वृथा ही किसी को दण्डित न करे क्योंकि यह अत्यन्त अन्याय है।

राजा को चार बातें सदा दृष्टि-पथ रखनी चाहियेः—

प्रथम कोष—अर्थात् उस में सदा वृद्धि रहे और अन्याय उपार्जित द्रव्य उस में पड़ने न पावे। और वृथा और अनुचित कार्यों में व्यय न होवे।

द्वितीय विचार—अर्थात् अधिकार अनधिकार की परीक्षा।

तृतीय प्रजा पालन—अर्थात् प्रजा पर सदा सुदृष्टि और दया बनी रहे। जैसा कि चोर, व्यभिचारी, घातक आदिक के उपद्रवों से

बचाना, और इनके दुःख सुखादि के सर्वदा ज्ञाता होना और जैसे इन में प्रफुल्लता और प्रकाश बना रहे वह उपाय सदा करते रहना।

चतुर्थ दान—अर्थात् जो दान के अधिकारी हों उन को शून्य न रखे। क्योंकि दान-शील पुरुष के आगे सब कोई नम्र रहता है और कृपण के साथ व्यर्थ ही सब का वैर हो जाता है तथा कभी कोई जन उस के काम नहीं आता।

प्रश्न—अब आत्मा के न्याय नाम धर्म के रोग और उन के उपाय सुनाइये।

उत्तर—जैसे पूर्वोक्त संवित प्रभृति धर्मों के तीन २ रोग कहे थे वैसे इस न्याय धर्म के साथ अन्याय नाम केवल एक ही रोग संश्लिष्ट है। और वह यह है कि अनर्थ करना, और कार्यों और व्यवहारों में आयोग्यता और अश्रेष्ठता को बरतना। तात्पर्य यह है कि संवित प्रभृति तीन धर्मों की साम्यावस्था का नाम जो न्याय कहा गया है जब उन में से कोई न्यून वा अधिक हो जाता है तो अज्ञान और काम क्रोधादि प्रकट होकर अन्याय को उत्पन्न कर देते हैं और उस के प्रताप से आत्मा पतित हो जाता है। वह अन्याय दो प्रकार का है एक पर, दूसरा अपरः—

१ पर-अन्याय—वह है कि जो न्याय की अधिकता से उत्पन्न होता और किसी दूसरे पर किया जाता है। उपाय इस का यह है कि जैसे बने प्राणी संवित आदिक तीनों धर्म को न्यून अधिक न होने देवे और यह विचारता रहे कि अन्य जीवों पर जो अन्याय है उसका दुःख भी मेरे समान है। इस पर-अन्याय से इन दश उप-रोगों की उत्पत्ति होती है जो नीचे लिखे हैं और परम अन्याय रूप हैं:—

प्रथम, अविचार—अर्थात् सम्वित, संयम, शौर्य्य और न्याय इन चार धर्म से विरुद्ध बरतना। उपाय इस का यह है कि प्राणी सर्वदा

काल आत्म-चिकित्सा के ग्रंथों का अध्ययन वा उन की शिक्षादि के ग्रहण का स्वभाव रखे।

द्वितीय, तृष्णा—अत्यन्त अधिक पदार्थों की इच्छा रखना। उपाय इस का यह है कि इस को नाना क्लेशों का मूल जान के मन में न आने देवे।

प्रश्न—इस तृष्णा नाम रोग से तो प्रायः अपने ही मन को कष्टादि होते हैं फिर इस को पर-अन्याय के सम्बन्ध में क्यों लिखा?

उत्तर—जब तृष्णा उदय होती है तो उस के साथ झूठ, छल, क्रोध अहंकार, घूस लेना, चोरी करना और विश्वास-घात ये सात उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं कि जो केवल पर-पुरुषों के ही दु.ख प्रदान और मनछेदन में कारण है इस हेतु से इसे पर-अन्याय के सम्बन्ध मे लिखा है।

तृतीय, अनार्य्यता—कार्यों और व्यवहारों में पूरे न उतरना किन्तु जैसे बने तैसे अपने लाभ के निमित्त अन्य पुरुषोंके साथ माया या छल-कपट से बरतना। उपाय इस का यह है कि प्राणी सदा इस बात को विचारे कि मायिक व्यवहार एक दिन अवश्य ही प्रकट हो के दुःख का हेतु ठहरते हैं। और मायावी पुरुष मृत्यु पर्यंत ससार की दृष्टि में अप्रतिष्ठित रहता है।

चतुर्थ, अनधिकारिता—मृतक के पदार्थ को उस के अधिकारियों और ऋण-ग्राहकों से छीन के अनधिकारियो को बाटना। उपाय इस का यह है कि प्राणी अपने विषय में दृष्टि करे कि यदि कोई मेरे भाग को हर के अन्य को अर्पित करे तो मुझे कितना उपताप होता है, इसी भाति उस को भी होवेगा कि जिस को मैं अभागी बनाऊंगा।

पंचम,असंतुष्टि—पदार्थों के विभाग के समय अपने लिये सब से अधिक और श्रेष्ठ पदार्थों की इच्छा करना। प्रतिकार इस रोग का यह है कि उस समय यह विचार करे कि जो कोई विभाग-कर्त्ता की इच्छा से विरुद्ध लालच करता है वह ठगों की मंडली मे गिना जाता है।

षष्ठ, वक्रता— राजा की आज्ञा और उसके प्रबंध को न मान के स्वेच्छाचार को शुभ मानना। बहुत मूर्ख है कि जगत् के बीच रहते और अपने को राजदंड और उस की आज्ञा से स्वतन्त्र समझते हैं। यह उस दशा मे हो सकता है कि जब प्राणी सांसारिक संपूर्ण व्यवहारों को तज देवे, नहीं तो यदि अपने को राजाज्ञा और उस के प्रबंध से बाह्य समझेगा तो किसी कुकर्म से भय नहीं करेगा। प्रतिकार इस का यह है कि प्राणी इस बात को दृष्टि पथ रखे कि चित्त का स्वभाव है कि जब इस को किंचित् भी स्वतन्त्रता और निर्भयता मिले तो स्वेच्छाचारी होके नाना उपद्रव करने लग जाता है। इस कारण योग्य है कि मन सर्वदा काल राजा के भय को दृष्टि गोचर रखे क्योंकि इस के बिना अन्य कोई उपाय नहीं कि जो इस को मन्द क्रिया से रोके।

सप्तम, अनीति—शक्त हो कर उत्पथगामी और अपराधियों के ताड़न तथा शासन में विलंब करना, वा राजा होकर दुष्टों के दंड को भूल जाना। उपाय इस का यह है कि सर्वदा काल यह विचार करता रहे कि यदि कोई शक्तिमान पुरुष दुष्टों के सुधारने का यत्न न करे तो जो मन्द व्यवहार दुष्टों से होते हैं शक्तिमान के सिर उन का कलंक होगा। अथवा यह विचारे कि मुझे जो सामर्थ्य प्राप्त है यदि मैं दुष्टों के हाथ से दुःखित प्रजा को परित्राण न दूंगा तो मेरे समर्थ बनने का क्या फल हुआ क्योंकि विद्या, बल, वित्त, उस दशा में सफल और श्लाघ्य गिने जाते हैं कि जब उन से परोपकार आदिक व्यवहार प्रकट होते रहें।

अष्टम, विनाश—किसी का विघात करना। उपाय इस का यह है कि प्राणी इस बात को सोचे कि मैं जो उस का विघात करना चाहता हूँ कारण उस का बैर वा क्रोध वा अहंकार है। यदि ये तीनों मेरे मन में न होते तो विघात का संकल्प उदय न होता। सो चाहिये कि मैं अपने मन से इन्हीं का नाश करूं। और यदि इन बैरादि तीनो कारण में से अपने मन में कुछ न हो, केवल कोई दुष्ट पुरुष वृथा ही तुम को सता रहा हो कि जिसके कारण तुम्हारे मन में विघात का संकल्प उदय हुआ तो भी यही उपाय उचित है कि प्रथम येन केन अपने मनको नम्र करके उसके साथ प्रेम भाव वढ़ालो कि जिस से वह अपनी दुष्टता को अपने आप ही त्याग देवे। यदि इस से भी वह सरल न होवे तो आप से अथवा किसी शक्त पुरुष से यत्किंचित दंड करा दो परंतु विघात का उद्यम न करो। यह विघात दो प्रकार का होता है एक शारीरिक, दूसरा मानसिक :—

शारीरिक-विघात—वह है कि जिस में शस्त्रपात, विपदान, कूपपातन, कंठपास, अग्निदाह आदिक उपद्रव रचने पड़ते है। प्रतिकार इसका यह है कि शत्रु हो वा मित्र परन्तु मनुष्य देह की सर्वथा दुर्लभता विचार के जैसे बने इस की रक्षा करनी ही योग्य है।

मानसिक-बिघात—इसका नाम है कि किसी को वृथा कलंक का लगा देना, प्रतिष्ठा भंग करना, विश्वासघात करना, किसी का सुख बिगाड़ना, धमकी देना, निन्दा करना, पदार्थ हरलेना, विद्वेष करना, दो मित्रो में विरोध करा देना, किसी के यतित्व को तोड़ना इत्यादि अनेक उपद्रव मानसिक विघात में रचने पड़ते है। प्रतिकार इसका यह है कि अन्य जोवों के दुःख को अपने समान जाने। यद्यपि इस मानसिक विघात से किसी का प्राणघात तो नहीं होता परन्तु यह शारीरिक विघात से भी अधिक दुःख दायक है। क्योंकि शारीरिक

विघात का खेद प्राणी को एक वार होता है किन्तु मानसिक विघात मृत्यु पर्यंत दुःखी करता है।

नवम, व्यग्रता—मन का काम क्रोध और अज्ञान की अधिकता के साथ व्याकुल रहना। इसको इस हेतु से अन्याय में लिखा कि जब हृदय में काम उत्पन्न होता है तो निर्लज्जता, अनृत, अभीति, चौर्य व्यभिचार, छल आदिक अनेक उपद्रवों को कि जो अत्यंत अन्याय रूप हैं उदय करता है। और जब क्रोध का धूम मन में भरता है तो वैर, वैमनस्य, विघात, अहंकार आदिक कुकर्म जो परम अन्याय रूप है प्रगट होने लग जाते है। और जब अज्ञान मन में समाता है तो प्राणी मानो संपूर्ण अन्यायों की मूर्ति बन जाता है। इस हेतु से व्यग्रता को समस्त अपकर्मों का मूल जान के कदाचित मन मे न आने देना चाहिये। उपाय इस व्यग्रता की निवृत्ति का यह है कि सर्वदा महात्मा का संग और आत्मा की चिकित्सा यथा क्रम करता रहे। क्योंकि आत्मा की चिकित्सा करते रहने से व्याधि तो चाहे कभी कोई हो जावे परन्तु आधि और उपाधि से प्राणी सदा बचा रहता है।

प्रश्न—व्याधि, आधि, उपाधि, का अर्थ मैं नहीं समझा। कृपया बताइये।

उत्तर—व्याधि इस का नाम है कि जो कफ, वात, पित्त के तारतम्य से कोई ज्वर, शूल, गुल्म, व्रण आदिक उपद्रव देह में उत्पन्न हो जाते हैं।

आधि—इस को कहते हैं कि जो काम, क्रोध, अज्ञान आदिक उपद्रव मन को दुखी करते है।

उपाधि—वह है कि जो नेत्र, कान, नासा आदिक इंद्रिय वर्ग में उत्पन्न होकर पीड़ा देती हैं।

सो सर्व पुरुषों को उचित है कि यदि कोई व्याधि अचानक आ

पड़े तो विवशता है परन्तु आधि और उपाधि को जो अपने आधीन है, कभी मन में न भरने दें अर्थात् अपनी ओर से कोई ऐसा काम न कर बैठे कि जो आधि और उपाधि का हेतु होवे।

दशम, दुराचार—किसी ऐसे व्यवहार या आचार वा क्रियादि का करना कि जिस से अन्य पुरुषों को स्वभावत: ही दु:ख प्राप्त हुआ करे। जैसा कि दुष्ट लोग व्यर्थ ही वैसे व्यवहार करते है कि जिन से समीपियों और मार्ग-गामियों को नाना दु:ख सहारने पडे। प्रतिकार इस का यह है कि प्राणी इस बात को विचारे कि जगत में सब लोग देह के अंग उपांग के समान परस्पर एक दूसरे के सहायक है। यदि मैं इसके विरुद्ध जीवों को व्यर्थ ही सताऊंगा तो कितना बुरा गिना जाऊंगा।

जब कोई व्यर्थ ही किसी को सताता है तो उस समय अपने अज्ञान से यद्यपि अपने मनमें कुछ आनन्द मानता है परंतु थोड़े ही काल में उसे पश्चात्ताप करना पड़ता है। आश्चर्य है उनपर कि जो किंचित धन, मान, कुटुम्ब को पाके ऐसे उन्नत हो जाते है कि बड़े २ हस्तियों को मानो अभी पावों के नीचे डाल कर कुचल डालें। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य एक निमेष-मात्र में अपना सब कुछ नष्ट करके चींटी के समान निर्बल और असमर्थ बन जाता है फिर अहंकार किस बात का करे। बहुत बार परीक्षा की है कि बड़े २ कुटुम्बियों का कि जिनके सहस्त्रों सम्बन्धी थे, एक ही क्षण में नाम मिट गया और महा निर्धन वा निर्वंश दीन पुरुषों को धनवान बन जाते और पुत्र कलत्रादि से विभूषित हो जाते देखा। सो योग्य है कि पुरुष किसी बात का अभिमान न करे। जैसे बने धन, मान, कुल आदिक पदार्थों से अन्य जीवों को सुख देवे। बस ये पूर्वोक्त दश बातें पर-अन्याय रूप हैं कि जिनके बरतने से प्राणी कभी सुखी नहीं रह सकता।

अब जो दूसरा अपर-अन्याय कहा था उत्पत्ति उसकी न्याय की न्यूनता से है और अर्थ उसका यह है कि अपने ऊपर अन्याय करना अर्थात् अपने आप को दुःखी रखना। प्रतिकार इसका यह है कि इस बात को सोचे कि मेरा जो आत्मा है उसमे प्रथम से कोई कष्ट नहीं किन्तु शुद्ध और प्रसन्न है अब जो मै इसको दुःखी और दीन रखू तो परम अन्याय है। यह अपर-अन्याय कि जिसको आत्मघात भी कहते है दो प्रकार का होता है। एक तो 'स्वकृत-आत्मघात' और दूसरा 'पर-कृत आत्मघात'।

'स्वकृत' तो यह है कि अपना घात आपही करना। उपाय इसका यही है कि जो ऊपर लिख चुके कि सदा अपने आत्मा को सुखी रखना चाहिये किन्तु ऐसी रीति से कि उससे कोई निन्दित कर्म न होने पावे। उक्त 'स्वकृत आत्मघात' यह भी होता है कि इन छः बातों के संग प्रेम रखना कि जिन से सर्वदा काल आत्मा को दुःख रहता है और वे नीचे लिखी है :—

१ विद्या का न पढ़ना—इससे प्राणी आयु पर्यंत दुःखी और शोकित रहता है। विद्या एक अमोलक और गुप्त धन है कि चाहे प्राणी कैसा ही कुरूप और दीन निर्धन हो परन्तु कभी शोकार्त्त और चिन्तातुर होके नहीं बैठता, किन्तु इस आनन्द मे उन्नत रहता है कि मेरे पास वह पदार्थ है कि जिसके द्वारा मै सबसे पहले सत्कार पा सकता हूँ।

२ कुसंग सेवन—इसमे ऐसे २ उपद्रवो और विकारो की प्राप्ति और प्रकृति हो जाती है कि प्राणी आयु पर्यंत सुख का श्वास नहीं भरता, सदा रो रो के दिन काटता और पश्चात्ताप करता है। जैसा कि द्यूत, चौर्य्य, व्यभिचार का करना और भांग, चरस आदिक का उड़ाना, बहुत सोना तथा खाना और बहुत बोलना, निकम्मे बैठना और अहंकार, निर्लज्जता, निर्भयता आदि। ये समस्त विकार जो महा दुःख-

दायक है केवल कुसंग के प्रताप से ही प्राप्त होते और आत्मा का घात करते हैं।

३ क्रोध—इस के उदय में वैसे काम करने लग जाता है कि जिनसे प्राय अपना ही घात हो। जैसा कि छाती पीटना, सिर फोड़ना, कपडा फाड़ना वा बरतन तोड़ना, अन्न जलादि का त्यागना, कठिन व्रतों वा नियमों का धारना, विष खाना इत्यादि। और ऐसी अनेक दुःखदायक क्रियाएं उस का फल होती हैं।

४ अहंकार—इसके प्रताप से भी वे कार्य प्रकट होते है कि जिनसे सर्वदा काल आत्मा को कष्ट रहे। जैसा कि अहंकारी पुरुष किसी अन्य के पास जाने में जो अपनी लघुता समझता है इस कारण उसके वे आवश्यक व्यवहार असिद्ध रहते हैं कि जिनकी सिद्धि उसके आनन्द मे कारण थी। अथवा अहंकारी पुरुष व्यर्थ ही संसार से बैरादि कर के सदा दुःखी रहता है। और कभी कभी अहंकारी पुरुष अपना मान बढ़ाने के लिये ऐसे ऐसे पाखण्ड-नियम भी धार लेता है कि जिन से आत्मा को अत्यन्त कष्ट रहे। जैसा कि ऊर्ध्वबाहु बनना, दिगंबर विचरना, अधोमुख लटकना, निरन्न रहना, पंचाग्नि तपना इत्यादि।

५ कृपणता—इस से वे व्यवहार प्रकट होते हैं कि जिन से कभी सुख नहीं होता। जैसा कि रूक्ष और गत रस भोजन का करना, और शीत उष्ण के समय वस्त्र का संकोच करना। चाहे कैसे ही भोग्य पदार्थ घर में धरे हों और पड़े ही बिगड़ जायें परंच आप उनको ग्रहण न करना। तात्पर्य्य यह है कि शरीर चाहे अभी नष्ट हो जावे, परन्तु धनादि के नष्ट होने को न सहार सकना।

६ बाधा—इससे वे निन्दित व्यवहार प्रकट होते हैं कि जिनसे अपने शरीर और प्राण का घात हो जावे। जैसा कि किसी हेतु से आप ही विष खा लेना, फाँसी लगा लेना, गोली मार लेना, कूप में कूदना,

शस्त्रादि से कट मरना इत्यादि तथा और भी कई प्रकार से मूर्ख लोग अपना नाश कर लेते है। हाय। आश्चर्य कि वे अपने आप ही अपने अमूल्य जीवन सुख को खो लेते है।

अब जो दूसरा 'पर-कृत आत्मघात' कहा था वह यह है कि किसी दूसरे के अन्याय और उपद्रव को अपने ऊपर सहारते रहना। तात्पर्य यह है कि आत्मा के दुःखी करने का नाम अन्याय है सो चाहे कोई अपने को, चाहे अन्य को दुःखी रखे दोनों भाति से इसको अन्याय ही कहा जावेगा, क्योंकि दुःख संपूर्ण आत्माओं को एक-सा ही होता है। उपाय इसका यह है कि जब किसी का अन्याय अपने ऊपर होता देखे तो अपने आत्मा को बचाने का यत्न करे। जैसा कि यदि राजा अन्यायी हो और उस के राज्य में सर्वदा उपद्रव उठते रहते हों तो उस के राज्य से बाहर हो जाना उचित है। और यदि कोई अन्य पुरुप अन्याय और उपद्रव करता हो कि जिस से सर्वदा काल तुम को कष्ट रहता हो तो जैसे बने उस का दमन करना योग्य है।

प्रश्न—आपने पूर्व कहा था कि चाहे कोई कैसा ही दुःख देवे परन्तु प्राणी को सदा क्षमा रखनी अर्थात् सहारना चाहिये और फिर अब कहते हो कि दूसरे के अन्याय से बचने का उपाय करना चाहिये। इसमे मुझ को बड़ा सन्देह खड़ा हो गया कि इन मे से कौनसी बात ग्रहण करने योग्य है?

उत्तर—हम अब भी क्षमा का निपेध नहीं करते किन्तु यह कहते हैं कि आत्मा को अन्य के अन्याय से बचाना चाहिये न कि क्षमा को त्यागना। सो वह बचाना कई भाति से होता है यदि सच पूछो तो क्षमा भी एक प्रकार का बचाव ही है। क्योंकि जब कोई किसी के अन्याय को अपने ऊपर सहार लेता है तो फिर उसका आत्मा बहुत दुःख नहीं मानता। तात्पर्य यह है कि प्राणी को अपने आत्मा की रक्षा

करनी चाहिये चाहे क्षमा से हो और चाहे भाग के और चाहे अन्यायी के मन को शांत करके कि जिससे वह अन्याय को त्याग देवे। परंतु सर्वदा काल आत्मा को दुःख के नीचे दबाये रखना श्रेष्ठ नहीं है। जैसा कि देखो, यह कदाचित योग्य नहीं कि यदि कोई चोर नित्यंप्रति तुम्हारा धन हरता हो अथवा कोई दुष्ट कुछ शारीरिक पीड़ा तुम को नित्य देता हो वा किसी स्थान में सिंह सर्पादि का भय हो तो तुम अपनी त्राण का उपाय न करो। हां, यह तो सत्य है कि बुरे के साथ उस के समान बुराई करना योग्य नहीं परन्तु शुभ रीति से अपनी त्राण का उपाय कर लेना किसी भांति से वर्जित नहीं होता।

बस, जो कोई इन संपूर्ण रोगों से बच के सवित, संतोष, शौर्य्य को समभाव पर रखे वह यथार्थ न्यायवान है। और न्याय केवल इसी का ही नाम है कि प्राणी संपूर्ण व्यवहारों को सदा समभाव पर रखे और किसी अंश में न्यून अधिक न होने देवे।

प्रश्न—अब मैं यद्यपि अरोग हुआ और कोई संशय भी मन में नही उठता तथापि एक बात मैं और पूछता हूँ कि यदि उक्त उपायों से आत्मा एक बार अरोग हो जावे तो किसी कुपथ्यादि के सेवन से क्या फिर भी रोगी हो जाना सम्भव है ?

उत्तर—हां, जैसे शरीरिक रोगों की निवृत्ति होने पर भी कुपथ्य सेवन से फिर रोग उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही आत्म रोगों की निवृत्ति के अनंतर भी द्वादश प्रकार के कुपथ्य का सेवन सदा वर्जित है क्योंकि उन के सेवन से आत्मा फिर से रोगी हो जाता है।

प्रश्न—वे द्वादश-कुपथ्य कौन से है कि जिन के सेवन से आत्मा को सदा बचाना चाहिये ?

उत्तर—वे द्वादश-कुपथ्य ये है कि जो नीचे लिखे जाते है :—

१—जब आत्मा सर्व प्रकार से निरोग होकर सम्वित आदिक

तीनों धर्मों मे समासीन हो तो योग्य है कि कुसगका सर्वदा त्याग रखे। क्योंकि मन का स्वभाव है कि चाहे कैसा हो दृढ़ हो परंच समीपवर्त्तियों के स्वाभावादि यत्किंचित् अवश्य ही ग्रहण कर लेता है।

२—अत्यन्त उपहास का त्याग करे कि यह संपूर्ण विकारो और उपद्रवों का मूल है। मनुष्य को उचित है कि यह अपने समस्त अवयवो को उन व्यवहारों मे प्रवृत्त न होने देवे कि जो स्वार्थ वा परार्थके अनुपयोगी हों। सो अभ्यास द्वारा सब कुछ सुगम होता है। यदि वृथा ही उपहासादि का अभ्यास और स्वभाव रखेगा तो फिर आयु पर्यंत कभी नहीं छूट सकेगा।

३—बुरी बातों के सुनने और कहने वा देखने का त्याग करे। क्यो कि जैसे मन्द पुरुषों के संग से मन अशुद्ध और विकारी हो जाता है वैसे ही मंद वाक्यों के कथन श्रवण से भी हो जाता है। ऐसे ही कोक काव्यादि ग्रंथों वा विषय विकार युक्त उपन्यासादि के पठन श्रवण का भी त्याग करे। क्योंकि इनमे भी प्रविष्ट हुआ मन फिर कभी छूट नहीं सकता।

४—सांसारिक जीवों से मैत्री अत्यन्त अधिक न करे और अत्यन्त न्यून भी न होने देवे। क्योकि यदि अधिक होगी तो उसमें वियोग का दुःख और मिथ्यालाप, निर्लज्जता, ठट्ठा उपहास आदिक अनेक विकार उदय हो जायेंगे। और न्यून रही तो कुछ रस और लाभ प्राप्त नहीं होगा। उचित है कि जिससे मिले, प्रसन्न चेष्टा और आल्हाद से प्रफुल्लित होकर समभाव पर मिले, अत्यन्त प्रेम करना अनुचित है। जो जन किसी हेतु से प्रसन्न-चेष्ट और प्रफुल्लित नहीं प्रतीत होता उसके साथ स्वभावतः ही सारा संसार खिंचा रहता है। और जहाँ तहाँ उसके छिद्र और औगुन का आख्यान हुआ करता है। सबके चित्त का स्वभाव है कि जिस किसी के साथ किंचित वैमनस्य होवे तो सारे

संसार के छिद्र और विकार इसी में आरोपण करने लग जाता है। और जिसके साथ कुछ सामीप्य होवे उसके अवगुणों को भी गुण रूप मानता है। इस कारण से योग्य है कि किसी के साथ वैमनस्य न होने देवे और न अत्यन्त प्रेम को बढ़ावे।

५—काम और क्रोध की सामग्री रूप मद्य, मास, मैथुन, स्त्री वा बालकों का संग, द्यूत, नृति (नाच-गान) आदि के सेवन से बचता रहे। इनके सेवन से मन अवश्य ही आसक्त हो जाता है और उस आसक्ति के प्रताप से उद्धार का अवकाश नहीं रहता। फिर वह अनवकाशिता काम क्रोध की वृद्धि में कारण और वे दोनों वृद्धि पाकर सहज में ही आत्मा का विनाश कर देते हैं। और यह मद्यादि सामग्री परंपरा से एक दूसरे की उत्पत्ति में कारण हैं। जैसा कि मद्यप पुरुष मांसादि सुस्वादु वस्तु की चाह अवश्य करेगा। और मांसाहारी का मन मैथुन की इच्छा अवश्य रखेगा फिर मैथुन की इच्छा स्त्री वा बालकों के संग में जोड़ेगी। वह स्त्री-संग द्रव्य-साध्य होने से फिर द्यूत कर्म का प्रेरक है, और द्यूत को द्रव्य उपलब्धि का साधन रूप होने से नृति का जनक समझो। फिर नृति से काम की उत्पत्ति और काम से क्रोध का प्रादुर्भाव समझना चाहिये। इस कारण मुमुक्षु को इसमें से किसी एक वस्तु की भी इच्छा करनी योग्य नहीं।

६—अन्न, वस्त्र, स्थान, यान आदिक पदार्थों के संचय में मुख्य प्रयोजन निर्वाह को समझे। क्योंकि यदि अत्यन्त इच्छा करेगा तो अनेक क्लेश और उपद्रव तथा उपताप सहारने पड़ेगे। अधिक लिप्सु पुरुष सर्वदा काल पदार्थों के सञ्चय में आसक्त रहता है। और वैसा दिन कभी नहीं देखता कि सञ्चित पदार्थों का सुख प्राप्त करे। वे लोग अत्यन्त मूर्ख हैं कि जो इस बात को नहीं विचारते कि प्रयोजन द्रव्य सञ्चय का सुख पूर्वक निर्वाह है। यदि निर्वाह सामान्य द्रव्य से ही हो

जावे तो दीर्घ प्रयास वा प्रयत्न वा पराधीनता वा विदेश गमनादि क्लेश उठाने मे क्या तात्पर्य है। जो लोग इंद्रियों के अधिक रस और स्वाद के निमित्त अति प्रयास उठाते है, उन्हें यह विचारने योग्य है कि जितने रस और स्वाद है वे मन की प्रसन्नता और शरीर के नीरोग होने से अच्छे लगते है और यदि मन वा शरीर अस्वस्थ हो तो सब विरस भासते है। फिर क्या लाभ कि प्राणी द्रव्य संचय के प्रयास रूप कष्ट से अपने मन वा शरीर को अप्रसन्न और रोगी बनाये रखे। जबकि यह सिद्ध हो चुका कि सम्पूर्ण सुख वा स्वाद मन वा शरीर की स्वस्थता पर निर्भर है तो बस जब वह प्राप्त है तो अधिक साधनों की लालसा वृथा है। यह भी देखने मे आता है कि कोई जितना अधिक सुखादि को भोगता है उतना ही अधिक तृष्णाग्नि उसके हृदय को दग्ध करती है। क्योंकि संसार में भोगो की अनन्तता होने से कोई कभी तृप्त नहीं हो सकता, उलटा अधिक भोगो का भोगना दु खों मे कारण है। और यह भी बात है कि क्षुधा पिपासा के समय और उनकी तृप्ति वा निवृत्ति के समय धनी और निर्धन समान होता है फिर भी जो धनी के पास निर्धन से अधिक धनादि हो तो क्या विशेषता है उलटा वे धनादिक पदार्थ उसको मन्द मार्ग और कुकर्म की ओर प्रवृत्त करते है।

७—प्रथम हानि लाभ और फल विचारे विना किसी कार्य का आरम्भ न करे। और बुद्धि से विरुद्ध अंगोपाग को न हिलावे। यदि कोई कर्म बुद्धि और विचार के विरुद्ध हो भी जावे तो पश्चात्ताप करके अपने मन को ऐसा धिक्कारे कि फिर कभी ऐसे कर्म का नाम न लेवे। आश्चर्य है उन पर कि जो बुद्धि से विरुद्ध क्रिया करके सर्वदा काल महा दुःख भी उठाते है परतु विचार और बुद्धि के अनुसार चलने को ग्रहण नहीं कर सकते।

८—अपने दूषण और औगुन को भूल न जावे किंतु उसे सदा दृष्टि गोचर रख के त्याग का यत्न करे। मन का स्वभाव है कि जहा इसका

प्रेम हो जावे चाहे वह अंध, कुब्ज, खंज, पंगु, कुष्टी और कुटिल भी हो तो भी उसके दूषण और औगुण को नहीं देखता। इसी भांति अपने शरीर में, जो प्राणी का संपूर्ण संसार से अधिक प्रेम है अपने औगुन और दूषण आप ही प्रतीत नहीं होते कि झट ही त्याग देवे। योग्य है कि किसी सुबोध मित्र को कह छोड़े कि मेरे दूषण मुझ को बतलाते रहना नहीं तो अज्ञात ही विनाश हो जावेगा।

९—दुःस्वभाव चाहे स्वल्पसा भी हो उसको महान अपराध समझ के त्याग देवे। क्योंकि वह स्वल्पसा दुःस्वभाव थोड़े ही काल में महान हो जाता है और फिर उसकी निवृत्ति का सामर्थ्य नहीं रहता।

१०—वर्जित प्रतिष्ठा को अपने चित्त में न भरने देवे कि जिसके प्रताप से मूर्ख लोग आयु पर्यंत दुःखो रहते हैं। जैसा कि किसी ने फुसलाया कि ये बड़े महापुरुष है, अन्न बहुत थोड़ा खाते अथवा सोते बहुत स्वल्पसा हैं वा बोलते बहुत सूक्ष्म है इत्यादि। तो बड़ाई के वाक्यों को सुनके भोजन और निद्रादि को घटा देना। अथवा किसी ने कहा कि ये बड़े २कूप को वत्सपद की नाईं कूद सकते है तो अज्ञान से दात को तुडा लेना। अथवा झूठी वा वर्जित प्रतिष्ठा को ग्रहण करके अपनी लघुता हो जाने के भय से उन उत्तम उपदेश और श्रेष्ठ विद्यादि के ग्रहण से शून्य रह जाना कि जिनसे परम सुख प्राप्त होवे। हाय! आश्चर्य कि प्राणी स्त्री, पुत्र, धनादि तुच्छ पदार्थों और सुखो के लिये तो विदेश गमन और पराधीनतादि अनेक क्लेशों को सहार लेते है कि जो सुख एक क्षण में नष्ट हो जाते अथवा मृत्यु के पीछे पराये हो जाते हैं, परन्तु परम सुख और स्थायी आनन्द को किंचित लघुता के भय से ही त्याग देते है।

११—यदि व्यर्थ क्रोध का स्वभाव हो जावे तो जैसे बने उसके निवारण का यत्न करे। अथवा किसी मूर्ख भृत्य को सेवा मे रखे क्योंकि

उस से जो सर्वदा अपराध होते रहते है इस कारण उसके मूर्खत्व पर दृष्टि करके क्षमा की प्रकृति हो जावेगी। जिस प्राणी को व्यर्थ क्रोध का स्वभाव हो जाता है वह प्रतिश्वास अपने और पराये कामों को देख २ दग्ध होता रहता है। और यदि कोई उससे कुछ प्रेम भाव में भी बोले तो अति परितप्त होकर उत्तर देता है। तात्पर्य यह कि वात वात मे उसके मुख, आख, हस्त, पाद आदिक अंग उपाग से अग्निवत दाहक क्रिया प्रकट होती रहती है। और वह सकंटक वृक्ष की नाई सदा अपने और पराये आत्मा को छेदन करता और दुःख देता रहता है।

१२—हठ न करे, जो कदाचित कोई पुरुष किसी विषय में कुछ शिक्षा प्रदान करे तो उससे सिर न फेरे किंतु क्षमा पूर्वक ग्रहण करले। वहुत लोग हैं कि चाहे अपने मे कैसे ही औगुन पूरित हो परंच यदि कोई उन को कुछ जतलाने लगे तो क्रुद्ध हो जाते अथवा हठ से वक्ता को झूठा ठहराते हैं। हठी पुरुष का स्वभाव है कि अपने पक्षकी पूर्ति के निमित्त वारंवार अनृत कहने और अन्याय करने लग जाता है। वह यह नहीं जानता कि यदि मैं प्रथम ही हठ को छोड़ दूं तो फिर कोई पाप करना नहीं पड़ेगा। अहो उन दक्ष पुरुषों का धैर्य, कि जो महा मूर्खों की शिक्षादि को भी उनके सामने इस हेतु से स्वीकार कर लेते हैं कि यदि हम ऐसा न करेंगे तो इन का मन भंग और निरादर होगा।

वस, जो पुरुष पूर्वोक्त सत्वादि तीन गुण को अपने आत्मा में समभाव पर रखे अर्थात् न्यूनता अधिकता जन्य किसी प्रकार के रोग से ग्रस्त न होने देवे और सर्वदा काल उक्त द्वादश कुपथ्य से वचावे वह न्याय द्वारा मोक्ष का भागी और कृतार्थ गिना जावेगा। अव तुम को भी उचित है कि हमारे संपूर्ण कथन को हृदय में रख के उसके

अनुसार चलने का आरंभ करो। क्योंकि जब लों कोई पुरुष धारणा संपन्न दृढ़ निष्ठा नहीं करता तब लों चाहे संपूर्ण विद्या प्राप्त हो परंतु कुछ लाभ नहीं उठाता। देखो, जैसे किसी रोगी के पास चाहे समस्त औषधियां धरी हों किन्तु विधि युक्त ग्रहण और सेवन किये बिना दुःख निवृत्त और सुख की प्राप्ति सभव नहीं, वैसे ही धारणा के बिना संपूर्ण विद्या और शिक्षायें व्यर्थ हैं।

प्रश्न—हे गुरो, आपने पूर्व आज्ञा की थी कि पहिले आत्मा की चिकित्सा करो फिर युक्ति पूर्वक तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया जावेगा। सो अब आपकी कृपा से मैं आत्मा की चिकित्सा को सुन चुका जो ऐसी उपादेय है कि मन अपने आप उसके अनुसार चलने को उद्यत हो रहा है; परतु अब मेरे उन प्रश्नों का उत्तर भी कृपा कर दीजिये कि परमेश्वर क्या वस्तु है? वेद उसकी वाणी कैसे है? देहमें जीव क्या पदार्थ है कि जो पाप पुण्य के अनुसार नर्क स्वर्ग में जाता और ज्ञान के प्रताप से मोक्ष फल पाता है? तथा ज्ञानवान को किस पद्धति और कैसे आचार व्यवहार पर चलना चाहिये?

उत्तर—हा, आत्मा की चिकित्सा किये बिना कोई पुरुष विज्ञान पद का अधिकारी नहीं होता। सो अब तुमने जो आत्मा की चिकित्सा कर ली है इस हेतु से अब तुमको विज्ञान-मार्ग का उपदेश सुनाते हैं जिसमें तुम्हारे समस्त प्रश्नों का उत्तर दृढ़ युक्तियों के साथ दिया जावेगा। तुमको उचित है कि जो पुरुष आत्मा की चिकित्सा न कर लेवे अथवा अपराविद्या से आगे जिसकी बुद्धि न चल सकती हो उसे विज्ञान पद या पराविद्या की बात कभी न सुनाना।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-प्रवाह पूर्व भागे आत्म चिकित्सायां न्याय वर्णनं पञ्चमस्तरङ्गः समाप्तः।

समाप्तोयं पूर्वभागः

ॐ परम गुरवे नमः

॥ अथ सत्यामृतप्रवाह नामग्रंथस्य उत्तरभागः ॥

अथ प्रथम तरङ्गस्यारम्भः

आदौ वेदोपदेशः कथ्यते

हे लोगो, यह जो जगत् प्रपंच दिखाई देता है दो प्रकार का है एक जड़ दूसरा चेतन। यद्यपि चेतन जीव, पशु पक्षी रूप से कई भाति के है परन्तु सब में मनुष्य श्रेष्ठ है कि जिसको अपने पराये सुख दुःख का ज्ञान है और सुख की प्रवृत्ति और दुःख की निवृत्तिका यत्न कर सकता है। जो लोग इसको केवल तुच्छ सुख विषयानन्द में प्रवृत्त करके परमानन्द स्वरूप मोक्ष की इच्छा नहीं करते वे पशु के समान है क्योंकि विषय सुख पशु को भी प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—परमानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर—विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सो विद्या दो प्रकार की है एक परा दूसरो अपरा जैसाकि अथर्व वेद की मुंडक नाम उपनिषद् में लिखा है :—

"द्वे विद्येवेदितव्ये इति ह स्मयब्रह्म विदो
विदन्ति परा चैवापराच। तत्रापरा ऋग्
वेदोयजुर्वेद. सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा
कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिष-
मिति। अथ परा यया तदक्षर मधिगम्यते"

अर्थ इसका यह है कि दो विद्या जाननी चाहिये जिनको ब्रह्मवेत्ता लोग परा और अपरा कहते है। सो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त ये वेद के छः अंग सब मिल के अपरा विद्या कहलाती है कि जिससे वरे का सुख मिले। और पराविद्या वह है जिससे अक्षर ब्रह्म (परे) का ज्ञान हो और परम सुख की प्राप्ति हो।

प्रश्न—यद्यपि ऋग्वेदादि को वरे की विद्यारूप होने से अपराविद्या कहा है तथापि मनुष्य को जानना उसका भी वहुत आवश्यक है। सो वताइये ऋगादि चारों वेद रचे हुए किसके है और वे उपदेश किस वात का करते है ?

उत्तर—उन्हीं वेदों के वाक्य अनुसार पाया जाता है कि वे किसी मनुष्य के रचे हुए नहीं किन्तु परमेश्वर के ज्ञान का नाम वेद है और उस परमेश्वर से ही वह प्रकट हुआ है। जैसे परमेश्वर अनादि है वैसे वेद भी अनादि हैं। जो तुमने पूछा उसमें उपदेश क्या है ? सो उपदेश तो उसमें मोक्ष सुख का ही है; परन्तु प्राणी को यथार्थ निर्भय नहीं होने देता इस हेतु से अपरा अर्थात् वरे की विद्या उसका नाम है। परे का उपदेश कुछ और है कि जो मनुष्य को यथार्थ निर्भय और निर्भ्रम कर देता है।

प्रश्न—वेद तो सारा छन्दोवद्ध और वर्णात्मक शब्द है वह परमेश्वर ने कैसे उच्चारण किया कि जिसकी जिह्वा नहीं ?

उत्तर—वेद में लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर ने जगत के सुख और कल्याण के निमित्त संपूर्ण विद्यामय वेद पहले अग्नि, वायु, और सूर्य के हृदय में प्रकाशित किया। उनसे ब्रह्मा जी ने पढ़ा, ब्रह्मा जी ने जगत मे फैलाया।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि अग्नि, आदिक के हृदय मे वेद को

परमेश्वर ने ही प्रकाशित किया ? हम कहेंगे वेद को उन तीनों ऋषियों ने ही रचा है अथवा ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से रच लिया होगा।

उत्तर—सृष्टि के आदि में परमेश्वर के सिवाय न कोई मनुष्य विद्यमान था और न कोई पुस्तक, फिर अग्नि आदिक ऋषियों ने वेद रचने की शिक्षा कहा से पाई ? क्योंकि बिना किसी के सिखाये मनुष्य तो बोल भी नहीं सकता, उन्होंने वेदको कैसे रच लिया कि जो संपूर्ण विद्याओं का भंडार है। इससे प्रकट है कि उनके हृदय में वेद को ईश्वर ने भरा है। जैसाकि—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्य जु स्तस्माद जायत"

य० अ० ३१ मं० ७

अर्थ इसका यह है कि उस यज्ञ स्वरूप सर्वहुत परमेश्वर से ऋग्वेद, सामवेद, छन्द अर्थात् अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुआ है।

अग्नि आदिक से वेद का प्रकट होना शतपथ ब्राह्मण के इस वाक्य से पाया जाता है—

"तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदो अजायन्त
अग्नेऋग्वेदोवायो र्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः"

श० कांड ११ अ० ५

अर्थ—उन तप्तों से तीन वेद प्रकट हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद उत्पन्न हुए।

प्रश्न—शतपथ ब्राह्मण क्या होता है ?

उत्तर—वेद तो वह है कि जिसको मन्त्रभाग कहते है और ब्राह्मण भाग वह है जो उन मन्त्रों की व्याख्या रूप है और ब्रह्मादिक ऋषि मुनियों का रचा है। चारो वेद के चार ब्राह्मण है। ऋग्वेद का ऐत्तरेय

ब्राह्मण है जिसको बव्हृच भी कहते हैं, यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण है, सामवेद का साम ब्राह्मण और अथर्ववेद के ब्राह्मण का नाम अथर्व ब्राह्मण है। वेद की व्याख्यारूप होने से ये भी वेद के तुल्य ही मानने योग्य हैं।

११२७ जो वेद की शाखा है वे भी वेद की व्याख्या है और मानने के योग्य हैं।

चारों वेद के साथ चार उपवेद हैं वे भी ऋषि मुनियों के बनाये हुए है। पहला आयुर्वेद कि जिसमे चिकित्सा शास्त्र है। दूसरा धनुर्वेद कि जिसमे शस्त्र, अस्त्रों की विद्या है। तीसरा गान्धर्व वेद कि जिसमें राग, रागिणी, स्वर, ताल और राग के समय का वर्णन है। चौथा अथर्व वेद कि जिसमें शिल्प शास्त्र भरा हुआ है अर्थात् यंत्र और कला द्वारा कार्यों को सिद्ध करना, जैसा कि दूरवीक्षण और अन्वीक्षण आदिक यंत्र प्रसिद्ध है।

चारों वेद के साथ जैसे चार उपवेद कहे वैसे वेद के छः अंग और छः उपांग हैं। परन्तु ये सब ऋषि मुनि लोगों ने वेद का आशय लेकर रचे हुए हैं इसी हेतु से मानने योग्य हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिप ये छः भी वेद के अंग हैं। जैसे—

शिक्षा—पाणिनि आदिक मुनियों की रचना है। इसमे वेद पढ़ने की रीति लिखी है।

कल्प—मनुजी की रचना है। इसमे वेदों की आज्ञा का विधान किया है।

व्याकरण—पाणिनि आदिक मुनियों की रचना है। इसमें वेद के शब्दों की सिद्धि आदिक व्यवहार लिखे है।

निरुक्त—यास्क मुनि का रचा हुआ है और इसमें एकार्थ कोप और अनेकार्थ कोप तथा दुर्बोध विपयों मे पदों के अर्थ को स्पष्ट करना आदिक व्यवहार लिखे हैं।

छन्द—पिंगल मुनि की रचना है इसमें गायत्र्यादि छन्दों के रचना की रीति लिखी है।

ज्योतिप—यह वसिष्ठादि ऋषियों की कृति है। इसमें वेद अनध्याय तथा रेखा और बीज गणित तथा सूर्यादि ग्रहो का दौर्य्य सामीप्य और आपस का संयोग वियोग आदिक व्यवहार लिखे हैं।

मीमासा, वैशेषिक, न्याय, पातंजल, साख्य, वेदान्त ये षट् शास्त्र वेद के उपाग है जिनको षट् दर्शन भी कहते है।

मीमासा—पूर्व-मीमासा-सूत्र का नाम है इसमें सन्ध्या बन्दन से ले के अश्वमेध यज्ञ पर्य्यन्त कर्मकाण्ड भरा हुआ है और यह जैमिनी मुनि का रचा हुआ है और इसी का नाम धर्म शास्त्र है।

वैशेषिक—कणाद मुनि के रचे सूत्रों का नाम है इसमें धर्म और धर्मी का निर्णय किया है।

न्याय—गोतम मुनि कृत सूत्रों का नाम है। इसमें सप्त पदार्थों की विद्या भरी हुई है।

पातंजल—पतंजलि मुनि कृत सूत्रों का नाम है। इसमें योग की रीति से उपासना लिखी है, इस हेतु से इसको योग शास्त्र भी कहते हैं।

साख्य—कपिल मुनि के सूत्रो का नाम है इसमें तत्वों का विवेक लिखा है।

वेदात—व्यासजी के रचे सूत्रों का नाम है इसमें ईश्वर की प्राप्ति और मोक्ष का वर्णन है।

प्रश्न—श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, कौन से होते है ये सब सत्य हैं या असत्य ?

उत्तर—श्रुति नाम तो वेद का ही है और स्मृति मनुस्मृति आदिक धर्म शास्त्रों का नाम है जिनको वेद का आशय लेके मन्वादिक ऋषियों ने लिखा। उपनिषद् को साक्षात् वेद ही मानना चाहिये

क्योंकि उसमें वेद के ज्ञान काड का वर्णन है। ईश, केन, कठ, मुंड, माड्क्य प्रश्न, श्वेतास्वतर, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और तैत्तिरीय इन दश उपनिषद् को सत्य जानना चाहिये क्योंकि उनमे चाहे ऋषि लोगों की कल्पना तो है परन्तु वेद की संहिताओ के मन्त्र भी वहुत आ जाते है। इतिहास, महाभारत और वाल्मीकीय रामायण का नाम है और वह ऋषि प्रोक्त होने से मानने के योग्य है। पुराण, ब्रह्मवैवर्त्तादि* से लेके १८ हैं। चाहे कुछ सत्य तो उनमे भी है परन्तु उत्तम अधिकारी को उनके पढ़ने से और सुनने से वहुत संशय खड़े हो जाते है क्योकि उनमें रोचक भयानक कथा रूपकालंकार की रीति से वहुत लिखी है। योग्य है कि उत्तम वुद्धि का पुरुष उनमे ध्यान न दे और जिनका उनमे ध्यान है उनको आगे का उपदेश तो करे पर उनकी समझ पर उपहास न करे।

प्रश्न—क्या यह वात सत्य है कि अठारह पुराण के कर्त्ता सत्यवती के पुत्र व्यास जी हैं?

उत्तर—उनकी कथाओं का परस्पर विरोध और उनके लेखो को संसारी नियमों के विरुद्ध देख के कई विद्वान् उनको व्यास कृत नहीं मानते परन्तु यदि मान लें तो कुछ दोष नहीं आता, क्योकि समस्त लोगों के लिये उनकी रचना नहीं किन्तु निकृष्ट और मध्यम पुरुषों के निमित्त उनको रचा है कि जिनकी वुद्धि वेद शास्त्र के गंभीर तात्पर्य को समझ नहीं सकती। यद्यपि उनकी कथाये और प्रसग और भूगोल, खगोलादि के वर्णन तथा उपासना कई प्रकार के सशय उत्पन्न करती हैं परन्तु तात्पर्य व्यास जी का यह था कि मनुष्य प्रथम देवाराधन

---

* ब्रह्म, पद्म, वैष्णव, शैव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कद, वामन, कौर्म्य, मात्स्य, गारुड और ब्रह्माड।

और तीर्थ, व्रत गंगास्नानादि स्थूल बातों से चित्त की स्थिरता और अन्तःकरण की शुद्धि करना सीखें, क्योंकि शम, दमादि साधनों तथा निराकारोपासना और योगाभ्यास द्वारा चित्त को स्थिर करना और अंतःकरण को शुद्ध करना साधारण लोगों को बहुत कठिन है। जब मन स्थिर और शुद्ध हो गया तो पुराणो की कुछ आवश्यकता नहीं, वेद शास्त्र द्वारा ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होवे। कुछ लोग कहते है कि जब अन्त को ज्ञान मार्ग का उपदेश ही कर्त्तव्य है तो पहिले पुराणोक्त मूर्ति पूजादि के झमेले में डालना क्या आवश्यक है कि जिसका छोड़ना फिर कठिन हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि जो पहले ही ज्ञानोपदेश को समझ सके उसको इस झमेले में डालना बड़ा अनर्थ है परंतु जिनकी बुद्धि ज्ञान मार्ग लों पहुँच नहीं सकती उनको कुछ काल अवश्य इस झमेले में डालना चाहिये क्योंकि बिना भय और लालच के मन्द बुद्धि के जीव, न तो सन्मार्ग में प्रवृत्त हो सकते हैं और न उन्मार्ग से निवृत्त हो सकते है।

हां, यह ठीक है कि जो लोग सारा आयु इसी खेल में समाप्त कर लेते और आगे बढ़ना नहीं चाहते उन पर बड़ा भारी शोक करना चाहिये। स्मृत रखो कि पुराणों का कथन उपोद्घात रूप होता है। उपोद्घात उसको कहते है कि हृदय में कुछ और भाव हो और वचन में कुछ और बात हो। जैसा कि किसी ने एक व्यभिचारी वृद्ध को कहा, 'तुम जो अपने श्वेत श्मश्रु को रँग के श्याम बनाये रखते हो इस का फल नर्क है'। अब सोचना चाहिये कि वह उपदेष्टा उससे केवल दाढ़ो का रॅगना छुड़वाना नहीं चाहता किन्तु उसके हृदय मे यह भाव है कि बालों के न रॅगने से इसकी वृद्धता दिखाई देने लगेगी, और फिर यह स्त्रियों से और स्त्रियां इससे संकोच करने लगेंगी और इसकी व्यभिचार वासना छूट जायेगी जो नर्कका हेतु है। इसी प्रकार पुराणों

10

में चाहे कथा और प्रसंग झूठे सच्चे चाहे कैसे ही हों, परन्तु प्रयोजन उनका पाप से बचाना और पुण्य में लगाना है जो मनुष्य का परम धर्म है।

प्रश्न—मन्त्र या तन्त्र शास्त्र क्या है जिसको महादेव जी का रचा हुआ आगम शास्त्र कहते हैं?

उत्तर—महादेवजी ऐसा वेद विरुद्ध शास्त्र क्यों रचने लगे थे कि जिसकी प्रवृत्ति से मनुष्य महा निर्लज्ज, विषयी, व्यभिचारी और परम विकारी हो जावे। यह तो किसी व्यभिचारी पुरुष ने अपने कुकर्म छिपाने के लिए लिखा है।

प्रश्न—जो लोग इसको वेद मूलक कहते हैं क्या वे झूठे हैं?

उत्तर—तुम आप ही सोचो कि ईश्वर ने वेद को सासारिक मर्यादा स्थिर रखने के लिए प्रकट किया है कि जिसमे कोई अनाचार नहीं। फिर जिस शास्त्र में स्त्री को नग्न करना और उसकी योनि में जिह्वा का देना और मद्य, मांस, मिष्या, मैथुन, मुद्रा इस 'मकार पंचक' का ग्रहण करना लिखा हो वह कैसे संसार की मर्यादा स्थिर कर सकता और वेद मूलक बन सकता है? नहीं! कभी नहीं!! यह धूर्तों का पाखंड और वेद निन्दित आचार है। इसमे किसी वेद का प्रमाण हो तो बताओ।

प्रश्न—यह तो समझा कि वेद शास्त्र के सिवाय सत्य ग्रन्थ कोई नहीं परन्तु वेद का पढ़ना जो अब कठिन है हमारे कल्याण का उपाय क्या है?

उत्तर—महात्मा गुरु के संग और उपदेश से तुम्हारा कल्याण सहज में ही हो सकता है।

प्रश्न—गुरु किसको कहते हैं?

उत्तर—गुरु दो प्रकार के होते हैं एक गुरु, दूसरे सद्गुरु। गुरु तो

माता-पिता और ज्येष्ठ बाधवों का नाम है। और सद्गुरु उसका नाम है कि जो सत्पद का उपदेश करके लोक परलोक का परमानन्द दान करे।

प्रश्न—हम कैसे पहचानें कि यह पुरुष सद्गुरु होने के योग्य है और इसके उपदेश से सत्पद की प्राप्ति हो सकेगी ?

उत्तर—जो वेद शास्त्र अथवा उसके तात्पर्य को जानने वाला और जिसका आचार व्यवहार वेद के अनुसार हो। तथा जो पुरुष यथायोग्य सहनशील और सन्तोष, सत्य, शौच, नीति, शाति, ज्ञान, विचारादि गुणों से सम्पन्न तथा निर्भय हो के सब को यथाधिकार सत्य धर्म का उपदेश करे उसका नाम सद्गुरु है। उसकी सेवा और सगति से परम फल की प्राप्ति और महत् पुण्यों को उदय होता है।

प्रश्न—जो लोग कान में कोई मन्त्र फूंकते अथवा जिनके आगे हमारे माता-पिता ने माथा झुका दिया हो अथवा जो परम्परा से हमारे कुल के सद्गुरु बनते चले आते हैं क्या वे सद्गुरु मानने के योग नहीं होते ?

उत्तर—यदि गायत्री मन्त्र अथवा भगवन्नाम हमारे कान में सुनाया हो तो वह किसी अंश में मद्गुरु मानने के योग्य है कि उसने सत्य मार्ग में हमको चलाया और धर्म का बीज हमारे कान में डाला कि जिसको विचारते २ हम मुक्ति रूप अमृत फल प्राप्त कर सकते है। परन्तु मन्त्र मात्र से हमारा कुछ काम सिद्ध नहीं होता। काम सिद्ध तब ही होता है कि जब युक्ति-उक्ति और श्रुति स्मृति के साथ हमारे मानसिक भ्रमों और संशयों का छेदन होवे। केवल पारलौकिक आनंद ही नही वरन् लौकिक क्लेशों की निवृत्ति और सुख साधन की रीति भी सिखावे जिससे हमारी जीवन यात्रा सुख सहित समाप्त होवे और तुमने जो परम्परा गुरुओं की बात कही, यदि उस

परम्परा गुरु के कुल में कोई ऐसा पुरुष वर्त्तमान हो कि जिससे वेदा-नुसार लोक परलोक का ज्ञान प्राप्त हो सके तो उसको अवश्य सद्गुरु मानना चाहिये। नहीं तो इस बात को तुम आपही विचारो कि हमारे पिता पितामह ने जिस वैद्य की औषध से सुख पाया था यदि उसके कुल में अब कोई पुरुष औषधि और रोगका नाम भी न जानता हो तो क्या परम्परा सम्बन्ध मान के अब हमको उसी कुल से चिकित्सा करानी चाहिये अथवा कोई अन्य विद्यावान वैद्य ढूंढ़ना चाहिये ? माता-पिता के माथा झुकाने की बात जो तुमने कही यह भी ठीक नहीं, क्योंकि माता-पिता कभी-कभी किसी मढ़ीके आगे सिर झुकवाके अपनी संतान को कह देते है कि यह महापुरुषों की समाधि है इसको तुम अपना सद्गुरु समझो। भला इतना तो सोचो कि यदि वह महापुरुष जीता होता तो उसके संग और उपदेश से कुछ फल भी होता अब उसकी मढ़ी हमको किस बात का उपदेश कर सकती है ? क्या गुरु कोई घर का राछ है कि भला मिले चाहे बुरा, परन्तु प्राणी को अवश्य बना ही छोड़ना चाहिये। बहुत लोगों ने किसी ऐसे पुरुष को गुरु मान रखा है कि जिसने कभी हमारे कान में मन्त्र फूका था किन्तु अब न वह मन्त्र ही उपस्थित है और न वह गुरु ही जीता है तौभी किसी अन्य महात्मा का उपदेश सुनना श्रेष्ठ नहीं समझते। हम सत्य कहते है कि जो सत्पद का उपदेश करे सद्गुरु उसी का नाम है, अन्य का नहीं।

प्रश्न—वेद और शास्त्र के अनुसार मनुष्य को क्या कुछ करना और जानना चाहिये कि जिससे परमानन्द की प्राप्ति होवे ?

उत्तर—जो कुछ जानना चाहिये वह तो हम ज्ञान काण्ड में कथन करेंगे परन्तु परमानन्द की प्राप्ति के लिये जो कुछ करना चाहिये वह अब संक्षेप से कथन करते है सो सुनो—वेद की आज्ञानुसार मनुष्य

को तोन बातें ग्रहण करनी चाहिये एक कर्म, दूसरे उपासना, तीसरा ज्ञान·—

कर्म—उसका नाम है जो देह से क्रिया की जाती है सो कर्म विहित, अविहित भेद से दो प्रकार का होता है। विहित कर्म वह है कि जिसको वेद ने करना कहा हो जैसाकि स्नान, सन्ध्या, बन्दन, दान, जप, यज्ञ, तोर्थ, व्रत, हठ, सत्कार, सेवा आदिक हैं। और अविहित कर्म वह है कि जिसका न करना वेद ने बताया हो जैसाकि क्रोध, कपट, अहंकार, चोरी, हिंसादि हैं।

स्नान—जल, मृत्तिकादि से नित्यंप्रति प्रात·काल देह को शुद्ध करना।

सन्ध्या—प्रातः, सायं दोनों समय ईश्वर का आराधन करना।

बन्दन—विद्या-वृद्ध, वयो-वृद्ध, गुण-वृद्ध आदि वृद्धों को बन्दन करना।

दान—भूखे को अन्न, प्यासे को जल, नग्न को वस्त्र, मानी को मान, भीरु को अभय तथा विद्या-दान, बुद्धि-दान, ज्ञान-दान ये सब दान कहलाते हैं जिन में देश, काल, पात्र का नियम नहीं।

जप—गायत्री मंत्र तथा भगवन्नाम या प्रणव का उच्चारण करना।

तीर्थ—उत्तम स्थानों की यात्रा तथा सत्संग रूप तीर्थों के स्नान में श्रद्धा रखना।

यज्ञ—यद्यपि अश्वमेध, राजसूय आदिक सकाम यज्ञ भी वेद में विधान किये है परन्तु मुमुक्षु पुरुष को उनकी आवश्यकता नहीं। केवल पाच प्रकार के यज्ञ अवश्य ग्रहण करने चाहियं।

पहिला ब्रह्म यज्ञ अर्थात् वेद का पढ़ता और पढ़ाना। दूसरा पितृ यज्ञ अर्थात् श्राद्ध तर्पण करना। तीसरा देव यज्ञ अर्थात् होम और पंचाहुति आदि का करना, अथवा विद्वानों को देवता समझ के उनमें

भक्ष्य भोज्य पदार्थों का होम करना। चौथा भूत यज्ञ अर्थात् वलि वैश्व देव करना अथवा कीट पतंगादि जीवोंको जो भूत कहलाते है अन्न जल देना। पांचवाँ नृ यज्ञ अर्थात् अतिथि का पूजन करना। अतिथि वह होता है जिस के आने की कोई तिथि निश्चित नहीं।

व्रत—यदि नित्य न हो सके तो दर्श पूर्णिमा के दिन आसुरी संपत् के समस्त कर्मों के त्याग का व्रत धारन करना। तथा उस दिन कोई धर्मोत्सव करना।

हठ—वेद शास्त्र से वाह्य आचार व्यवहार को ग्रहण न करना। जैसा कि मूर्ख लोग किंचित् रोग शोक में व्याकुल होके मृतको की मढ़ी को पूजने तथा सदुपाय को छोड़ के झाड़-फूँक, धागा, यंत्र, कटि, भुजा, शिर मे बांध लेते है। वे यह नहीं समझते कि रोग शोक तो देह में अन्तरीय विकार वा किसी वस्तु के योग वियोग से होते है फिर झाड़-फूँक तथा धागे, यन्त्र से क्या सिद्ध होगा जो देह के ऊपर वांधे जाते हैं? यदि इनसे कुछ फल होता हो तो भूख प्यास के समय भी इन ही से काम लेना चाहिये क्योंकि वे भी अन्तर के रोग हैं।

अव उपासना कांड सुनो :—

परम ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में लीन होने का नाम उपासना है। उपासना सगुण, निर्गुण भेद से दो प्रकार की होती है। सगुण उपासना वह है कि जिसमें ईश्वर को शुद्ध, वुद्ध, नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, कर्त्ता, हर्त्ता, दयालु, सत्य, पवित्र, सर्वशक्तिमान्, मंगलमय, सर्वान्तर्यामी आदिक गुणों से युक्त जान के आराधन किया जाता है। निर्गुण उपासना वह है कि जिस मे ईश्वर को जन्म मरण से रहित निर्विकार, निराधार, संयोग-वियोग से अतीत मान के आराधन किया जाता है।

प्रश्न—यदि ईश्वर को साकार जान के ध्यान किया जावे तो क्या कुछ दोष है?

उत्तर—जब ईश्वर सर्वव्यापक है तो दोष तो कुछ नहीं परन्तु साकारोपासना वेदोक्त नहीं पुराणोक्त है कि जिसको करते करते अनेक प्रकार के सन्देह मन में उठने लग जाते हैं।

प्रश्न—तब तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य, गणेश, राम, कृष्णादि की उपासना तथा किसी मूर्त्ति को आगे रख के उपासना करना भी श्रेष्ठ नहीं होगा ?

उत्तर—यदि कोई पुरुष पहिले कुछ काल इन में मन ठहराना सीखे तो कुछ दोष नहीं परन्तु साकार की उपासना से निराकार की उपासना को वेद में श्रेष्ठ लिखा है। जैसा कि य० अ० ४० मं० ८:—

"सपर्य्यगाच्छुक्र मकाय मव्रणम्"

अर्थ—वह परमेश्वर सर्वव्यापी, शुद्ध और काया से रहित है इसी हेतु से वह अखण्डित है।

बस, इससे प्रकट है कि वेद में ईश्वर को साकार कहीं नहीं लिखा, जब वह साकार नहीं तो उपासना निराकार की श्रेष्ठ है।

प्रश्न—निराकार में मन कैसे लगता है ?

उत्तर—जिसने योग की रीति से उपासना करनी और निराकार में मन को लगाना हो वह शुद्ध पवित्र हो कर स्वच्छ एकांत स्थान में स्थिरता से बैठे। फिर सत्-चित्-आनन्द लक्षणवाले अंतर्यामी, सर्वव्यापी, परमात्मा की ओर अपने मन, इन्द्रिय और आत्मा को जोड़े। जब शनैः शनैः यह ध्यान कुछ बढ़ जावे अर्थात् अन्य चिंतन को छोड़के मन घड़ी आधी घड़ी इसी चिंतन में स्थिर रहने लगे तो स्तुति प्रार्थना और समर्पण के मंत्रों को मनसे पढ़े और साथ ही उनके अर्थों में मनको लगावे। इसी चिंतन को पतंजलि मुनि कृत योग शास्त्र के अध्याय १ पाद १ सूत्र २ में योग कहा है। जैसे :—

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः"

अर्थ इस का यह है कि—उपासना के समय चित्त वृत्ति को रोकने का नाम योग है। इस योग को बढ़ाने और मन को स्थिर करने के लिये गीता में दो उपाय लिखे है। एक अभ्यास, दूसरा वैराग्य।

जब मन ईश्वर के चिंतन को तजके बाह्य विषयों की ओर जाने लगे तो उसे बलात्कार से ईश्वर में जोड़ने का नाम अभ्यास है। संपूर्ण असद्वासना वा स्त्री, पुत्र, धन, धाम, यान, स्थान, मानादि वासनाओं को उपासना के समय मन में न आने देना वैराग्य है।

प्रश्न—पीछे आपने गायत्री मन्त्र और भगवन्नाम का जप कहा था सो वेद में भगवन्नाम कौन सा है ?

उत्तर—पहिले सुने हुए मंत्रों और नामों को मन से दूर कर के अपना तन मन धन ईश्वर में अर्पित करो तो वह बता दिया जावेगा।

प्रश्न—क्या इन के अर्पित किये बिना बताया नहीं जाता ?

उत्तर—बताया तो जाता है परन्तु फल नहीं करता। जब तुम तन अर्पित करोगे तो अपने हाथों से सेवा तथा साधुजनों को नमस्कार करने में लज्जा नहीं करोगे। इस लज्जा के मिटने से तुम में जाति, विद्या, कुल, रूप, बल, धन, धर्मादि पदार्थों का अभिमान नहीं प्रवेश करेगा कि जो अत्यन्त अनर्थ का हेतु और मोक्ष का प्रतिबन्धक है।

मन अर्पित करने से एक तो धर्म के मार्ग में यदि कोई विपत् आजावे तो सहार लोगे और दूसरे लोक लाज, कुल लाज तुमको धर्म से पीछे न हटावेगी।

धन अर्पित करने से एक तो धन में अत्यन्त प्रीति नहीं रहेगी कि जो लोभ और तृष्णा को बढ़ा के अनेक प्रकार के पापों को प्रकट कर देती है। और दूसरा धर्म के उत्सवों और सामाजिक उत्साहों में द्रव्य लगाना कुछ कठिन नहीं प्रतीत होगा। इस में धर्म की वृद्धि, धर्म की

वृद्धि से पुण्य की प्राप्ति, पुण्य की प्राप्ति से अन्तःकरण की शुद्धि और वह शुद्धि मोक्ष के साधनों में एक मुख्य साधन है। सो लो, यह बीज मन्त्र वेद प्रोक्त भगवत का नाम ॐ है जिसको 'प्रणव' कहते हैं। इसको जपो और इसके अर्थ को विचारो—"तज्जपस्तदर्थ भावनम्" यो० अ० १ पा० १ सू० २८(इस मंत्र का जप करो और इसके अर्थ को विचारो)

प्रश्न--इसके जप करने और अर्थ विचारने से क्या फल होता है?

उत्तर—"ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमो ऽप्यंतराया भावश्च"। यो० अ०१ पा० १सू० २६। अर्थ इसका यह है कि परमात्मा की प्राप्ति और उसके अविद्यादि क्लेशो तथा व्याधि आदिक विघ्नों की निवृत्ति हो जाती है।

व्याधि आदिक ६ विघ्न योग मार्ग के शत्रु हैं:—

"व्याधिस्त्यान संशय प्रमादाऽलस्याविरति
भ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि
चित्तविक्षेपास्तेन्तराया:"

यो० अ० १ पा० १ सू० ३०

अर्थ—१ व्याधि (ज्वरादि रोग), स्त्यान (सत्कर्मों में अप्रीति), ३ संशय, ४ प्रमाद (समाधि साधनों में प्रीति तो है परन्तु ग्रहण न हो सकें), ५ आलस्य, ६ अविरति (वषय सेवा में तृष्णा का होना), ७ भ्राति दर्शन (उलटा ज्ञान अतद्वान् में तद्वान् बुद्धि), ८ अलब्ध भूमि-कत्व (समाधि का न जुड़ना), ६ अनवस्थितत्व (समाधि प्राप्त हो जाने पर भी उसमें चित्त का स्थिर न होना) ये नौ विघ्न योग के शत्रु हैं।

प्रश्न—उपासक पुरुष को संसारी लोगों के संग कैसे बरतना चाहिये?

उत्तर—"मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां सुख दुःख
पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्"

यो० अ० १ पा० १ सू० ३३

अर्थ इसका यह है कि—सुखी लोगों से मित्रता करना, दुःखियों पर कृपा करना, पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता, पापियों के साथ उपेक्षा रखना अर्थात् न उनके साथ वैर न प्रीति, इस रीति से उपासक योगी का मन सदा स्थिर और शांत रहता है।

प्रश्न—उपासक लोग जो प्राणायाम करते हैं उसकी क्या रीति और फल उस का क्या है ?

उत्तर—भीतर से जब प्राण बाहर को आवे तो मूलमन्त्र (प्रणव) के साथ कुछ-कुछ उसको बाहर रोके, और जब भीतर जावे तो उसी मन्त्र के साथ कुछ भीतर रोके, इसको प्राणायाम कहते हैं। इस रीति को बारंबार बरतने से प्राण वश में हो जाता और प्राण के वश मे हुए मन स्थिरता पाता और उसमें आत्मा स्थिर होता है। इन तीनों की स्थिरता हुए अपने आत्मा मे जो अन्तर्यामी परमेश्वर वर्तमान है उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये वह परमानन्द का स्थान है।

इस उपासना योग के आठ अंग है कि जिनके ग्रहण करने से अज्ञान की हानि और ज्ञान की वृद्धि हो जाती है कि जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है :—

"यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार
धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि"

योο अο१ पाο२ सूο २९

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ उपासना योग के अंग है।

१ यम—पांच प्रकार का है अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म-चर्य, अपरिग्रह।

२ नियम—यह भी पांच प्रकार का है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान।

३ आसन—न ऊँचा हो न नीचा, स्थिर शुद्ध आसन होना चाहिये कि जिसमें शीत, उष्ण भी बाधा न करे और दृढ़ होवे।

४ प्राणायाम—श्वास प्रश्वास को रोकने का नाम है जो पूर्व कह चुके।

५ प्रत्याहार—मन और इन्द्रियों का जीतना।

६ धारणा—मन को चंचलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदिक स्थानों में स्थिर करके मन्त्र को मन से जपे और उसके अर्थ को विचारे।

७ ध्यान—पूर्वोक्त स्थानों में व्यापक अंतर्यामी परमात्मा के आनन्द स्वरूप को पूर्ण देखना।

८ समाधि—अपने आत्मा को प्रकाशस्वरूप परमात्मा के आनंद और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते है।

बस, पूर्वोक्त रीति से उपासना करता हुआ पुरुष अविद्या और अधर्माचरण से छूट के शुद्ध ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से मुक्ति पद को प्राप्त होता है।

प्रश्न—मुक्ति का अर्थ क्या और उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—व्याकरण की रीति 'मुचलृ मोक्षणे' धातु से मुक्ति पद सिद्ध होता है जिसका अर्थ छूटना है सो संपूर्ण दुःखों से छूटना मुक्ति शब्द का अर्थ है।

प्रश्न—कर्म उपासना को मैंने सुना, अब वेदोक्त ज्ञान काण्ड का उपदेश कीजिये। प्रथम यह बताइये कि परम गति मुक्ति तो ज्ञान से ही प्राप्ति होती है फिर कर्म उपासना का वेद ने क्यों विधान किया है? और फिर यह कहिये कि ज्ञान पद का अर्थ क्या है ?

उत्तर—कर्म उपासना का वेद ने इस कारण विधान किया है कि सब किसी की बुद्धि ज्ञान की अधिकारिणी नहीं। प्रयोजन वेद का

मनुष्य को पाप से बचाने और पुण्य में लगाने का है। सो किसी को कर्म उपासना के बन्धन में डाल के पाप से बचाया और पुण्य में लगाया, और किसी को ज्ञान के उपदेश से। फिर एक बात यह भी है कि कर्म उपासना द्वारा तो जीव प्रयत्न से शुभ में प्रवृत्त और अशुभ से निवृत्त होता है, और ज्ञान बल से जब शुभाशुभ को जान लेता है तो स्वभावतः शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति हो जाती है जो मुक्ति में मूल कारण है। जो तुमने पूछा 'ज्ञान' पद का अर्थ क्या है सो ज्ञान पद का अर्थ पृथ्वी से ले के ईश्वर पर्य्यन्त संपूर्ण पदार्थों को जान लेना है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है एक ज्ञान, दूसरा विज्ञान। ज्ञान साधारण ज्ञान का नाम है जिसको अपरा विद्या कहते है और विज्ञान विशेष ज्ञान का नाम है जिसको परा विद्या कहते हैं।

प्रश्न—जब अति उत्तम पदार्थ परा विद्या है तो वेद ने सर्व लोगों को उसीका उपदेश क्यों न किया? क्या कारण है कि पहिले लोगों को अपरा विद्या के झगड़े में डाला और पीछे परा का नाम लिया?

उत्तर—जगत् मे चार प्रकार के जन है—एक निकृष्ट, दूसरे मध्यम तीसरे उत्तम, चौथे परम उतम; सो निकृष्ट और मध्यम तथा उतम कोटि की जीवों की बुद्धि जो परा विद्या की बात समझ ही नहीं सकती, अतः उनके लिये अपरा विद्या रची, और जो परम उत्तम कोटि में प्रविष्ट हैं उनके लिये परा विद्या का उपदेश है।

प्रश्न—मै सुनता हूं कि न्याय शास्त्रादि कई शास्त्र तो जीव ब्रह्म के भेद को ज्ञान कांड मानते, और वेदांत तथा सांख्य शास्त्र अभेद को ज्ञान कांड मानते हैं, परन्तु आप मुझे यह सुनाइये कि वेद का मुख्य तात्पर्य क्या है?

उत्तर—वेद के अक्षर कल्पतरु और कामधेनु के समान हैं जिस की जो कामना और कल्पना है वह वही अर्थ उसमें से निकाल सकता

है। परन्तु यदि पक्षपात को छोड़ के देखा जाय तो वेद का तात्पर्य अभेद ज्ञान के कथन में है।

प्रश्न—वेद में ईश्वर जीव और जगत् का निर्णय कैसे किया है?

उत्तर—वेद में निर्णय किसी बात का नहीं किया, केवल प्रतिज्ञा मात्र कथन है। जैसा कि वहाँ लिखा है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" नित्य नित्य सन्ध्या उपासना करो। परन्तु यह नहीं लिखा कि सन्ध्या को कैसे करे कहाँ करे। संध्या करने का निर्णय देखना हो तो जैमिनी मुनि के रचे हुए मीमांसा शास्त्र में देखो। तुमने जो ईश्वर जीव तथा जगत् का निर्णय सुनना चाहा इन का निर्णय वेद में नहीं है, वेद के उपनिषदो अथवा व्यास कृत वेदात सूत्रों में है जिसको हम संक्षेप से यहा लिख देते है।

प्रथम एक अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म था, माया और अविद्या के सम्बन्ध से वही ईश्वर और जीव संज्ञा को प्राप्त हो गया ओर वही जगत् का रूप है।

प्रश्न—माया क्या वस्तु है?

उत्तर—सत्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, जिसको ब्रह्म का स्वभाव समझना चाहिये। जब वह प्रकृति केवल सत्व गुणवाली होती है तब उसका नाम माया है जिसमें प्रतिबिंब पड़ने का नाम ईश्वर हो गया। वह ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और जगत् कर्त्ता माना जाता है।

जब वह प्रकृति रजो गुण वाली होती है तब उसका नाम अविद्या है, जिसमें प्रतिबिंबी होने से ब्रह्म का नाम जीव पड़ गया। वह जीव अल्पज्ञ और नाना देहों को धारण करता है।

जब वह प्रकृति तमो गुण प्रधाना होती है तब उससे यह स्थूल प्रपंच जगत् बन जाता है।

प्रश्न—देह में जीवात्मा क्या वस्तु है ?

उत्तर—स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से भिन्न, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्था का साक्षी अज, अमर, सत्ता मात्र जीवात्मा है और वह पंचकोश से भी अतीत है।

प्रश्न—स्थूलादि तीन शरीर क्या हैं ?

उत्तर—वीर्य्य से वना हुआ अस्थि, मांसादि युक्त जो यह देह है इसी को स्थूल शरीर कहते हैं। दश इन्द्रिय और पांच प्राण तथा मन और वुद्धि इन सतारह वस्तु के संघात का नाम सूक्ष्म शरीर है, और अज्ञान का नाम कारण शरीर है।

प्रश्न—तीनों अवस्था क्या हैं ?

उत्तर—जव निद्रा प्रमाद कुछ न हो और सव कुछ स्पष्ट दिखाई देवे उसका नाम जागृत है। जागृत के देखे सुने व्यवहार जव निद्रा में अस्पष्ट प्रतीत हों उसका नाम स्वप्न है। जव निद्रा और मूर्छा में घोर अज्ञान हो उसका नाम सुषुप्ति है।

प्रश्न—पांचों कोष कौन से हैं ?

उत्तर—देह में अन्न की कोठड़ी का नाम अन्नमय, और प्राणों का नाम प्राणमय और मन का नाम मनोमय और वुद्धि का नाम विज्ञान-मय और सुख का नाम आनन्दमय कोष है।

प्रश्न—दशों इन्द्रिय और पांच प्राण तथा मन और वुद्धि क्या होते और कैसे वने हैं ?

उत्तर—नभ, वायु, तेज, पृथ्वी इन पंचतत्व के सत्व गुण से पांच ज्ञान इन्द्रिय और मन वना है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण ये पंच ज्ञान इन्द्रिय हैं और मनन कर्त्ता का नाम मन है। वही वृत्ति भेद से वुद्धि, चित्त, अहंकार नाम से अन्तःकरण चतुष्टय वोला जाता है। पंचतत्व के रजो अंश से वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पांच

कर्म इन्द्रिय और प्राण बनता है, वह स्थान भेद से प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इन पाच नाम से बोला जाता है। पंचतत्व के तमो अंश से पंचीकरण होता है। वस, इस पूर्वोक्त संघात से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा को परमात्मा से अभिन्न जानने का नाम वेद ने मोक्ष कहा है।

प्रश्न—यह जगत-प्रपंच सदा ऐसा ही रहता है अथवा कभी मिट जाता है ?

उत्तर—जीवों के पूर्व कर्मानुसार कई बार इसका तिरोभाव और कई बार प्रादुर्भाव हुआ और आगे को भी सदा ऐसा ही होता रहेगा।

प्रश्न—जीवों के कर्म क्या प्रलय में भी नष्ट नहीं होते ?

उत्तर—कर्म तीन प्रकार के हैं। संचित, प्रारब्ध और आगामी। संचित वे हैं जो अनेक जन्मों के इकट्ठे हो रहे है उनका ज्ञान विना नाश नहीं होता। प्रारब्ध वे है जो भोग देने के लिये शरीर को रचते हैं सो उनका भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। आगामी वे है जिनका फल आगे को होगा। सो जगत् की उत्पत्ति, प्रलय, जन्म, मरण, सुख, दु.ख सब कर्म के आधीन है। और प्रलय काल में भो कर्म नष्ट नहीं होते।

प्रश्न—सृष्टि वर्ग मे जो मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि अनेक योनिया देखी जाती हैं इन सबके आत्मा सदा उनही में रहते हैं अथवा किसी अन्य योनि में भी आते हैं ?

उत्तर—कर्म के अनुसार सब आत्माओं को सब योनियों में आना पड़ता है। कर्म फल जो जीव को अवश्य भोगना पड़ता है इसमें प्रमाण :—

असुर्य्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः
तांस्तेप्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्म हनो जनाः।

य० अ० ४० मं० ३

अर्थ इसका यह है कि—जो लोग आत्मघाती हैं वे मर के उन लोकों को जाते हैं जो अँधेरे अज्ञान से भरे हुए असुर लोक कहलाते हैं।

यथर्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्तु पर्य्यये,
स्वानिस्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणिदेहिनः।

मनु० अ० १ श्लोक ३०

अर्थ इसका यह है कि—जिस ऋतु के जो चिन्ह होते हैं ऋतु के विपर्यय में जैसे उसी ऋतु में अपने आप आ जाते हैं वैसे जो कर्म जिस जिस जीव ने किये होते हैं वे उसी उसी को प्राप्त हो जाते हैं।

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति
यत्कर्मणा करोति तदभि संपद्यते।

यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुति है। अर्थ इसका यह है कि—यह जीव जो कुछ मन मे विचारता है वही वाणी से बोलता है। जो कुछ वाणी से बोलता है वही कर्म से करता है। जो कर्म से करता है वह प्राप्त होता है। इत्यादि पूर्वोक्त सारा कथन ज्ञान काण्ड है। हमने कर्म उपासना ज्ञान को सक्षेप से यहां लिख दिया है अधिक सुनना चाहो तो वेद और शास्त्रों को पढ़ो।

प्रश्न—जिसको वेदोक्त ज्ञान प्राप्त हो गया वह कुछ कर्म और उपासना भी करता है वा नहीं ?

उत्तर—हां करता है, परन्तु उसके कर्म और उपासना वैसे नहीं जैसे कि निकृष्ट और मध्यम लोग करते है, किन्तु कुछ अन्य हैं। जैसा उसका ज्ञान कांड निकृष्टों और मध्यमो से भिन्न है वैसे उसके कर्म उपासना भी उनसे भिन्न है।

प्रश्न—मैंने समझा था निकृष्टों और मध्यमो का ज्ञान काड कोई है ही नहीं किन्तु वे सदा कर्म और उपासना के ही अधिकारी है। अब जाना गया कि कुछ अंश ज्ञान का वे भी रखते है। सो बताइये कि उनके कर्म उपासना ज्ञान कौन से होते है ?

उत्तर—निकृष्टों और मध्यमों के वे है जो पुराणो में लिखे और उत्तमों के वे हैं जो वेद और धर्म शास्त्र मे लिखे है।

प्रश्न—क्या पुराणों में उत्तमों के लिये कोई उपदेश नहीं लिखा ?

उत्तर—लिखा तो है, परन्तु पुराणों को जिसने लिखा केवल निकृष्टों और मध्यमों के निमित्त ही लिखा है कि जिनकी बुद्धि अत्यंत स्थूल है। पुराणों में जो कर्म उपासना ज्ञान लिखे है यद्यपि वेदोक्त कर्मोपासना ज्ञान से विलक्षण है तथापि प्रयोजन उनके स्थापन में भी वही है कि जो वेदोक्त कथन में है। बड़ा शोक उन लोगों पर होता है जो वेदोक्त कथन समझने के योग्य बुद्धि तो रखते है परन्तु सारा आयु पुराणोक्त कर्मादि में समाप्त कर लेते है कभी आगे नहीं बढ़ते।

निकृष्टों का कर्मकांड यह है कि—पीपल, तुलसी तथा विल्वादि वृक्षों को जल देना, ओर चीउंटों को चित्रावल डालना, गंगादि तीर्थों के स्नान को पाप निवारक और संकट चतुर्थी को फल प्रदात्री जान के उनमें श्रद्धा रखना, शनि, भौमादि ग्रहों की शाति करना इत्यादि। यह कर्मकांड यद्यपि वेद में नहीं लिखा तथापि जो प्रयोजन वेदोक्त कर्म काड से सिद्ध है परम्परा सम्बन्ध से वही यहाँ सिद्ध होता है। जैसा कि वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म कांड से पुण्योत्पत्ति द्वारा अंतःकरण का पवित्र करना प्रयोजन है वही फल परम्परा सम्बन्ध से पीपल सींचने से हो जाता है। जैसाकि पीपल के सींचने से उसकी छाया बढ़ेगी फिर उससे जीव सुख पावेंगे। जीवों को सुखी करना एक प्रकार की दया है। और दया से पुण्योत्पत्ति और पुण्योत्पत्ति से अंत करण की शुद्धि होती है। यद्यपि

यह मार्ग है तो उसी नगर का जहां वेद शास्त्र पहुँचाते है, परन्तु भेद इतना है कि यह दूर का मार्ग है कि जहाँ भूल के प्राणी कुछ और का और समझ बैठता और दुःखी होता है और वह समीप का और सीधा मार्ग है।

निकृष्टों का उपासना काड यह है कि—भूत, प्रेत, यक्ष, भैरव तथा गूगा, डाकिनि, शाकिनी, काली तथा किसी मृतक की समाधि आदि का आराधन, तथा मारन, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि मन्त्रों का जपना इत्यादि।

मन की स्थिरता जो वेदोक्त उपासना का फल है, फल तो इस पुराणोक्त उपासना का भी वही है परन्तु यह दूर का मार्ग है और वह निकट का।

निकृष्टो का ज्ञान काड यह है कि—परमेश्वर को अपने समान देहधारी और जन्म-मरण-शील जानना अथवा उसको आकाश वा पाताल अथवा किसी एक देश मे जानना। अथवा ऐसी बातों को सत्य जानना कि अमुक हनुमान वा भैरव की मूर्त्ति ने एक अश्रद्धक पुरुष को पृथ्वी पर दे-मारा। और अमुक महापुरुष आकाश को उड़ गये। तथा अमुक योगीश्वर को योगबल से अष्ट-सिद्धि, नव-निधि प्राप्त है।

अब मध्यमो का कांड-त्रय सुनो :—

उनका कर्म कांड यह है कि—संसार वा परलोक मे नाना विधि फल प्राप्ति के निमित्त स्नान, सन्ध्या, वंदन, तर्पण, यज्ञ, श्राद्धादि में श्रद्धा रखना। गंगादि क्षेत्र और एकादश्यादि उपवासो मे प्रीति रखना और वर्णाश्रम की मर्यादा को पालन करना और संक्रान्ति अमावश्यादि तिथियों मे यथा शक्ति स-काम दान करना और साधु ब्राह्मणों तथा अतिथि अभ्यागतों की सेवा भी किसी कामना से करना इत्यादि।

मध्यमों की उपासना यह है कि—शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य्य, शक्ति इन पंच देव तथा श्रीराम, श्रीकृष्णचन्द्रादि अवतारों का आराधन और इन्हीं की काष्ट, पाषाणादि मूर्तियों का पूजन करना और इन्हीं के ध्यान में मन को जोड़ना इत्यादि।

इन का ज्ञान कांड यह है कि—ईश्वर को अयोध्या, मथुरा, काशी आदिक क्षेत्रोंमें जानना। सालोक, सामीप्य, सारूप्यादि मोक्ष की इच्छा रखना और नर्क, स्वर्ग का कोई स्थान मानना इत्यादि।

पूर्वोक्त कर्म उपासना ज्ञान को विस्तार सहित पुराणों में कथन किया हुआ है तथापि बीज इसका वेद में विद्यमान है और बहुत अंशों मे वेदोक्त मोक्ष का उपयोगी भी यह है।

अब हम उत्तमों के कांड-त्रय सुनाते है जो सर्वांश में वेद के अनुसार हैं।

उत्तम दो प्रकार के होते हैं एक उत्तम जिस की संज्ञा हंस है, दूसरा परमोत्तम जिस की संज्ञा परमहंस है। ये दोनों प्रकार के उत्तम गृहस्थाश्रम में ही हो सकते हैं किसी वेष को मुख्यता नहीं।

उत्तम का कर्मकांड यह है कि—लोकोपकार तथा अपने अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त स्नान, सन्ध्या से ले कर पूर्वोक्त वेद शास्त्र विहित कर्मो को निष्कामता से करना।

उत्तम की उपासना वही है कि—जो इस ग्रन्थ में पूर्व योग रीति से लिख आये अर्थात् एक अखंड अद्वितीय सच्चिदानन्द ईश्वर में मनसा वाचा कर्मणा लगे रहना।

उत्तम का ज्ञानकांड भी वही है—जो पूर्व इस ग्रन्थ में लिख आये अर्थात् जीव और ईश्वर के अभेद ज्ञान से मोक्ष मानना। यद्यपि किसी-किसी ने जीव ब्रह्म के भेद को भी सत्य समझा है और मोक्ष

भी अभेदवादी से विलक्षण माना है तथापि वेद शास्त्र पुराण के अक्षर अधिकांश अभेदवाद का ही कथन करते दिखाई देते है।

प्रश्न—अब परमोत्तम पुरुप जिस का नाम आपने परमहंस वताया उसका कर्म उपासना ज्ञान मुझे सुनाइये और यह भी वताइये कि उसका काण्ड-त्रय वेद मे भी लिखा है वा नहीं ?

उत्तर—यदि उसके कांड-त्रय वेद में लिखे होते तो वह पराविद्या कैसे गिनी जाती ? क्योंकि जो वेदादि में लिखा गया उसका नाम वेद ही अपरा विद्या वतलाता है। यद्यपि वेद का लिखने वाला पराविद्या को जानता तो था परन्तु उसने उसे वेदमें लिखना योग्य न समझा क्यों कि उसके लिखने से वह मर्य्यादा और सीमा टूट जाती है कि जिसका उपदेश वेद करता है।

प्रश्न—वह मर्य्यादा सीमा कौन सी है जिस की रक्षा अपरा विद्या से होती है ?

उत्तर—संसार को राज धर्म, प्रजा धर्म, गृहस्थ धर्म, मनुष्य धर्म तथा कृपि, वाणिज्यादि आचार व्यवहारों में यथायोग्य स्थिर रखने के लिये अपराविद्या ईश्वर तथा नर्क स्वर्ग का भय और लालच दिखाती है। और पराविद्या उस भय और लालच से छुड़ा के केवल ज्ञान द्वारा संसार को मर्य्यादा पर स्थिर रहना सिखलाती है।

प्रश्न—यदि कहीं वेद में नहीं लिखी तो आपने कैसे समझ लिया कि यह पराविद्या है ?

उत्तर—वेदोक्त कथन में जो जिज्ञासु का पूरा परितोप नहीं होता किन्तु ब्रह्म जीव और जगत की उत्पत्ति और वारम्वार जन्म मरण तथा जन्मांतर मे कर्म का फल भोगना आदिक व्यवहारो में सदा संदेह उठते रहते हैं इस हेतु से इधर उधर दृष्टि करनी पड़ती है कि कोई ऐसी वात प्राप्त हो कि जहा मन को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो के कोई

संदेह और आक्षेप मन को व्याकुल न करे। फिर वेद में ही जो यह बात लिखी हुई मिल गई किः—"द्वेविद्ये वेदितव्ये परा चैवा पराच" तो पराविद्या की ढूँढ हुई सो जहांलों संदिग्ध ज्ञान होता गया वहा लो तो हमने अपराविद्या समझी और जहा जाके संशय और संदेह कोई न रहा उसको पराविद्या समझ लिया।

प्रश्न—आपने अपने संशयों की निवृत्ति के स्थान को पराविद्या माना और दशों उपनिषद् जीव ब्रह्म की एकता मानने को पराविद्या कहते हैं फिर इस मे हम किस का कहना सत्य मानें ?

उत्तर—यदि दशो उपनिपद् वेद रूप है तो प्रथम उनका जीव ब्रह्म की एकता रूप कथन उन्हीं के वाक्य द्वारा पराविद्या नहीं बन सकता क्योंकि उसने आपही ऋग्वेदादि और शिक्षा कल्पादि को अपरा विद्या मे गिना है। और यदि दशों उपनिषद् वेद रूप नही तो उनका कथन युक्ति से तौलना चाहिये। सो युक्ति बल से वह पूरा नहीं उतरता अर्थात् उपनिषदो में जीव ब्रह्म का अभेद तो कथन किया हैं परन्तु छिपा के उसे और प्रकार का कर दिया कि जिससे यथार्थ सत्य-पद की प्राप्ति नहीं होती।

प्रश्न—यदि उस कथन को ही पराविद्या समझना योग्य है जो वेदरूप न हो तो यवनादि कई नवीन मत अपने ग्रन्थो को ही परा-विद्या मान लेंगे जो वेद से भिन्न है ?

उत्तर—उनके ग्रन्थो में भी जो ईश्वर जीव नर्क, स्वर्ग, पाप, पुण्य वेद के ही तुल्य लिखा है इस हेतु से वे भी वेदमय अपरा विद्यारूप ही है परारूप नहीं हो सकते। फिर इस हेतु से भी परारूप नहीं कि युक्ति को सहार के जिज्ञासु को निस्सन्देह और शात नहीं कर सकते। पराविद्या वही हो सकती है कि जो सबसे परे हो और जिस पर कोई सन्देह न खड़ा हो सके।

प्रश्न—जब आप कहते हैं कि वेद में पराविद्या का उपदेश इस हेतु से नहीं लिखा कि उसके लिखने से वह मर्य्यादा और सीमा टूट जाती है कि जहां का उपदेश वेद करता है। तो बस परा विद्या चाहे कैसी ही श्रेष्ठ हो परन्तु जिस से मर्य्यादा और सीमा टूट जावे हम उसको कभी ग्रहण करना नहीं चाहते हम अपना आयु अपरा विद्या में ही समाप्त करेंगे।

उत्तर—समाप्त तो करो परन्तु तुम्हारा मन सदा संशयों में ग्रस्त रहेगा क्योंकि वेद केवल निकृष्ट, मध्यम, उत्तम अधिकारी प्रति उपदेश करता है जिस में परम उत्तम पुरुषों को बहुत संदेह खड़े होते है। सो जो जन निकृष्ट, मध्यम और उत्तमों की मंडली में स्थित है उसको हम कभी पराविद्या की बात सुनानी नहीं चाहते परन्तु जो परम उत्तम बुद्धि रखता है पराविद्या सुनाने का उद्यम हम उसके लिये करते हैं। इसी हेतुसे हम यहां एक प्रतिबंध लिखते है कि जिस के हाथ हमारा यह ग्रन्थ आवे वह जहा से चाहे पढ़ने न लग जावे किन्तु क्रम पूर्वक प्रथम पहिला भाग और फिर दूसरा भाग पढ़े कि जिसके पढ़ने से वह परम उत्तम बन सकता है। यदि क्रम विरुद्ध पढ़ेगा तो उभयतो भ्रष्ट हो जावेगा और कभी शांत नहीं होवेगा किन्तु संशयों मे व्याकुल रहेगा।

प्रश्न—जब अपराविद्या अर्थात् वेद शास्त्र के अनुसार यह निश्चय हो गया कि ईश्वर और वेद सत्य है तथा पाप, पुण्य के अनुसार जीव को अनेक प्रकार के दु:ख और सुख भोगने पड़ते हैं तो इसमे किसी को क्या संशय हो सकता है?

उत्तर—संशय की निवृत्ति केवल इतना ही जान लेने से नहीं होती जितना तुमने कथन किया किन्तु पराविद्या के उपदेश से पूर्ण संशय की

निवृत्ति होती है। जैसा कि देखो, हम तुम्हारे इस कथन पर प्रथम भाग के प्रथम तरंग में अनेक संशय खड़े कर आए हैं।

जिसने पराविद्या को ग्रहण किया वही परमहंस और पुरुषोत्तम तथा परमानन्द पद में आरूढ़ है और कोई नहीं।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-
प्रवाहोत्तर भागे वेद शास्त्रोक्त धर्म
निर्णये प्रथमस्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नमः

अथ सत्यामृत प्रवाह नाम ग्रंथस्य उत्तरभागः

अथ द्वितीय तरंगस्यारम्भः

अथ विज्ञान कांडो व्याख्यायते

श्लोक

युक्त्या युक्तं वाक्यं बालेनापि प्रभापितं ग्राह्यं ।
त्याज्यं युक्ति विहीनं श्रौतं स्यात्स्मार्तकं वा स्यात् ॥

प्रश्न—हे गुरो, आपने पीछे विज्ञानपद की महिमा सुनाई अव प्रथम यह वात कथन कीजिये कि विज्ञान किसको कहते है ?

उत्तर—विशेष ज्ञान का नाम विज्ञान है। सो ज्ञान का वर्णन तो पूर्व भाग में हो चुका कि जिसमें सत्वादि तीनों गुण का निर्णय हुआ, और जिसकी धारणा से आनन्द की प्राप्ति होती है। और विज्ञान का वर्णन अव इस दूसरे भाग मे होगा कि जिसमें पराविद्या के अनुसार ब्रह्म, वेद, जीव तथा आचार का निर्णय है कि जिसकी धारणा से परमानन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अथेश्वर निर्णय

प्रश्न—ब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, नारायण आदिक नाम जो मैं वहुत-काल से सुनता हूं वताइये तो सही इनके अर्थ क्या है ?

उत्तर—'वृहवृद्धौ' धातु से ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है। वृहति महान् शक्ति मानिति ब्रह्म, इस ब्रह्म शब्द का अर्थ महान् है।

'ईश ऐश्वर्य्ये' से ईश्वर शब्द सिद्ध होता है। ईष्टे असावित्यीश्वरः, इस ईश्वर शब्द का अर्थ प्रेरक और ऐश्वर्य्यवान है।

'विषॢव्याप्तौ' धातुसे विष्णु शब्द बनता है, विवेष्टि व्याप्नोति सर्व मिति विष्णुः, इस विष्णु शब्द का अर्थ व्याप्त होने वाला है।

नार नाम जल का और नरों का है और अयन नाम स्थान का है। इन दोनों को मिला के नारायण शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ यह है कि नरों का स्थान अर्थात् जिसमें समस्त नर निवास करते है वह नारायण है। इन सम्पूर्ण नामो का अर्थ जो वास्तव में एक है इस कारण ये ईश्वरादिक सब नाम उस ब्रह्म के ही है जो सबसे महान् है।

प्रश्न—ब्रह्म का लक्षण क्या है?

उत्तर—'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' यह तैत्तिरीय उपनिषत् की श्रुति है और अर्थ इसका यह है कि—वह ब्रह्म सत्य है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनो काल में नाश नहीं होता। वह ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है अर्थात् सबको जानना उसका स्वरूप है। वह ब्रह्म अनन्त है अर्थात् नाशवान् और परिमित नहीं।

प्रश्न—वह ब्रह्म एक है वा अनेक है?

उत्तर—'एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म' यह छांदोग्य उपनिषत् की श्रुति है अर्थ इसका यह है कि—वह ब्रह्म एक है। कैसा एक है जो अद्वितीय होवे अर्थात् जिसके समान दूसरी कोई वस्तु नहीं।

प्रश्न—आप कहते हैं वह ब्रह्म एक है सो मैं पूछता हूँ कि वह शब्द का निर्दिष्ट ब्रह्म कौन-सा है और कहा है?

उत्तर—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह छांदोग्य उपनिषत् की श्रुति है अर्थ इसका यह है कि—यह सब कुछ जो देखने सुनने और समझने में आता है सब ब्रह्म ही है। इससे भिन्न और कोई पदार्थ ब्रह्म नहीं।

प्रश्न—देखने सुनने में तो यह जगत् प्रपंच ही आता है क्या इसी को ब्रह्म मान लेना चाहिये ?

उत्तर—जब श्रुति ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहा और इस जगत् प्रपंच के बाहर बुद्धि द्वारा भी कोई ब्रह्म सिद्ध नही होता तो इसके न मानने में क्या कारण है।

प्रश्न—यदि जगत् का नाम ही ब्रह्म है तो पूर्व श्रुतियों का वह कहना कैसे सिद्ध होगा कि जहां ब्रह्म को एक अद्वितीय और त्रिकाल-अबाधी और ज्ञान स्वरूप कहा है। क्योंकि यह जगत इन लक्षणों से विलक्षण दिखाई देता है। जैसाकि श्रुति ने इसको एक कहा और यह पृथ्वी जलादि तथा मनुष्य पशु आदिक भेद से अनेक प्रकार का देखा जाता है। फिर श्रुति ने इसको त्रिकाल-अबाधी नित्य कहा और यह हमको उपजता मिटता दिखाई देता हैं जैसाकि अमुक कूप तथा वृक्ष तथा पुरुप कल नही थे आज हैं और कल को फिर नहीं रहेंगे। फिर श्रुति ने इसको ज्ञान स्वरूप कहा और यहा काष्ट पाषाणादि पदार्थ सब जड़ दिखाई देते है ?

उत्तर—पूर्वोक्त श्रुतियों का यह कहना कि ब्रह्म एक और सत्य तथा ज्ञान स्वरूप है झूठा नहीं किन्तु तुम्हारे समझने मे हानि है। जैसाकि देखो, जहां श्रुति ने ब्रह्म की एकता कही वहां समष्टिरूप से एकता कही है व्यष्टिरूप से नहीं कही जैसाकि कोई शकट को देखके कहे यह एक शकट खड़ा है तो वह समष्टिरूप से ठीक एक है और यदि व्यक्तिरूप से उसके अङ्गोपाग गिनने लगे तो कोई धुर कोई चक्र कोई कील कोई काष्ट के नाम से अनेक पदार्थ निकलेगे और शकट पदार्थ कोई हाथ नहीं आवेगा। इसी प्रकार समष्टि दृष्टि मे तो यह सब प्रपंच एक और अद्वितीय पदार्थ है और व्यष्टि दृष्टि मे पृथ्वी जल तथा मनुष्य पश्वादि अनेक नाम समझ में आते है। फिर श्रुति ने जो ब्रह्म को

त्रिकाल-अबाधी सत्य पदार्थ कथन किया है इसकी इस बात में हानि नहीं होती कि एक मनुष्य की व्यक्ति चाहे आदि अन्त वाली है परन्तु जाति अनादि अनन्त पदार्थ है कि जिसका उत्पत्ति-विनाश कभी नहीं होता। प्रयोजन हमारे कथन का यह है कि मनुष्य की कोई व्यक्ति विशेष तो चाहे कभी होती है कभी नहीं होती परन्तु ऐसा समय कभी नहीं समझ में आ सकता कि जब मनुष्य की जाति जगत् में न हो। तुमको स्मृत रखना चाहिये कि यह सारा प्रपंच पंचतत्व का गोला है जिनका नाम आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी है सो यह पंचभूत का गोला जो एक अनादि पदार्थ है इसी कारण इसका नाम ब्रह्म है।

प्रश्न—इस जगत् प्रपंच में तो कई पदार्थ सादि और सांत हैं ब्रह्म जो अनादि पदार्थ हैं उसके साथ इसका अभेद कैसे मान लिया जावे ?

उत्तर—ये जो पदार्थ ऊपर गिने इनमें सादि सांत कोई नहीं, सब अनादि अनन्त है। हां, इतना सत्य है कि ये सब कारण दशा में अनादि अनन्त हैं और कार्य्य दशा मे सादि सांत हैं जैसा कि मृत्तिका अनादि अनंत और घट सादि सांत है।

प्रश्न—यदि जगत् से भिन्न ब्रह्म कुछ वस्तु नहीं तो उपासना और आराधन किस का करना चाहिये क्योंकि जैसे पट का एक तन्तु भी गम्भीर दृष्टि से पट का रूप ही होता है, वैसे एक मनुष्य भी सारे जगत् का रूप है फिर उपासना किस की करे और कौन करे ?

उत्तर—उपासना इस जगत्रूप ब्रह्म की ही करनी श्रेष्ठ है। इससे भिन्न और कोई उपास्य नहीं है। जो तुमने पूछा, जब व्यष्टि समष्टि-रूप से तन्तु की नाईं आपही ब्रह्म का रूप है तो उपासना कौन करे और किस की करे ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि हाथ देह से कुछ भिन्न पदार्थ नहीं तो भी अपनी उपासना आप करता है अर्थात्

व्यष्टि रूप से आप ही उपासक और समष्टि रूप से आप ही अपना उपास्य हैं।

प्रश्न—उपासना किस को कहते हैं ?

उत्तर—"तस्मिन्प्रीति स्तत्प्रिय कार्य्य साधनञ्चतदुपासनमेव" यह ऋग्वेद की श्रुति है। अर्थ इसका यह है कि ब्रह्म में प्रीति और ब्रह्म के प्रिय कार्य्यों के सिद्ध करने का नाम ही उपासना है अर्थात् जो कार्य ब्रह्म को प्रिय लगें उनको करे और जो अप्रिय हों उनको कभी न करे। प्रिय और अप्रिय कार्य्यों की पहिचान अपने आत्मा से सीखे अर्थात् जो अपने को प्रिय वह दूसरे को प्रिय समझे और जो अपने को अप्रिय वह दूसरे को अप्रिय समझे।

प्रश्न—इस अपने-आप की उपासना से अपने को क्या फल होता है ?

उत्तर—सारे देह के भरण पोषण और प्रसन्नता से जो एक अंग को फल होता है वही फल जगत् की सेवा उपासना के करने से अपने को होता है और न करने से विरुद्ध फल होता है।

अथ वेद निर्णय

प्रश्न—आप जो वारंवार वेद के प्रमाण देते हो मुझे प्रथम यह बताइये कि वेद क्या और किसका रचा हुआ है ?

उत्तर—'विदज्ञाने' धातु से वेद शब्द सिद्ध होता है 'विदंत्तियैरितिवेदाः' अर्थ इसका यह है कि जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ जानते हैं उसका नाम वेद है तात्पर्य यह कि वेद नाम ज्ञान का है सो चाहे ज्ञान नाम वेद सबके हृदय मे भरा हुआ होने से अनादि और सनातन है परन्तु उसी ज्ञान को जो विद्वान् लोगों ने पुस्तकों में भी लिख रखा है इस कारण किसी २ पुस्तक का नाम भी वेद प्रसिद्ध हो रहा है। जैसा कि भारत खंड में तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चार

पुस्तक वेद के नाम से प्रसिद्ध है और अन्य देशों और द्वीपों में अन्य पुस्तक वेद नाम से प्रसिद्ध है। इन सबको मानने वाले लोग अपने अपने वेद को ईश्वर की वाणी मानते हैं। इस समय जितने ग्रन्थ जगत् में ईश्वरीय वाणी गिने जाते हैं कोई अठारह सौ और कोई बारह सौ वर्ष की रचना होने के कारण ऋग्वेदादि चारों वेद उन सबसे पुरातन जाने जाते हैं। यदि किसी ने किसी पुस्तक को वेद वा धर्म शास्त्र मानना हो तो ऋग्वेदादि बहुत श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनमें जो बात झूठ और श्रेष्ठ बुद्धि के विरुद्ध भी देखी जाती है वह भी किसी कार्य के निमित्त है। चाहे लिखे तो सब ग्रन्थ मनुष्यों के ही है परन्तु वे मनुष्य जो इन साधारण मनुष्यों से बुद्धि और विचार में बहुत श्रेष्ठ थे इस हेतु से उनके लेखों पर अपने अधिकार अनुसार जीवों को अवश्य श्रद्धा रखनी चाहिये। यदि वेद को हम भी ईश्वर की वाणी मान लें तो कुछ आश्चर्य नहीं क्योंकि सब ग्रन्थ मनुष्य के रचे और लिखे हुए है और मनुष्य से भिन्न कोई और ईश्वर युक्ति से सिद्ध नहीं होता। हां, इतना सत्य है कि पुस्तकों मे आ के वेद सर्वांश सच्चा नहीं रहा स्वार्थ साधक लोगों ने कई बातें उस में झूठी भी लिख दी है। सच्चा वेद और सच्चा धर्मशास्त्र समस्त जनों के हृदय में लिखा हुआ है जिसको शुभाशुभ का तथा सत्यासत्य का विवेक कहते है।

प्रश्न—धर्म किसका नाम है। और अधर्म किसको कहते है ?

उत्तर—मनुष्य को मनुष्य धर्म में स्थिर रहना धर्म है। और मनुष्य को पशु धर्म मे चलना अधर्म है। मनुष्य का धर्म यह है कि वह ज्ञान, विवेक और विचार पूर्वक संपूर्ण कार्यों को सिद्ध करे और जहाँ लो हो सके अपने पराये सुख-दुःख की वृद्धि और हानि में यत्न करता रहे। और पशु का यह धर्म है कि वह खाने और भोगने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता।

प्रश्न – नर्क किस को कहते और स्वर्ग किस का नाम है ?

उत्तर—दुःख का नाम नर्क और सुख का नाम स्वर्ग है जो पाप और पुण्य के प्रताप से प्राप्त होता है।

प्रश्न—पुण्य और पाप किस को कहते है ?

उत्तर—ज्ञान विचार के अनुसार चलना, स्वोपकार और परोपकार में लगे रहना पुण्य है इससे विरुद्धवर्त्ती होना पाप है अर्थात् मनुष्य धर्म में स्थिर रहना पुण्य और पशुचर्या से चलना पाप है।

प्रश्न—सत्य क्या है और असत्य किसको कहते है ?

उत्तर—सम्यक् बुद्धि और लौकिक नियमों के अनुसार जानना मानना और वरतना सत्य है और इसके विरुद्ध जानना मानना वरतना असत्य है जैसा कि दो और दो को चार जानना और मनुष्य को दो हाथ और एक मुख और दो नेत्र एक सिर वाले लौकिक नियम के अनुकूल मानना तथा सत्पुरुषों की मर्यादा के अनुसार वरतना सत्य है और इस से विरुद्ध दो और दो को सात जानना और मनुष्य कोचतुर्भुज चतुर्मुख और त्रिनेत्र तथा दश शिर वाले मानना और मूर्खों, धूर्त्तों, मनमतियों की रीति को वरतना असत्य है।

प्रश्न—गुरु किस का नाम है और सद्गुरु किसको कहते है ?

उत्तर—माता-पिता, ज्येष्ठ बांधव और अध्यापक ये सब गुरु है और जो सत्य का उपदेश करे वह सद्गुरु है। इन सब की सेवा और सहायता करना जीव को तन, मन, धन से अत्यन्त आवश्यक है।

अथ जीव निर्णय

प्रश्न—जीव क्या है ?

उत्तर—नख से शिख पर्यन्त यद्यपि समष्टि दृष्टि मे सारे देह का नाम जीव है परन्तु व्यष्टि दृष्टि से देह मे से हृदय खंड का नाम हम जीव मानते है कि जिसमें इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छै गुण

विद्यमान हैं। इस हृदय खंड का नाम ही आत्मा है तथा जीव और मन है। नख से शिखा पर्यन्त जो वह अपने ज्ञान धर्म द्वारा व्याप्त है इस कारण उसका नाम आत्मा है और जीवित व्यवहार को देखके उस का नाम जीव है। पदार्थों के मनन करने से उसी का नाम मन है।

प्रश्न—देह का अंग होने से वह जड़ पदार्थ है उसमें इच्छा द्वेषादि गुण कहां से आ गये?

उत्तर—उसके मूलकारण पितृ देह में जो इच्छा द्वेषादि षट् गुण दिखाई देते है, उसके कार्य पुत्र देह में वे क्यों न आ जायें। इसका विस्तार आगे होगा।

प्रश्न—जीव का नाना योनियों में घूमना जो वेद या शास्त्र में लिखा है क्या वह सत्य है?

उत्तर—यह तो सत्य नहीं कि मनुष्य का चेतन मात्र जीव निकल के अपने कर्म के अनुसार किसी पंछी वा पशु के देह में जा पड़ता है; परन्तु यह सत्य है कि मनुष्य का सारा देह कृमि हो गया अथवा श्वान श्रृगाल काक आदिक ने खाया तो उनमें वीर्य रूप होके श्वान श्रृगाल बन गया। अथवा राख वा धूलि वा धूम बन के नाना विधि की जड़ चेतन व्यक्तियों में मिल गया। अथवा देह के परमाणु वा रस पंचभूत में मिल गये उनसे नाना वनस्पतियां पुष्ट हुईं उनको जिन जीवों ने खाया उन से वे ही जीव उत्पन्न हो गये। इसीका नाम संसृति चक्र है और यह सदा चलता रहता है।

प्रश्न—संचित, प्रारब्ध, आगामी ये तीन प्रकार के कर्म जो शास्त्र में सुने जाते है सत्य हैं वा झूठ?

उत्तर—सत्य हैं, परन्तु इनका स्वरूप यह है—पितामह आदिक वृद्धों के सुकृत दुःकृत कर्म का फल जो जीव भोगता है वह संचित कर्म है क्योंकि उनके देह में पीछे वह कर्म आप ही किया था। सुकृत यह

है कि उनका धनादि संचय वा यश पौत्रादि को मिलना। दुःकृत यह है कि उनके कुपथ्य सेवन से हुए कुष्टादि रोग तथा अनाचार की निन्दा का दुःख पौत्रादि को भोगना पड़ता है। प्रारब्ध कर्म यह है कि जो सवेरे किया और सांझ को भोगा। आगामी यह है जो अव किया और कालांतर में भोगेंगे।

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञान के वल से यह समझ लेना कि मैं यह एक देह नहीं कि इसकी उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति वा इसके नाश से अपना नाश समझूं। मै सर्व-संघात हूं जो अज और अमर है* इसीका नाम मोक्ष है जैसा कि लिखा है:—

"सयोहवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्या ब्रह्म वित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तो-ऽमृतो भवति ॥"

यह अथर्ववेद की मुँडक उपनिषत् का वाक्य है। अर्थ इसका यह है कि—जो कोई उस परम ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् वह जान लेता है कि चाहे मैं व्यष्टि रूप से जीव हूँ परन्तु समष्टि रूप से ब्रह्म ही हूँ। इस ब्रह्म-वेत्ता के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता क्योंकि वह सवको ब्रह्म ज्ञान का उपदेश करता रहता है। वह शोक और पाप को तर जाता और हृदय की ग्रन्थि अर्थात् वंधनों से विमुक्त और अमर हो जाता है अर्थात् वह अपने एक देह को मिटते

---

* अथवा विचार और भाव सक्रमण रूप में अपने आपको अमर समझना। यदि स्थूल व्यक्तिगत रूप से अपना नाश समझे तो भी कोई दोष नहीं, वस्तु-स्वरूप विचारकर समाहित रहे। वहुत से दुःखों का अन्त भी तो इसी प्रकार होता है और सुख-दुःख-द्वन्द्वातीत अवस्था भी यही है।

—सम्पादक

देखके अपना मरना नहीं समझता किन्तु पीछे जो जगत् प्रपंच खड़ा है उसको अपना-आप स्थिर समझ के अमर हो जाता है।

प्रश्न—क्या यह सब जीव एक ही है वा अनेक हैं ?

उत्तर—एक जाति के सब जीव द्रव्य में एक और गणना मे अनेक है जैसाकि वर्षा का जल द्रव्य मे एक है और बून्दो की गणना मे अनेक है।

प्रश्न—ब्रह्म, ईश्वर, विष्णु, नारायण शब्दों के अर्थ जो पीछे आपने सुनाये जगत् प्रपंच के साथ उनकी एकता कैसे पाई जाती है ?

उत्तर—ब्रह्म शब्द का अर्थ महान् है अर्थात् सबसे बड़ा। और इस जगत् प्रपंच से बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं, अतः यही सबसे महान् अर्थात् ब्रह्म है।

ईश्वर शब्द का अर्थ ऐश्वर्य्यवान् और प्रेरक है सो जितने ऐश्वर्य्य है सब जगत् में ही है इससे बाहर और कुछ नही। और चेतन भाग से आप ही प्रेरक और जड़ भाग से आप ही प्रेर्य्य है अतः यही ईश्वर है।

विष्णु, शब्द का अर्थ व्यापी है सो कौन ऐसा स्थान है जहां सप्त पदार्थों में से कोई पदार्थ विद्यमान न हो जो जगत् का रूप है अतः यही विष्णु है।

नारायण शब्द का अर्थ नरों के निवास का स्थान है और समस्त नर इस जगत् में ही निवास करते है, अन्यत्र नहीं। अत. यही नारायण है।

प्रश्न—यह तो आपने वेदात मत कथन किया कि जो व्यासादि का सिद्धांत है।

उत्तर—हॉ, वेद का अन्त तो यही है कि जो हम ने कथन किया परन्तु व्यासादिकों ने हमारे कथन को स्पष्ट कर के नहीं लिखा।

यद्यपि सूक्ष्म आशय तो उनका उनके अक्षरों से यही पाया जाता है जो हम ने कहा परंतु इन्हों ने किसी हेतु से सत्य को छिपाना बहुत चाहा है ; क्योंकि सत्य कहते-कहते वे कुछ और कहने लग जाते है कि जिस से सत्य का झूठ मे तिरोभाव हो जाता है। जैसा कि इन्होंने कहीं तो यह स्पष्ट सत्य लिखा कि यह सब कुछ जो चराचर नाम-रूप देखने सुनने में आता है ब्रह्म है और कहीं यह लिखा कि यह सब कुछ अज्ञान से प्रतीत होता है वास्तव में कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार संपूर्ण वेदों तथा उपनिषदों में बहुत से संदिग्ध वाक्य लिखे है। जैसा कि कहीं तो यह लिखा :—

"तदेवाग्निस्तदादित्य स्तद्वायुतदु चंद्रमा ।
तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥"

यह यजुर्वेद अध्याय ३१ का प्रथम मंत्र है अर्थ इसका यह है कि— वह ब्रह्म ही अग्नि तथा सूर्य्य और वायु और चन्द्रमा है। वह ब्रह्म ही शुक्र तथा प्रजापति है अन्य कोई नहीं। इस मंत्र से तो प्रत्यक्ष अग्नि सूर्य्यादि को ब्रह्म कहा कि जो ठीक सच्ची बात है और फिर डराने के लिये इन अग्नि सूर्य्यादि का प्रेरक कोई परोक्ष ब्रह्म भी कथन किया कि जिस की ढूँढ़ मे लोग मर-मर रहते है जैसा कि :—

"भयादस्याग्नि स्तपति भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्यु र्द्धावति पञ्चमः ॥"

यह कठोपनिषत् वल्ली ६ का मंत्र २ है अर्थ इसका यह है कि— इस ईश्वर के भय से अग्नि और सूर्य तपते और इसी के भय से इन्द्र और वायु चलते तथा इसी के भय से जगत् मे पाचवा मृत्यु चलता है। अब विचारिये कि यदि प्रथम मंत्रानुसार अग्नि सूर्य्यादि को अपरोक्ष ब्रह्म कह चुके थे तो अब अग्नि सूर्य्यादिकों को भय देने वाला परोक्ष ब्रह्म और कौन-सा आगया !

हम तो बारंबार इन पाच सिद्धांत का ही उपदेश करते है :—

सत्य धारी के पांच सिद्धांत

प्रथम—सत्य का जानना और सत्य का मानना और सत्य का बखानना परम धर्म है।

द्वितीय—यह जगत् स्वत. सिद्ध है इसका कोई कर्त्ता हर्त्ता नहीं। ईश्वर, परमेश्वर, ब्रह्म है तो यही है।

तृतीय—जितने ग्रन्थ जगत् में विद्यमान हैं सब मनुष्यकृत है और सच्चा वेद शास्त्र सब के हृदय में लिखा हुआ है, जिस को विचार कहते हैं।

चतुर्थ—देह से भिन्न जीव कुछ वस्तु नहीं, व्यष्टि रूप से इसी का नाम जीव और समष्टि रूप से इसी का नाम ब्रह्म है।

पंचम—शुभाचार सुख का हेतु और अशुभाचार दुःख का हेतु है। जो व्यवहार अन्य का किया हुआ अपने को भावे वही औरों से बरतना शुभाचार है और जो अन्य का किया हुआ अपने को न भावे वह औरों से बरतना अशुभाचार है।

प्रश्न—आपने जो ब्रह्म, वेद तथा जीव का स्वरूप कहा यह प्रत्यक्ष है कि जिस पर कोई संदेह नहीं उठता परन्तु पूर्वाचार्य्यों ने जो कोई परोक्ष परमेश्वर जनाया है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—संसार की मर्यादा स्थिर रखने के लिये परोक्ष परमेश्वर का भय और लालच जगत् के सिर पर ठहराया हुआ है सो उसका निर्णय तुम अगले तरंग मे देखोगे।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-प्रवाहोत्तर भागे परा विद्यायां सत्य सिद्धान्त वर्णनं द्वितीयस्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नमः

अथ सत्यामृत प्रवाह नाम ग्रंथस्य उत्तर भागः

अथ तृतीय तरङ्गस्यारम्भः

अथेश्वर निर्णयो व्याख्यायते

प्रश्न—आपके कथन से जाना गया कि इस ब्रह्माण्ड गोल से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है। परन्तु यह आपका प्रतिज्ञा मात्र कथन है कि जिसमे आपने कोई युक्ति नहीं दिखाई। सो योग्य है कि आप अपने इस प्रतिज्ञा मात्र कथन को लक्षण और प्रमाण से सिद्ध करके दिखावें कि जिस को सुन के मूलतः भ्रम का उच्छेद हो जावे।

उत्तर—बड़ी युक्ति हमारे पास यह है कि तुम जो ब्रह्माड से भिन्न ईश्वर का होना किसी दृढ़ युक्ति से सिद्ध नहीं कर सकते और न कभी हम को उसका प्रत्यक्ष हुआ है फिर उस अनहुई बात का होना हम कैसे मान लें जिसको तुम इस ब्रह्माण्ड से अतिरिक्त कहते हो।

प्रश्न—ईश्वर क्या घट पट की नाईं कोई भौतिक पदार्थ है जिसका आप प्रत्यक्ष चाहते हो। उस का प्रत्यक्ष इंद्रिय से नहीं होता किंतु ज्ञान द्वारा उसका प्रत्यक्ष होता है। जैसा कि वायु के स्वरूप का प्रत्यक्ष चाहे हम को किसी इंद्रिय से नहीं होता परन्तु उसके स्पर्श गुण के प्रत्यक्ष से तद्वान वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा होता है वैसे ही ईश्वर के कर्तृत्वादि गुणों से ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हम को होता है क्योंकि स्वाभाविक गुण के प्रत्यक्ष से गुणी का प्रत्यक्ष हो जाना युक्ति सिद्ध है।

उत्तर—स्वाभाविक गुण के प्रत्यक्ष से गुणी का प्रत्यक्ष युक्ति सिद्ध ठीक है, परंतु ईश्वर के कर्त्तृत्वादि गुणों का प्रत्यक्ष हम को कभी नहीं हुआ जिससे ईश्वर का प्रत्यक्ष मान लिया जावे। जिस संसार का कर्त्ता तुम ईश्वर को समझते हो वह अनादि अनंत है फिर उसका कर्त्ता हर्त्ता कोई कैसे बन सकता है। हम पीछे पंच भूत के गोले को स्वरूप से वा प्रवाह से अनादि अनंत कह चुके है और इस गोले का नाम ही ब्रह्माड वा संसार और जगत् प्रपंच है।

प्रश्न—अच्छा, प्रत्यक्ष नही तो अनुमान प्रमाण तो ईश्वर के सद्-भाव में मानो क्योंकि कर्त्ता बिना कोई कार्य्य उत्पन्न नहीं होता और कार्य्य से कारण का अनुमान होजाता है। सो हम अनुमान करते है कि यह जगत जो कार्य रूप है तो इसका कारण भी कोई अवश्य होना चाहिये और उसी का नाम ईश्वर है।

उत्तर—प्रथम तो हम यह कह चुके कि जगत अनादि अनंत है कार्य्य रूप नहीं। फिर दूसरे यह कहेंगे कि अनुमान, उपमान, शब्द आदिक प्रमाण वहाँ मानने चाहियें कि जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न हो। यहाँ जगत में तो प्रत्यक्ष अनादिता दिखाई देती है तब अनुमा-नादि प्रमाणो का क्या प्रयोजन ? सच पूछो तो अनुमान, उपमान, शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना सिद्ध नहीं होते। जैसा कि धूम को प्रत्यक्ष जहाँ देखा हो अग्नि का अनुमान वहाँ ही हो सकता है। और गौ को प्रत्यक्ष देखे बिना गवय का उपमान सिद्ध नहीं होता। शब्द प्रमाण वही माना जाता है जिस के विषय का प्रत्यक्ष वक्ता को हुआ हो। सो बस, इस रीति से जो प्रत्यक्ष प्रमाण को ही प्रधानता आई इस कारण हम उसी बात को सत्य मानते हैं जो प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय होवे। और तीसरे हम यह पूछते हैं कि आप जगत मानते किस चीज को हो ? यदि नभ, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंचभूत को

जगत मानते हो तो ये स्वरूप से अनादि सिद्ध पदार्थ पड़े हैं किसी के किये हुए नही। यदि मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक देहों को जगत मानते हो तो ये भी अपने माता पिता से प्रकट होते हैं और प्रवाह रूप से अनादि है किसी के किये हुए नहीं। यदि वृक्ष, घासादि को जगत मानते हो तो वे अपने वीजों से प्रकट होते और प्रवाह से अनादि है। और यदि कोष्ट, कूप, घट, पटादि को जगत मानते हो तो इन का कर्त्ता मनुष्य है। अव विचारना चाहिये कि जब सारा जगत कोई स्वरूप से कोई प्रवाह से अनादि है तो कार्य्य रूप कैसे हुआ? जब कार्य्य रूप न ठहरा तो इस का कर्त्तृत्व किसी ईश्वर को कैसे आया?

यदि कहो सूर्य, चंद्र, तारागण का कर्त्ता ईश्वर है अथवा मेघ, वृष्टि इन्द्रधनुप, आदि का कर्त्ता ईश्वर है तो ज्योतिप विद्या वा पदार्थ विद्या को पढ़ो जिसके पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत हो जावेगा कि ये क्या है और किसी के वनाये हुए है वा स्वतः सिद्ध है।

प्रश्न—ज्योतिर्विद्या पढ़ने का अवसर अव कहाँ है यह वात भी संक्षेप से आप ही सुनाइये कि सूर्य्य चन्द्रादि क्या पदार्थ और किसके वनाये हुए हैं?

उत्तर—जब लो ज्योतिर्विद्या को न पढ़ लो हमारे संक्षिप्त कथन से भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी परंतु इस समय हम थोड़ा सा कह छोड़ते है। ये सूर्य्यादि पदार्थ भी किसी के वनाये हुए नहीं किन्तु अनादि हैं। यदि अनादि नहीं हैं तो वताओ कव वनाये? यदि कहो जगत के आदि मे वनाये तो वताओ काहे मे से वनाये क्योकि जगत के पहले कुछ वर्त्तमान नहीं था जो इनका उपादान ठहराया जावे? यदि कहो जगत के आरम्भ के आरम्भ से कुछ काल पीछे वनाये तो वताओ कितना काल पीछे? और सूर्य्य के विना दिन मास वर्षादि कालका निश्चय कैसे हुआ? और उतना काल क्यों न वनाये क्या उतना काल

ईश्वर उनके उपादान की प्रतीक्षा में रहा कि जिसके बिना सूर्य्यादि को बना न सका अथवा बनाना आवश्यक न समझा ? यदि बना न सका तो इन से पहला जगत उपादान के बिना कैसे बना लिया और उस जगत का अँधेरे में निर्वाह कैसे हुआ ? यदि आवश्यक न समझा तो फिर पीछे से क्या आवश्यकता पड़ गई ? इत्यादि।

और सुनो, सूर्य्य भी इस पृथ्वी के समान एक पृथ्वी है और वह ऐसी चमकीली है कि यह हमारी पृथ्वी उसी की चमक से प्रकाशित हो रही है। वह स्थिर है और पृथ्वी समेत मंगल, बुद्ध, वृहस्पति, शुक्र शनि आदिक कई ग्रह उसके चारों ओर घूमते हैं। वह सूर्य्य पृथ्वी से इतना दूर है कि जो घोड़ा एक दिन रात में सात सौ बीस कोस चले और वह रात्रि दिन चलता रहे तो पृथ्वी से ले के सूर्य्य लों दो सौ चौहत्तर वर्ष में पहुँचे *। सूर्य्य सम्पूर्ण ग्रहों में बड़ा ग्रह है और इस पृथ्वी से भी बहुत बड़ा है। अर्थात् पृथ्वी के गोले का विस्तार तो चार सहस्र सात सौ पचास कोस का है ‡ और सूर्य्य का गोला पाच लक्ष तीस सहस्र चार सौ कोस का है †। तुमको यह भी स्मृत रखना चाहिये कि पृथ्वी और सूर्य्य दोनों गोल हैं। शास्त्रीय लोग सूर्य्य को चलता मानते और इतर विद्वान् पृथ्वी को चलती मानते हैं। दिन रात का होना तथा ग्रहण का लगना सूर्य्य का पृथ्वी के आगे पीछे हो जाना है। बुद्धिमानों ने पृथ्वी की चाल का निश्चय किया हुआ है इसी हेतु से आज गिना जा सकता है कि इतने दिनों में सूर्य्य पृथ्वी की आड़ में आ जाएगा और ग्रहण लगेगा। जो लोग सूर्य्य को चलना मानते है ग्रहण और दिन रात उनकी गिनती में भी उसी समय होता है क्योंकि जैसे नौका पर बैठे लोग तट को चलता देखते है और तटस्थ लोग नौका चलती देखते है तो भी यह बात दोनो की ठीक उतरती है कि नौका तट से एक कोस

---

*यह वर्तमान गणित से ९ करोड ३० लाख माइल है। ‡ यह वर्तमान गणित से ७,९०० माइल है। † यह वर्तमान गणित से ८,६०,००० माइल है।

इतने काल मे जायेगी अथवा नौका से तट एक कोस इतने काल में चला जायगा। तुमको यह भी समझना चाहिए कि इस पृथ्वी पर सूर्य्य की उष्णता और प्रकाश का फल तो होता है परन्तु और कोई फल नहीं होता जैसा कि जन्म पत्र लिखने वाले अज्ञानी जन वतलाते है।

प्रश्न—मैंने कई वार देखा कि जन्म पत्र तथा वर्ष फल के ग्रहों के अनुसार जब ज्योतिषी लोगों ने सुख दुःख का होना कहा, ठीक उस समय पर वैसा ही हुआ फिर ग्रहों का फल क्यों न मानना चाहिये?

उत्तर—प्रथम तो यह वात सच नहीं कि जिस समय जैसे सुख दु ख लाभ हानि का होना ज्योतिषी वतावे उस समय ठीक वैसा ही होवे। भला यदि कोई एक आधी वात मिल भी गई तो वह अचानक हुई माननी चाहिये। हमने कई वार देखा है कि आज किसी ऐसे मित्र को स्मरण किया कि जो दूर रहता है, कल को या उसी दिन वह हमारे पास आ निकला। क्या इसको हम यह समझेंगे कि हमारी स्मृति उसे खींच लाई। नहीं नहीं! यह व्यवहार अचानक हो गया कोई इसका नियामक नहीं।

यदि ग्रहों के अनुसार सुख दु.ख और हानि लाभ होता है तो हमारे निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर दो :—

यह वहुत संभव है कि जिस समय के जिस लग्न के जिस अंश में कोई एक पुरुष किसी नगर में उत्पन्न हुआ हो उसी अंश में कोई अन्य पुरुष भी कहीं अवश्य उत्पन्न हुआ होगा फिर क्या कारण है कि दोनो के लग्न और ग्रह तो समान हों और फल भिन्न २ हों। जैसा कि एक गौर दूसरा श्याम तथा एक सुखी दूसरा दुःखी देखा जाता है। यदि फिर भी कहो कि उनमे कुछ वैलक्षण्य कभी नहीं रहेगा तो देखो कितना वैलक्षण्य दिखाई देता है। एक का माता पिता अन्य और दूसरे का अन्य है। एक के भाई वहिन भिन्न तथा दूसरे के भिन्न हैं। एक अन्य

ग्राम के अन्य कूप का जल पीता और दूसरा अन्य का। एक ने किसी अन्य क्षेत्र के अन्न से वृद्धि पाई और दूसरे ने अन्य से। फिर एक का विवाह और स्त्री से हुआ दूसरे का और से। फिर हम यह भी कह सकते हैं कि उनके रोग शोक तथा मृत्यु भी अवश्य भिन्न भिन्न होंगे।

एक बात हम और पूछते हैं कि सुख दुःख हानि लाभ जीव को ग्रहों से होता है या पूर्व कर्म से अथवा ईश्वर की इच्छा से होता है? यदि ग्रहों से, तो दूसरे को वैसा ही क्यों नहीं होता जिसके ग्रह समान पड़े हैं? यदि कहो पूर्व जन्म से, तो उन दोनों के कर्म तो भिन्न भिन्न थे जिनके यहाँ माता पिता और स्थान जल अन्नादि पदार्थ पीछे भिन्न भिन्न सिद्ध कर चुके है फिर लग्न और ग्रह दोनों के एक समान क्यों पड़े कि जिनके पड़ने से संवत, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, बार, लग्न ग्रहादि को अवश्य एकता पड़ेगी; क्योंकि जब सूर्य्य सिह का और चन्द्रमा बृप का और गुरु मकर का तथा शनि कर्क का एक के पड़ा तो अवश्य एक ही संवत मासादि दोनों के होंगे। अब इस कथन से यह बात लब्ध हुई कि जो सिह के सूर्य्य में जन्मा वह भादों के महीने में जन्मा होता है जब अत्यन्त घर्म पड़के जातक को कष्ट होता है। अथवा जो कुंभ मीन के सूर्य्य में जन्म ले वह फागुन चैत्र में जन्म लेने के कारण भादों की अपेक्षा कुछ सुखी होता है। और दोनों मास में उत्पत्ति होने के कारण सारा आयु ही काल जन्य शीत उष्ण तथा फल पुष्पादि का सुख दुःख उनको समान होगा फिर पूर्व कर्म की विलक्षणता ने वह सुख दुःख समान क्यों होने दिया?

यदि कहो ईश्वर की इच्छा से सुख, दुःख, हानि लाभ होता है, तो पहले हम यह पूछते हैं कि तुम्हारा वह पक्ष कहां गया कि जो सुख दुःखादिका कारण ग्रहों को माना था। फिर हम यह पूछते हैं कि जिस को ईश्वर ने दुःख देने वा हानि पहुँचाने की इच्छा की उसने

ईश्वर का क्या अपराध किया था और जिसको सुख वा लाभ दिया उसने ईश्वर पर क्या उपकार किया मानोगे ? हम सच कहते है, ग्रहादिकों का फल जीव की हानि, लाभ, सुख, दुःख पर कुछ नहीं होता यह सब अचानक व्यवहार है।

प्रश्न—तब तो आप भूकम्प तथा परिवेषादि का फल भी प्रजा पर कुछ नहीं मानते होंगे ?

उत्तर—जीव के हानि, लाभ को हम उसके आधीन कैसे मान लें जो युक्ति से हीन व्यवहार है परंतु हम और प्रकार से प्रजा पर उनका फल कुछ मान भी लेते हैं। जैसा कि भूकंप जिस पवन के बल से होता और जो वायु चन्द्रमा और सूर्य के ऊपर परिवेप बना देता है उसका वनस्पति और वर्षादि पर कुछ फल होता हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

प्रश्न—क्या भूकम्प किसी पवन के संबन्ध से होता और परिवेप भी किसी वायु के बल से होता है ? हम तो यह सुनते है कि जब पृथ्वी पर गोघात तथा कन्या घात आदिक महा पाप होते है तब पृथ्वी के नीचे जो एक बैल तथा शेष नाग है वह कांप जाता है और उसके कांपने से पृथ्वी कांप उठती है।

उत्तर - यह तुम्हारी बड़ी भूल है कि प्रत्यक्ष पड़ी बात को छोड़ के परोक्ष पर विश्वास कर लेते हो। भूकम्प का यही कारण है कि जैसे प्राण वायु के प्रकोप से कभी-कभी सारे शरीर अथवा किसी एक अंग में अचानक कम्प अथवा फरकना हो जाता है वैसे वायु वेग से कभी सारी पृथ्वी कभी उसका एक देश कंप मे आ जाता है जो तुमने पृथ्वी के नीचे बैल वा नाग माना और उसका पाप के बोझ से कांपना जाना उसमें हम कई एक प्रश्न करते हैं :—

१—यदि पृथ्वी के नीचे बैल है तो कूप खोदने से दिखाई क्यो नहीं देता ?

२—जब बैल के बिना पृथ्वी न ठहर सकी तो आश्रय के बिना बैल काहे पर खड़ा है ? यदि बैल परमेश्वर की शक्ति के आश्रय खड़ा है तो पृथ्वी को ही शक्ति के आश्रय क्यों नहीं मान लेते क्या उस शक्ति से अकेली पृथ्वी का बोझ न उठाया गया और बैल समेत उठा लिया? इत्यादि ।

यदि वह कन्यादि घात से कांपता है तो भू-कम्प सहस्रों नगर में एक ही समय होता देखते हैं क्या कारण कि कन्यादि घात किसी एक नगर में हुआ और भू-कम्प अनेक नगरों में हो गया। यदि कहो उन समस्त नगरों में जो कन्यादि घात होते रहे इस हेतु से सब में भूचाल हुआ तो निर्जन जंगलों तथा पर्वतों में भूकम्प होने का क्या कारण है ? फिर एक बात हम और पूछते है कि पाप का बोझ जब उस बैल वा शेष नाग वा कच्छप की पीठ पर पड़ा तो उसका सारा देह कांप उठा होगा—जिस पर तुम पृथ्वी को रखी हुई मानते हो, फिर इसका क्या हेतु कि कभी-कभी हम भू-कम्प किसी एक ही देश में हुआ सुनते हैं। क्या यह बात संभव है कि आधार तो सारा हिले और आधेय का एक देश मात्र हिले। बड़ा आश्चर्य है कि तुम भू-कम्प का कारण किसी पाप विशेष को मानते हो।

अब चन्द्रमा की सुनो

चाद भी एक पृथ्वी है और वह अन्य ग्रहो की नाईं सूर्य के गिर्द नहीं घूमता परन्तु अपने नक्षत्रों और पृथ्वी के गिर्द घूमता हुआ सूर्य के इर्द-गिर्द भी आजाता है। चाद और तारे स्वयं प्रकाशित नहीं किन्तु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। अन्य तारे तो सब (अपेक्षा कृत) स्थिर हैं परन्तु पुच्छवान तारे अन्य ग्रहों की नाईं सदा घूमते रहते हैं। चाद इस पृथ्वी से एक लक्ष बीस सहस्र कोस दूर है*। पृथ्वी, सूर्य,

*वर्त्तमान गणित से भी इतना ही, यानी २,४०,००० माइल है।

चन्द्र, तारे ये सब किसी के बनाये हुए नहीं, सनातन से ऐसे ही एक दूसरे के आकर्षण से स्थित हैं। परन्तु यह सन्देह तुम्हारा तब निवृत्त होगा कि जब तुम पदार्थ विद्या को पढ़ोगे।

अब वर्षा की सुनो

वह भी ईश्वर कृत नहीं किंतु समुद्र और अन्य नदी नालों का जल सूर्य की किरण द्वारा उदान वायु के वेग से ऊपर खेंचा जाता है और सूर्य्य की तप्त से पिघलता २ अति सूक्ष्म हो के आकाश में मेघाकार दिखाई देता है। जब उसके ऊपर शीतल वायु मिले तो घृत-की नाईं जम के भारी हो जाता और अपान वायु के वेग से नीचे गिरने लगता है। यदि ऊपर शीतल वायु बहुत लगे तो अत्यन्त गरिष्ट होके ओले बरसने लगते हैं और यदि शीतल वायु थोड़ा मिले तो बूंदें होकर बरसता है यदि शीतल वायु ऊपर किंचित भी न मिले तो सूर्य की तप्त से अत्यन्त पतला और सूक्ष्म होके उदान वायु के वेग से जब कुछ अधिक ऊपर गया तो वहाँ की वायु में मिल गया और वहाँ से उड़के किसी अन्य देश में जा बरसा। इस हेतु से वहां न वर्षा होती है और न मेघ दिखाई देता है। इससे ईश्वर का कर्त्तृत्व तब मानें जब कि कोई प्रत्यक्ष हेतु दिखाई न देवे।

प्रश्न—यहाँ यदि हम यह मानें कि सूर्य्य की किरणों का जल को खींचना और उदान वायु का ऊपर और अपान वायु का नीचे गिराना इत्यादि सब व्यवहार ईश्वर के दिए हुए है, स्वतः नहीं, तो आप क्या उत्तर देंगे?

उत्तर—कल को यदि तुम यह कहो कि कीकर के कांटे का मुख ईश्वर तीक्ष्ण करता है तो इसके सिवाय हम और क्या कहेंगे कि क्यों और कहाँ और कैसे ईश्वर करता है। जैसे कीकर के बीज का स्वभाव ही यह है कि उसके कांटे तीक्ष्ण मुखके निकला करें वैसे सूर्य की किरणों

का स्वभाव ही यह है कि वे पानी को खींच के वायु में मिला दे। फिर उदान वायु का पदार्थों को ऊपर ले जाना, अपान वायु का पदार्थों को नीचे गिराना यह भी उनका स्वतः स्वभाव है। यदि इन बातों का स्थापक और नियामक ईश्वर को मानोगे तो उस पर बड़े भारी दोष लगेंगे कि जिनका उद्धार कठिन है।

अब गर्ज और बिजली की सुनो

मेघों के पुट जो उदान वायु की धारणा शक्ति से आकाश में ऊपर नीचे आच्छादित हो रहे हैं उनमें दो पदार्थ का संयोग है। एक सूक्ष्म अंश जल के मिल रहे हैं दूसरा पृथ्वी के जो सूर्य की तप्त और उदान वायु के बल से ऊपर गये हुए हैं। उन मेघों की संधि और अवकाश में जब विशेष पवन प्रवेश करे तो मेघ बलात्कार से फटकते हैं उसका नाम गर्ज है। पृथ्वी और जलांश के कोनों में विशेष पवन के स्पर्श और रगड़ से उष्णता होकर जो अग्नि प्रकाशित होती है उसका नाम बिजली है। यदि कहो वहां जलांश में मिलकर अग्नि बुझ क्यों नहीं जाती तो सुनो, जैसे वड़वाग्नि को समुद्र का जल बुझा नहीं सकता वैसे इस आकाश की अग्नि को आकाशस्थ जलांश नहीं बुझा सकते। विद्युत की चमक, शब्द से कुछ काल पूर्व होने का यह तात्पर्य है कि प्रकाश शीघ्र चलता है और शब्द उससे मंद चलता है। विद्युत का अग्नि पृथ्वी के बहुत निकट हो तो आध कोस तक होता है इससे नीचे उतरे तो पृथ्वी पर गिर के उस स्थल के पदार्थों को दग्ध कर देता है। विद्युत समय ऊंचे वृक्ष तथा लोहे के खम्भे के नीचे न ठहरना चाहिये क्योंकि वहां बिजली बहुत गिरती है। जैसे बन में दो बास की रगड़ से तथा दो पत्थर की टक्कर से आग और शब्द प्रकट हो जाता है वैसे ही बिजली को समझो। इसका कर्त्ता ईश्वर नहीं किंतु जल पवन और मृत्तिका का संयोग है।

वस, इसी प्रकार सर्व कार्यों के भाव अभाव का ठीक कारण न समझने से तुमने ईश्वर का कर्त्तृत्व माना हुआ है।

प्रश्न—इस काल में चाहे संपूर्ण कार्यों के कारण यहां जगत मे ही दिखाई देते है जैसा कि पुत्र की देह का कारण उसके पिता की देह है परन्तु पिता की देह फिर अपने पिता से और उसका पिता फिर अपने पिता से दिखाई देता है। इसी प्रकार पीछे को चलते-चलते सवसे पीछे कोई एक देह ऐसा मानना पड़ेगा कि जिस के पूर्व कोई और देह न हो। यदि कहो वह आदिम देह कहां से आया तो सुनो, जिन स्थूल पंचभूत को आप ज्यो के त्यों अनादि मानते हो वे ज्यों के त्यों अनादि नहीं किन्तु अपने परमाणुओं के संयोग से वने हैं। पहिले बहुत काल से परमाणु समूह वर्त्तमान था जब ईश्वर ने जगत रचना चाहा तो एक-एक परमाणु को मिला के द्व्यणुक त्रसरेणु किया। फिर और मोटे होते-होते वे स्थूल महाभूत वन गये। फिर इन महाभुतो से ईश्वर ने अपने सामर्थ्य द्वारा दो प्रकार का देह रचा एक नर दूसरा नारी। फिर उनमे जीवात्माओ का सम्वन्ध किया जो परमाणुओ के समान पहिले ही से वर्त्तमान थे। सो वे प्रथम नर नारी देह तो ईश्वर ने पंचभूत में से वनाये और फिर उनके संयोग से आगे को रचना का क्रम वाधा और इसी प्रकार पहिले ईश्वरने वीज वनाये और फिर उनसे वृक्ष होते चले आते हैं और वैसे ही पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि के वीज पहिले रच लिये और फिर एक से दूसरे की उत्पत्ति का क्रम वांध दिया जो आज लों अनायास चला आता है। इस हेतु से आदि कारण सव का ईश्वर है।

उत्तर—जगत के आरम्भ मे किसी आदिम देह का होना तो हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु हम यह नहीं मानते कि उस आदिम देह को किसी ईश्वर ने रचा है। हम तो यह मानते हैं कि पंचभूत से जगत का वन जाना और मिट जाना स्वतः स्वभाव है इसका कोई नियामक

नहीं। जैसा कि देखो, यहा हम उत्पत्ति और प्रलय का प्रकार लिखते है जो युक्ति के विरुद्ध नहीं।

आदि काल में जो जो प्रमाणुओ का संयोग तुमने ईश्वरीय इच्छा से माना इसमें अनेक दोष है जो आगे कथन होंगे इस हेतु से तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि जैसे वे आज दिखाई देते है सदा से ऐसे ही स्थित है। यदि कहो कहीं-कहीं जाल रंध्रो मे जो द्व्यणुक त्रसरेणु दिखाई देते हैं इस हेतु से उनके पूर्व परमाणुओं के होने का हम अनुमान करते हैं क्योंकि सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति युक्ति सिद्ध है। तो सुनो, केवल सूक्ष्म से स्थूल का उत्पत्ति ही युक्ति सिद्ध नहीं किन्तु स्थूल से सूक्ष्म की उत्पत्ति भो युक्ति सिद्ध है। जैसा किसो स्थूल वृक्ष से एक सूक्ष्म पत्र टूट के पवन वा पृथ्वो मे पड़ा रहता है वैसे स्थूल भूतो मे से टूट के सूक्ष्म त्रस-रेणु और द्व्यणुक तथा परमाणु प्रतीत होने लग जाते है क्योंकि इन पंचभूत का स्वभाव है कि कहों तो ज्यों के त्यो स्थूल पड़ रहते है और कहीं कुछ परमाणु भिन्न हो के फिर अपने आप एकत्र होजाते है। यदि कहो वे जड़ है कि नो चेतन के किये बिना स्वत न बो भिन्न ही हो सकते है और न मिल सकते है। तो सुनो, एक पृथ्वी मात्र के परमाणु तो चाहे स्वतः क्रिया करते दिखाई नहीं देते, परन्तु वायु जल और अग्नि मे हम चलन और चालन शक्ति प्रत्यक्ष देखते है। सो प्रथम वायु ने पार्थिव परमाणुओ को इकट्ठा वा भिन्न किया, फिर जल के परमा-णुओ को हिलाया। फिर अग्नि का स्वभाव है कि अपने स्थान को छोड़ के सदा पाश्ववर्त्ती पदार्थों की ओर प्रवृत्ति करना। वायु की प्रेरणा से जल और पृथ्वी को पहिले अग्नि ने भिन्न-भिन्न कर के प्रमाणु रूप कर दिया। फिर वायु की प्रेरणा से जल और पृथ्वो के परमाणुओ मे स्वयं प्रविष्ट होके उनको भी पक्का कर दिया और आप भी उनके आश्रय इकठ्ठा हो गया। तदनन्तर वह स्थूल पंचभूत का ढेर गरिष्ट और भारी हो जाने के कारण वायु की प्रेरणा से आगे न सरका। फिर उसके

सूक्ष्म छिद्रो और अवकाशों में वायु रुक के एक स्थूल वायु बन गया इस रीति से मिलना बिछुड़ना इनका स्वाभाविक धर्म है इसमें ईश्वर की चिकीर्षा मानने की क्या आवश्यकता है।

प्रश्न—अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी ये चारों भूत विरुद्ध धर्मी है एक स्थान में होने से एक ने दूसरे का नाश क्यों न कर दिया? इस बात से प्रकट है कि किसी अन्य की इच्छा वा शक्ति से इनका एकीभाव हो रहा है स्वतः नहीं।

उत्तर—नाश तो इनका कभी होता हो नहीं किन्तु अवस्थातर हो जाता है जैसा कि जल पर जब उससे अधिक अग्नि पड़े तो अग्नि की उष्णता से जल पिघल कर सूक्ष्म वाष्प रूप होकर उदान वायु द्वारा ऊपर को उड़ जाता है फिर ऊपर का शीतल वायु लगने से वृष्टि बनके नीचे ही फिर गिर पड़ता है। ऐसे ही अग्नि पर अधिक जल पड़नेसे अग्नि उसकी शीतलता में प्रविष्ट होके अपने स्वरूप को छिपा देता है। यही कारण है कि जल अपने प्रथम स्वभाव से कुछ उष्ण हो जाता है। फिर वह उष्णता शनैः-शनैः वहा से निकल के कहीं आगे को प्रवृत्त हो जाती है परन्तु नष्ट नहीं होती। जो तुमने किसी अन्य की इच्छा बिना इनका एकीभाव कठिन माना यह कथन भी तुम्हारा समीचीन नहीं क्योंकि अन्य की इच्छा के बिना भी हम इनका एकीभाव एक ही स्थान मे देखते है। जैसा कि पृथ्वी मे एक गर्त्त है उसमे वृष्टि का जल भर गया। फिर सूर्य-किरणों द्वारा उसमे अग्नि आया और इन सब के छिद्रों और अवकाशों मे वायु भरा और उस अवकाश को तुम आकाश समझो। सो बस, हम यह कहेंगे कि जब लो वायु के प्रेरित परमाणु समभाव पर इकट्ठे न हुए तब लो उनका एकीभाव न हुआ जब समभाव पर ठीक परिमाण से मिल जाय तो उनका एकीभाव एक ही स्थान में हो जाता है।

यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि पंचभूत से जगत किस समय हुआ है और कब मिट जायेगा परंतु यह बात प्रत्यक्ष है कि ये सब प्रपंच पंचतत्व से हुआ है। पहले ये पंचभूत आपस के तारतम्य से अनेक भाति के अंकुरित हुए और वृक्ष, पात, फूल, फल, बीज रूप हुए फिर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट रूप सूक्ष्म देहाकार बने। वे देह नर नारी भेद से दो भाँति के जो पहले अत्यन्त सूक्ष्म थे प्रथम जल मृत्तिका और घास पात फल फूलादि को चाट के निर्वाह करते रहे जब कुछ उनके देह बढ़े तो बुद्धि विचारादि के बल से अन्न तथा अन्य औषधियो का खानपान करने लग गये कि जिससे उनमें वीर्य और वीर्य से उत्साह भरा और उत्साह से इच्छा और इच्छा से प्रयत्न और प्रयत्न से मैथुनादि व्यवहार में प्रवृत्त हुए कि जिससे यह सारा संसार भर गया। आदिकाल में जो मनुष्य पंचभूत से बना था उसका नाम स्वयंभू है अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुआ २। इसके विषय में मनु० अ० १ श्लो० ५-६ मे लिखा है—

आसीदिदं तमो भूतम ऽप्रज्ञात मलक्षणं।
अप्रतर्क्य मऽविज्ञेयं प्रसुप्त मिव सर्व सः॥
ततः स्वयंभूभगवान व्यक्तोव्यंजयन् प्रजाः।
महाभूतादि बृत्तौजाः प्रादुरा सीत्तमोनुदः॥

अर्थ—यह जगत आदि में कुछ नहीं था केवल अज्ञात अलक्षण अंधकार रूप था वह अँधेरा तर्क रहित और अविज्ञेय और चारो ओर से प्रसुप्त के समान था। उस अँधेरे से वह स्वयंभू भगवान प्रजा को भिन्न-भिन्न करता हुआ तमको दूर करके प्रकट हुआ जिसका वल महा भूतो से घेरा हुआ है।

प्रश्न—स्वयंभू की उत्पत्ति आदिकाल मे कहाँ हुई थी?

उत्तर—यद्यपि हम यह तो कह सकते है कि जहाँ नाना विधि

वनस्पति हो ली थी और जहाँ का जल पवन अनुकूल और देश न अति शीतल और न अति उष्ण न ऊँचा न नीचा था वहाँ मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग की उत्पत्ति प्रथम हुई थी परंतु यह नहीं कह सकते कि वह कौन सा देश है। ये जितने मनुष्य आज दिखाई देते है एक मनुष्य से हुए हैं जिसका नाम स्वयंभू है। पहले कुछ काल सब मनुष्य पशुओं के समान आकृति और प्रकृति रखते थे जिस स्त्री को पाते भोगते अपनी पराई का विचार न था और न कोई वर्ण आश्रम जाति पांति का भेद था। ज्यों-ज्यो बुद्धि, विवेक, विद्या बढ़ती गई बड़ाई छोटाई, स्वत्व, परत्व, लज्जा, भय मन में भरता गया। फिर खान, पान, पहिरान, स्थान, यानादि पदार्थ सुधारने और अपने देह आदिक को सजाने लगे। फिर वैर प्रेमादि और व्यापार फैले कि जिनके लिये राजा और राजनीति तथा कई प्रकार के प्रबन्ध और निबन्ध रचे गये। प्रकट मे तो राज भय से उपद्रव और उत्पात रुक गये परन्तु जब गुप्त देश मे लोग यथेच्छाचार के प्रताप से एक दूसरे को सताने लगे तो ईश्वर का भय उनके सिर पर बुद्धिमानों ने छोड़ा कि जिसका विशेषण सर्वव्यापी सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा लोगों के कान मे डाला। फिर नाना विधि के वेद शास्त्र लिखे गये कि जिन में करणीय और अकरणीय व्यवहारों की मर्यादा बांधी।

प्रश्न—यह कैसे माना जावे कि पहिले एक-एक ही नर-नारी मनुष्य और पशु-पक्षी आदि देहो का जोड़ा किसी मुख्य देश मे हुआ था हम कहते हैं सर्व देशो मे अनेक-अनेक जोड़े एक-एक जाति के प्रकट हुए कि जिनसे यह सारा ब्रह्माड भर गया ?

उत्तर—यद्यपि इस समय जगत में अनेक मनुष्य दिखाई देते और पिता सबके भिन्न-भिन्न प्रतीत होते है, परन्तु यदि पीछे को हट के देखा जावे तो सब एक पिता से प्रकट हुए निश्चित होते हैं फिर यह

कैसे मान लिया जावे कि आदि में अनेक पिता थे कि जिनकी प्रणा-
लियां अनेक चली आती है। जैसे कि देखो यह दृष्टात इस बात को
सिद्ध करता है। दृष्टांत—किसी ने लव और कुश नाम दो मनुष्य को
देखा तो यह नहीं कहेगा कि ये दोनों दो पिता से उत्पन्न हुए है क्योंकि
वे दोनों श्रीराम नाम एक पिता से हुए है। फिर श्रीराम, लक्ष्मण, भरत
और शत्रुघ्न चाहे ये चारो मूर्तियां भिन्न-भिन्न है और तुम इन चारों
के बीज अर्थात् पिता भिन्न-भिन्न चार मानोगे परन्तु वे चारो दशरथ
में जाके एक बीज की उत्पत्ति दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अनुरुद्ध, शाव
आदिक से ले के श्रीकृष्ण की संतान गिनने लगे तो अनंत यादव हो
जाते हैं। सो बस, जैसे यह राघवो और यादवों तथा कौरवो और
पांडवों के वंश एक रघु और यदु तथा कुरु, और पंडु से हुए वैसे पीछे
को चलते-चलते ये रघु, यदु, कुरु, पंडु ये चारों मनुष्य भी किसी स्थान
में जाके एक की संतान निकलेंगे। फिर जिनको तुम अब ब्राह्मण, क्षत्रिय,
वैश्य, शूद्र, नीच, ऊँच गिनते हो वे सब एक स्वयंभू की संतान हैं।
आदि बीज सबका एक और सब सगे भाई हैं परन्तु ज्यों-ज्यो वहुत
होते गये त्यो-त्यो दूर-दूर और भिन्न २ होते गये। आदिकाल मे रूप
आकृति भापा भी सब की एक थी परन्तु बहुत फैल जाने से जो देशां-
तर में रहना पड़ा वहाँ के जल, पवन, अन्नादि के सेवन से रूप आकृति
में भेद आ गया और भाषा भी पलट गई।

प्रश्न—जिसको आप स्वयंभू कहते है यदि उसको भी हम उसके
पिता से हुआ मान के अनवस्था को सिद्ध करें तो क्या दोप आता है?

उत्तर—यह दोप आता है कि अनवस्था किसी युक्ति से सिद्ध नहीं
होती। जैसा कि देखो हम प्रश्न करते है कि स्वयंभू का पिता, पितामह,
प्रपितामह आदिक वृद्धजन सब एक से एक होते चले आये वा इसी
प्रकार का संसार उनके साथ था जैसा अब है? यदि कहो एक से एक

ही होता आया था तो स्वयंभू के आगे एक से अनेक होने की चाल क्रम-विरुद्ध क्यों चल पडी जैसा कि आज देवदत्त के चार पुत्र और उन चारों के कोई दो पुत्र रखता और किसी के तीन तथा एक है और किसी के एक भी नहीं। क्या तुमने कभी देखा है कि जिस विल्व के सनातन से तीन पत्र चले आते है कभी उसको एक दो या पाँच सात लगे हों। यदि स्वयंभू के पूर्व भी आज के समान ही संसार था तो रघु यदु के दृष्टांत की नाईं इस संसार का वीज फिर एक ही सिद्ध होगा इस युक्ति से संसार की अनेकता नहीं वनेगी। जव अनेकता न वनी तो एक वीज पर जगत की स्थिति हो गई फिर तुम अनवस्था को कैसे मानते हो जिसका अर्थ अन-अवस्था अर्थात् कहीं स्थिति न होना है ?

प्रश्न—अच्छा स्थिति ही सही परन्तु हम ऐसा स्वयंभू नहीं मानते जैसा आप पंचभूत से अपने आप हो गया मानते हो किन्तु हम यह मानते हैं कि जगत के आरंभ मे संसार और पंचभूत कुछ नहीं था केवल एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान परमेश्वर था उसने जव जगत रचने की इच्छा की तो उसकी इच्छा पुरुपाकार हो गई वह पुरुप स्वयंभू है। जैसे ईश्वर सर्व शक्तिमान और निराकार है वैसा ही वह पुरुप निराकार हुआ उससे आकाश हो गया आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी। फिर उस स्वयंभू ने इस पंचभूत से मनुष्य, पशु आदि देहों को रचा। इन सवकी उत्तरोत्तर उत्पत्ति मानने मे यह युक्ति है कि कार्य्य में कारण के गुण विद्यमान होते है जैसा कि कारण रूप ईश्वर निराकार और सर्व शक्तिमान था तो उस कार्य्य रूप स्वयंभू मे भी वैसे ही गुण प्रकट हुए। फिर उसका कार्य आकाश को इस हेतु से माना कि निराकारता तो उसमे स्वयंभू की है और शब्द गुण अपना है। फिर वायु में निराकारता और शब्द तो आकाश का और स्पर्श गुण अपना। अग्नि में शब्द स्पर्श तो नभ, वायु का और रूप अपना।

जलमें शब्द, स्पर्श, रूप तो नभ, वायु, तेज का और रस अपना है। फिर पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तो नभ, वायु, तेज, जल का और गंध गुण अपना है।

उत्तर—परमेश्वर ने क्यों इच्छा की यदि जगत को न रचता तो उसकी क्या हानि थी उससे पहिले जगत रचने की इच्छा क्यो न की इत्यादि शका तो हम पीछे भी कई बार लिख चुके है। परंतु अब हम यह कहते हैं कि स्वयंभू तो सर्व शक्तिमान और ज्ञान युक्त था उसके कार्य्यरूप आकाश मे ये गुण क्यों न आये। फिर वायु मे शब्द तो आकाश से आया चंचलता कहा से आगई जो आकाश में नहीं थी। फिर अग्नि में शब्द स्पर्श तो नभ वायु का आया किन्तु उनके पूर्ववर्त्ती स्वयंभू का ज्ञान और शक्ति क्यों न आई। इसी प्रकार जल और पृथ्वी में भी हम पूव कारणो से व्यतिक्रम देखते है। इन हेतुओं से सिद्ध है कि पंचभूत किसी से उत्पन्न नहीं हुए किन्तु अनादि सिद्ध ज्यों के त्यों पड़े है और जो-जो गुण स्वभाव जिस भूत में है वह उसीका है किसी दूसरे का नहीं।

प्रश्न—जैसे पंचभूत अनादि और स्वतंत्र पदार्थ है वैसे देह को भी अनादि और स्वतंत्र पदार्थ ही मान लो इसको पंचभूत रूप मानने में क्या हेतु है क्योंकि इसको हम पृथ्वी जल तेज वायु से बनता कभी नहीं देखते किंतु माता पिता के रज वीर्य से बनता देखते है।

उत्तर—यदि देह को पंचभूत से स्वतंत्र पदार्थ मानते हो तो हमारे जल, पवन, अग्नि, आकाश, पृथ्वी को न्यारा कर के दिखाओ पीछे देह पदार्थ क्या रहता है जिसको तुम स्वतंत्र पदार्थ मानते हो। जैसा कि देखो, पोलाट देह में आकाश का और प्राण और चंचलता वायु की भूख प्यास अग्नि की वीर्य रुधिर पसीना जल का और हाड़ मांस पृथ्वी का है। फिर पंचभूत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांचगुण

के ग्राहक कान, त्वचा, दृग, रसना, घ्राण ये पंच ज्ञानेंद्रिय पंचतत्व का रूप देह मे वसते है। फिर जैसे कारण रूप पंचतत्व के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, क्रिया ये छै गुण देह मे रहते है वैसे कार्य रूप पंचतत्व के इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान ये छै गुण देह में रहते है। फिर इस पंचभूत के संघात देह को तुम पंचभूत से स्वतंत्र पदार्थ कैसे मानते हो।

प्रश्न—वीर्य्य पंचभूत का रूप कैसे है ?

उत्तर—सब वनस्पतियो और औपधियो को पीछे हम पंचभूत रूप कह चुके है। सो अन्न भी एक औपधि है जिस के खाने से रस, रुधिर मान्स, मेद, अस्थि, मज्जा वन के इस छै धातु की परिपाक दशा में सप्तम धातु वीर्य्य वनता है यद्यपि द्रवत्व धर्म को देख के वीर्य्य को जल का अंश माना गया है परन्तु सूक्ष्म विचार से देखो तो वह पांचो तत्व का अंश है।

प्रश्न—पंचतत्व में शब्दादि छं गुण तो दिखाई देते हैं परंतु हम यह कैसे मान लें कि इच्छा द्वेपादि छै गुण भी इन जड़ पंचभूत के ही है? ये छहों गुण तो किसी चेतन पदार्थ के हैं जिस को आत्मा कहते है।

उत्तर—पंचभूत निरे जड़ नहीं किन्तु जड़-चेतन मय है परंतु इसमे इतना भेद है कि चाहे इच्छा द्वेपादि छै गुण गुप्त रूप से तो कारण रूप पंच तत्व मे भी रहते है परंतु प्रतीति उनकी कार्य्य रूप में जा के होती है जब वह शरीर रूप वनते है। जैसा कि जो गन्ध पुष्प में है वह गुप्त रूप से विद्यामान तो वीज म भी है परंतु प्रतीति उसकी पुष्प दशामें जाके होती है। यदि वीज मे न होती तो पुष्प में कहा से आ जाती? हम देखते है कि गोधूम में जंतु और काष्ट मे से कीट निकलते है यदि कारण रूप गोधूम और काष्ट मे चेतनता न होती तो कार्यरूप कीटों मे कहां से आ जाती?

प्रश्न—जो चेतनता आप पंचभूत में पूरण मानते हो उसको स्वतन्त्र

द्रव्य क्यों नहीं मानते क्या कारण कि आप उसको पंचभूत का गुण समझ रहे हो ?

उत्तर—उसको स्वतंत्र द्रव्य इस हेतु से नहीं मानते कि वह पंचभूत से भिन्न कहीं देखा नहीं जाता। जैसे जल से भिन्न अग्नि, भिन्न पदार्थ है तो जल से न्यारा किसी अन्य देश मे भी दिखाई देता है वैसे यदि चेतन पदार्थ कोई भिन्न वस्तु हो तो पंचभूत से भिन्न अन्य देश में कहीं अवश्य दिखाई देना चाहिये। इस हेतु से हम चेतनता को पंचभूत का गुण मानते है। द्रव्य वह होता है कि जिस में गुण-कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव इन पंच पदार्थ मे से कोई न कोई पदार्थ अवश्य रहता हो सो चेतना अर्थात् ज्ञान और क्रिया जो हृदय खण्ड का गुण है इस हेतु से उसमे कोई गुण और सामान्यादि नहीं रहते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, क्रिया, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख, ज्ञान, संख्या, परिमाण, पृथकृत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह ये बाईस गुण है जो पंचभूत और उसके कार्य्य देह में रहते है। जाति का नाम सामान्य है जो एक द्रव्य को दूसरे से न्यारा करती है। विशेष अनंत है जो सजातीय भेद को दिखाते है और द्रव्यों में रहते हैं। समवाय नित्य संबंध का नाम है जैसा कि द्रव्य और गुण का है। अभाव न होने का नाम है जो सब द्रव्यों में रहता है। इन पदार्थों का आधार जो पचभूत से भिन्न कोई और पदार्थ समझ में नहीं आता इस कारण हम उसका सद्भाव नही मानते।

प्रश्न—देश और काल को आप क्या मानते हैं जिन में गुणादि में से कोई नहीं रहता ?

उत्तर—संख्या गुण का इन दोनों में विद्यमान होने से हम इनको भी द्रव्य ही मानते हैं परंतु ये दोनों देह का उपादान कारण नहीं।

उपादान कारण वह होता है जो आप ही कार्य्य का रूप बन जावे। जैसा कि पंचभूत देह रूप बने और देह का एक खण्ड होने से हृदय का उपादान भी ये पंचभूत ही हैं, उस हृदय का नाम हमारे मत में जीव और ज्ञान क्रिया उसके गुण हैं कि जिनका नाम तुम चेतनता रखते हो। ज्ञान नाम प्रकाश का है कि जिस के साथ जीवात्मा अपने को और अन्य पदार्थों को अनुभूत करता है। इस ज्ञान का नाम ही सत्व गुण है। कर्म नाम हिलने चलने का है ये कर्म जिस को क्रिया भी कहते हैं दो प्रकार के हैं—एक सुख और सुख साधनों की ओर झुकना जिस का नाम इच्छा और रजोगुण है। दूसरा दुःख और दुःख साधनों से पीछे हटना जिस को द्वेष और तमोगुण कहते हैं।

प्रश्न—संकल्प को आप तेईसवां गुण क्यों नहीं मानते जो इन बाईस गुणों से भिन्न पदार्थ है?

उत्तर—वह स्मृति-ज्ञान वा अनुभव-ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं किंतु ज्ञान का ही रूप है इस हेतु से उसको भिन्न गुण नहीं मानते।

प्रश्न—मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक देहें आदि काल में पंचभूत की बनी थीं तो आज किसी स्थान में उनसे मनुष्य देह बनती दिखाई क्यों नहीं देती?

उत्तर—आदि काल में पंचभूत कारण रूप थे कि जब उनमें से देह उत्पन्न हो गये अब जो वे वृक्ष, पाषाण, मनुष्य, पशु, पक्षी रूप कार्य बन गये और जीवों के मल मूत्र तथा देहादि की तप्त से कुछ अन्य स्वभाव हो गये हैं इस हेतु से अब वे नवीन देह रूप नहीं बन सकते। जब सारा संघात लुप्त होके फिर यह पंचभूत का गोला स्वच्छ और शुद्ध हो जावेगा तो फिर उनसे पूर्ववत सृष्टि हो जावेगी।

प्रश्न—मोहन भोग से जब कीट उत्पन्न होते हैं तो एक ही भाँति के होते हैं कभी शुक, शारिका प्रभृति को उससे बनते नहीं देखा इसका

क्या कारण है कि पंचभूत रूप कारण तो एक परन्तु उससे कार्य्य अनेक उत्पन्न हो गये जो अत्यंत असंभव व्यवहार है ?

उत्तर—यहा दो हेतु हैं। एक तो यह कि मोहन भोग आदिक जगत के संपूर्ण पदार्थ कार्य रूप है कि जिन का स्वभाव अन्य है। और पृथ्वी आदिक पंचभूत संपूर्ण जगत का कारण रूप हैं कि जिनका स्वभाव अन्य है सो जब उनके स्वभाव में विलक्षता है तो उनकी सृष्टि में भी अवश्य विलक्षणता होनी चाहिये। अर्थात् कार्य्य दशा में जब सृष्टि हो तो एक ही भाति की हो और कारण दशा मे हो तो अनेक भांति की हो। दूसरा यह हेतु है कि सृष्टि के समय जो पंचभूत का परस्पर संयोग हुआ है वह एक ही भाँति का नहीं हुआ जो सृष्टि को भी एक ही भाति का उत्पन्न करता किन्तु भूतों की तारतम्यता से संयोग हुआ है कि जिस ने अनेक प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न किया क्योकि उसमें अनेक ही प्रकार की सृष्टि रहती है। तात्पर्य्य यह कि हम सदा से यही बात परीक्षा करते आये है कि कार्य्यरूप संसार से जब कोई जीव उत्पन्न होता है तो एक ही भाति का होता है और कारण रूप पंचभूत से अनेक भाति के कार्य्य और व्यक्तिया प्रकट होती है। बनना और मिटना इनका स्वत सिद्ध अनादि स्वभाव है इसमे कोई नियामक नहीं। एक बात यह भी स्मृत रखो कि यह बात तो चाहे बुद्धि मे आती है कि यह जगत प्रपंच पंचतत्व से हुआ और कभी मिट के फिर अपने कारण में लीन हो जावेगा परन्तु यह बात बुद्धि से बाहर है कि कब हुआ और कब लीन हो जावेगा। हा, यह भी बुद्धि में आता है कि कई बार प्रलय हुई परन्तु यह प्रलय एक देशी है सर्वदेशी प्रलय नहीं। अर्थात् किसी एक देश में कभी जल का स्थल और स्थल का जल और कभी जन का बन और बन का जन अवश्य हो जाता है। जैसे ये पंचभूत स्वरूप से अनादि है वैसे अंडज, जरायुज, स्वभावज, उद्भिज ये

चार प्रकार की व्यक्तियां जो इन पंचभूत का दूसरा स्वरूप ही है प्रवाह से अनादि है। स्वरूप से अनादि वह होता है कि जो सनातन से ज्यों का त्यों स्थित हो और प्रवाह से अनादि वह होता है कि जिस का बनना मिटना अनादि हो।

अंडज व्यक्तियाँ वे है कि जो अंडे से प्रकट होती है जैसा कि पक्षी आदिक। जरायुज व्यक्तियां वे हैं कि जिनकी उत्पत्ति जरायु द्वारा होती है जैसा कि मनुष्य और पशु है। ये अंडज और जरायुज व्यक्तिया तीन प्रकार की होती है। १ नर, २ नारी, ३ नपुंसक। स्वभावज व्यक्तिया वे हैं कि जिनकी उत्पत्ति पदार्थों के स्वभाव से होती है। जैसा कि जूक, कृमि, ढोरा, सुरसुरी आदिक जंतु है। उद्भिज व्यक्तिया वे है कि जिन की उत्पत्ति बीज से होती है जैसा कि वृक्षादि है। अब तुम को सोचना चाहिये कि यह चराचर जगत तो कोई स्वरूप से कोई प्रवाह से स्वतः सिद्ध सनातन स्थित है इसमें ईश्वर का कोई कर्तृत्व नहीं है।

प्रश्न—यदि सारे संसार को पंचभूत से हुआ न माने किन्तु अनादि काल से जैसे का तैसा बना बनाया मानें तो क्या दोष है ?

उत्तर—बड़ा भारी दोष यह है कि हम सारे संसार को सादि देखते है। जैसा कि सारे मनुष्य और पशु पक्षी सब कोई आदि रखते है और मनुष्यादि के रचे हुए कोष्ट, कूप, तड़ागादि का भी आरंभ दिखाई देना है फिर इस संसार को स्वरूप से अनादि कैसे मान लिया जावे।

प्रश्न—इसका क्या कारण कि स्त्री पुरुष के संयोग होने पर भी कहीं-कहीं संतान नहीं होती और कोई देह जन्म से ही अंग-भंग तथा अङ्गवृद्ध होता है ?

प्रश्न—माता पिता के खान-पान तथा आचार-व्यवहार द्वारा जो

उनके देह में कोई विकार हो गया वह संतान की उत्पत्ति को रोक देता है। और यही कारण अङ्ग-भङ्ग तथा अङ्गवृद्ध और हीजडा हो जाने का दिखाई देता है। इससे भिन्न कोई अन्य कारण समझ में नहीं आता।

प्रश्न—क्या यह प्रपंच सदा ऐसा ही रहता है वा कभी मिट भी जाता है ?

उत्तर—हम पीछे कह चुके है कि जैसे इसकी उत्पत्ति समझ में आती है वैसे यह भी समझ में आता है कि कभी इसका प्रलय भी हो जावेगा परंतु हम यह नहीं कह सकते कि कब हो जावेगा। दूसरी बात हम यह कहते है कि थोड़े से देश मे तो कई बार ऐसा हुआ कि जहा आज बन है वहां कल को जन हो गया, अथवा जहॉ आज जल है वहा थोड़े काल पीछे स्थल हो गया परन्तु ऐसा मिटना हम कभी नहीं मान सकते कि पंचभूत सहित सारा प्रपंच कभी लुप्त हो जाता है।

प्रश्न—जब थोड़े से देश मे आपने जनका बन और बन का जन माना तो अब मुझे यह आशंका होती है कि जितने देश मे जन, बन, स्थल मिट के जल रह जाता है वहॉ फिर जन बनने के समय क्या वह जल ही पहले स्थल और फिर बीज, वृक्ष, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंगादि संसार बन जाता है वा यह सब पदार्थ कहीं बाहर से वहॉ आ जाते है ?

उत्तर—मुख्य तो यही है कि वृक्षों के बीज उस जल मे जो पहिले ही गिरे पड़े थे जब जल सूक के पृथ्वी निकल आई तो वे वहां वृक्षरूप हो गये और मनुष्यादि देहे वहा बाहर से आ बसीं परंतु अनेक प्रकार की स्वभावज सृष्टि वहां स्वभाव से भी उत्पन्न हो जाती है जैसा कि कोई मनुष्य पशु पक्षी देहो के स्वभाव से और कोई वृक्ष फूल फल पत्रादि के स्वभाव से हो गई क्यो कि अनेक जीवो की उत्पत्ति पदार्थों

के रासायनिक संयोग और स्वभाव से होती हम नित्य देखतेहै। जैसा कि गोमय और गोधूम चूर्ण को इकट्ठा करो तो उसके वृश्चिक वनके चलने लगते हैं। गोधूम मात्र को उष्ण स्थान में रखने से सुर्सुरी जंतु वन जाते हैं। नीम के वृक्ष के भीतर हरित वर्ण का कीट वन जाता और मनुष्य के उदर से केचुए और क्षत व्रणादि में कृमि उत्पन्न हो जाते है। वनात तथा ऊर्ण में वर्षा काल के योग से श्वेत जंतु वन जाते, कीकरी प्रभृति काष्ट के भीतर उस के परमाणु संयोग से घुणादि कीट उत्पन्न होते और वद्रीफल तथा वादाम के अंतरीय पट मे हम नित्य कीटों की उत्पत्ति देखते है। फिर देखो, मनुष्य वा पशु के देहमे जव जीवोत्पादक द्रव्य उत्पन्न होता है तो दंत, तालु, प्रभृति गुप्त स्थानों मे कीट वन के चलने लगते हैं। फिर हमने कई वार देखा कि जव जीवोत्पादक द्रव्य पूर्णतः उत्पन्न नहीं हुआ तो कोई अंग विशेष वन के ही रुक गया। जैसा कि अनेक गाय और वैलों की पीठ पर एक टांग और लटकने लगती और किसी के स्कन्ध पर जीभ और मुख पर छोटी सी पूछ लटका करती है। एक वैल को मैंने देखा कि जिस के नितंव पर दो कान लटकते और एक गौ के माथे पर खुर निकला हुआ था*। इत्यादि कार्य्यों को देख के स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वभावज सृष्टि पदार्थों के रासायनिक संयोग और स्वभाव से ही प्रकट हो जाती है कोई अन्य सृजनहार नहीं है। जिस प्रकार के रासायनिक संयोग से जिस भाति के जीव वनते है उनको सदा वैसे ही और उसी द्रव्य से उत्पन्न होते देख के यह निश्चय होता है कि इन जीवों की जाति नवीन उत्पन्न नहीं हुई किंतु उस द्रव्य के रासायनिक संयोग में वह सनातन से स्थित है। यदि सनातन से स्थित न होती तो गोधूम से सुर्सुरी के वदले अश्व

---

* ये नव स्वांग तो धूर्त भिक्षुक गण पीछे भी वना लेते है और इन्हें दिखा कर भोली भक्त जनता को ठगा करते है। —सम्पादक।

वा महिषी और मनुष्य के व्रण से कीटके बदले शारिका का वा कपोत बन जाया करते। अथवा कोई ऐसी नवीन जाति नित्य २ प्रकट हो जाया करती जो इस चौरासी लाख योनि की गिनती में न आई हो जो अब मनुष्य, पशु, कीट, पतंग तथा वृक्ष पाषाण आदि रूप में विद्यमान है।

कीट दो भाति के होते है एक वे जो नर-नारी के सयोग से वीर्य द्वारा उत्पन्न होते है जैसा कि सर्पादि है। दूसरे वे कि जो पदार्थो के स्वभाव से उत्पन्न होते है जैसा कि बिच्छू, जूक, सुर्सुरी और पंखवाले पतंग हैं।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि जो जंतु पदार्थो के स्वभाव से उत्पन्न होते है उनकी वीर्य से सृष्टि नहीं होती और मनुष्य, पशु, पक्षी की वीर्य से सृष्टि होती है ?

उत्तर—जो जीव कारण से उत्पन्न हुए उनका और स्वभाव होता है और जो कार्य से हुए उनका और स्वभाव होता है जैसा कि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, तो पंचभूत से उत्पन्न हुए है जो कारणरूप हैं सो इन से तो वीर्य द्वारा सृष्टि उत्पन्न होने का स्वभाव है और सुर्सुरी आदिक जीव पंचभूत के कार्यो से उत्पन्न होते है इस हेतु से वीर्य द्वारा सृष्टि होने का स्वभाव उन मे नहीं है। साराश इसका यह है कि पंचभूत संपूर्ण पदार्थो के कारण है और सारा संसार उनका कार्य है सो कारण की उत्पत्ति का स्वभाव भिन्न है और कार्य की उत्पत्ति का भिन्न है।

प्रश्न—इस मे हम यह कहेंगे कि वह स्वभाव ईश्वर ने ही पदार्थो में स्थापित किया है।

उत्तर—हम इसका उत्तर यह देंगे कि क्यों स्थापित किया। यदि कहो, वह अपना खेल पसारता है अतः कई प्रकार की विचित्र रचना फैला दी तो हम दो प्रश्न करते है—एक यह कि जो जन खेल पसारता

है उसके मन में कोई मनोरथ अवश्य होता है जैसा कि मन बहलाने तथा जय विजय का। सो बताओ ईश्वर ने जो अपना मन बहलाने को खेल पसारा तो क्या इस खेल से पहिले कुछ उदास बैठा था। दूसरा यह कि यदि कोई बालक ऐसा खेल खेले कि किसी कीड़े की टांग तोड़ दे और किसी का हाथ पांव मरोड़ दे और किसी की आंख फोड दे तो क्या तुम उसको श्रेष्ठ, बुद्धिमान और दयालु कहोगे ? क्या कारण है कि ईश्वर किसी को अंग-भंग और अंग-वृद्ध बनावे कि जिससे उस जीव को चलना फिरना आदिक व्यवहार कठिन हो जाते और वह सारा आयु कष्ट से समाप्त करता है और फिर भी तुम उसको न्यायशील, सर्वज्ञ, दयालु, दीनार्त्तिहर आदि नामों से पुकारते रहो ?

प्रश्न—हम यह नहीं जानते कि उसने यह विचित्र रचना क्यों की कि जिसमें कोई पशु कोई मनुष्य कोई दुःखी कोई सुखी दिखाई देता है परन्तु यह अवश्य जानते है कि यह रचना हुई उसी से है।

उत्तर—फिर तुमने यह कैसे जान लिया कि यह रचना उसी से हुई है। हम सत्य कहते हे कि यदि जगत का कोई कर्त्ता मानोगे तो उस पर अनंत आक्षेप उठेंगे। यथार्थ बात यही है कि जगत के कई पदार्थ स्वरूप से अनादि और कई प्रवाह से अनादि है कोई इनका कर्त्ता नहीं।

प्रश्न—यों तो आपने ईश्वर का कर्तृत्व उड़ा ही दिया परंतु इस बात का उत्तर आप क्या देते है कि द्रव्यों के रासायनिक संयोग से स्वभावज सृष्टि तो चाहे स्वतः ही हो गई परंतु इस बात का नियामक कौन है कि जो अंग जहा चाहिये था वह वहां ही लगा है। यह बात मनुष्यों और पशुओं मे भी देखते है कि जिनकी व्यक्तिया आप प्रवाह से अनादि मानते हैं। अनादि तो चाहे मानें. परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी रूप देहों के छोटे बड़े अंग उपांग जो सब सार्थ और सापेक्ष दिखाई देते हैं इनको नियमानुसार स्थापन करनेवाला कौन है ? जैसा कि नेत्रों

को मुख की ओर मस्तक पर लगाया जिससे प्राणी सामने का मार्ग देख सके क्योकि उसके पांव आगे को सामने हैं। हाथ की अँगुलियों में तीन २ जोड लगाने का यह अर्थ और अपेक्षा हमारी समझ में आती है कि मनुष्य को वस्तुओं के पकड़ने छोड़ने का काम पड़ता है सीधी अँगुलिया अथवा पशुकी नाई नख, खुर लगाता तो निर्वाह कठिन होता। फिर हस्ती को हाथ से उठाना पकड़ना कठिन देख के हाथ के समान उसे सूंड दिया। पक्षियो को हाथ के स्थानापन्न चोंच दी। जीवों को जो पूर्वोक्त अंगोपाग की आवश्यकता थी तो उनको वे दिये, वृक्षों को आवश्यकता नहीं थी अतः उन्हें कोई अंग उपाग न दिया। इत्यादि कारणो से जाना जाता है कि यह सार्थ सापेक्ष रचना बिना किसी के किये नहीं हुई किंतु सृष्टि के पूर्व कोई कर्त्ता अवश्य है और वह ज्ञान-वान् क्रियावान् और शक्तिवान् भी अवश्य होना चाहिये। यह बात भी इसी अनुमान से सिद्ध होती है कि वह कर्त्ता किसी प्रकार का देह नहीं रखता किंतु निरवयव सत्ता मात्र और अज, अमर है क्योकि देह के रखने से उसका कोई जनक मानना पड़ेगा फिर जनक का जनक ढूंढते २ दूर तक जाना पड़ेगा।

उत्तर—सार्थ सापेक्ष रचना देख के जो तुम को भ्राति हुई कारण इसका विचार की न्यूनता है जब सम्यक् बुद्धि से विचारोगे तो भ्रांति मिट जावेगी जैसा कि सुनो— स्वभावज व्यक्तिया जिस २ द्रव्य से उत्पन्न होती है उन द्रव्यों का स्वभाव ही वह है कि उनसे वेही व्यक्तियां उत्पन्न हुआ करें और उन व्यक्तियो के जो २ गुण, रूप, आकृति पक्ष, पुच्छ, चंचु, नयन, मुख, नाशिकादि अंगोपाग है सब उन मे अवश्य हुआ करे और उन से विलक्षण कभी न हों फिर इसमें ईश्वर का कर्तृत्व क्या है। यदि कहो यह सब कुछ ईश्वर कृत ही है तो अपने ईश्वर को कहो बीज और स्वभाव के विलक्षण करके कुछ दिखावे। अर्थात् जिस

जंतु के पंख लगा करते है उसके सींग लगादे और जिसके जहां पुच्छ होती है उसके वहां सूंड लटका दे इत्यादि। यदि कहो जो स्वभाव जिस द्रव्य में उसने पूर्व रचा उसको वह किसी के कहने से वा अपनी इच्छा से पलटना नही चाहता क्योंकि पलटा वह करता है जो पहिले किसी काम को भूल के कर बैठा हो। जब ईश्वर ने पहिले ही सूंड के स्थान में सूंड और पूंछ के स्थान मे पूंछ को सोच समझ के लगाया है तो अब उससे विरुद्ध और विलक्षण काम वह क्यो करे। तो सुनो—हम तो स्वभावज रचना को युक्ति से दिखाते और प्रत्यक्ष देखते हैं परंतु तुम दिखावो वा युक्ति से सिद्ध करो कि ईश्वर कहां और कैसे और कब तथा क्यों स्वभावों को पदार्थो मे स्थित करता है।

प्रश्न—अपनि महिमा और प्रताप जगत मे प्रकट करने को ईश्वर ने द्रव्यों मे भिन्न २ स्वभाव स्थापित किये हों तो क्या शंका आती है?

उत्तर—यदि वह अपनी महिमा प्रकट न करता तो उसका क्या विगड़ जाता। यदि कहो, लोग उसको ईश्वर न जानते और उस की भक्ति मे प्रवृत्त न होते और फिर लोगो का नाश हो जाता तो यह एक हँसी की वात है कि वह अपने को ईश्वर कहलाने की इच्छा रखता और फिर अपनी भक्ति कराने का भूखा है और जो उस की भक्ति न करे उस का वह नाश कर देता है! धन्य ऐसा ईश्वर और धन्य उस का ऐसा ऐश्वर्य्य!!

मनुष्य के हाथ मे तीन२ जोड़ की अंगुलियां और नेत्रों को माथे पर मुख की ओर देख के जो तुमने उनको सार्थ सापेक्ष माना और जीवो को अंगोपांग का देना और निराकाक्ष वृक्षों को न देना देखके तुम ईश्वर को स्थापक और नियामक मानते हो, यह भी जीवोंके वीज का सनातन धर्म है कि यदि वीच में कोई अन्य विक्षेप न पड़ जावे तो उनसे वही कुछ वना करे जो सदासे उनमें देखते हो। यदि अंगुलियां

के जोड़ केवल पदार्थों के छोड़ने पकड़ने के निमित्त ही लगाये होते तो कभी प्राणी किसी के चपेट न मार सकता और न कभी अपनी अँगुली से अपनी आंख को फोड़ सकता क्योंकि ये व्यवहार ईश्वर ने अँगुलियों से लेने नहीं ठहराये थे। यदि कहो कोई अँग ऐसे है जिनसे अनेक क्रिया होती और कोई ऐसे है जिनमें कर्त्ता ने एक ही क्रिया ठहराई है जैसा कि पाचो ज्ञानेंद्रिय है और कई ऐसे है जिनसे अनेक क्रिया होती हैं वे कर्मेन्द्रिय है। जैसा कि हाथ कर्मेंद्रिय है उससे अनेक कर्म हो सकते हैं और चक्षु ज्ञानेंद्रिय है उससे रूप ग्रहण के सिवाय और कर्म नहीं हो सकता। इस हेतु से प्रकट है कि ईश्वर ने ही जान बूझ के उन्हे वैसा ठहराया। तो सुनो—यदि प्रथम रचना में ईश्वर ने किसी इंद्रिय को एक क्रिया साधक और किसी को अनेक क्रिया साधक बनाया तो जाना जाता है कि ईश्वर जिसको जैसा चाहे वैसा बना सकता है। फिर क्या कारण कि रूप, शब्द, स्पर्श, गंध, रस के ग्रहण की शक्ति भी उसने हाथ मे ही न भर दी क्योंकि चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, रसना के भिन्न २ रचने में उसको अधिक झमेला करना पड़ा।

फिर जो तुम कहते हो कि ईश्वर शक्तिमान है इसमें हमारा एक प्रश्न है। अर्थात् यदि शक्तिमान है तो मेरी बुद्धि को अनीश्वरवाद से फेर के ईश्वरवाद में क्यों नहीं ले आता। यदि कहो तुम्हारे अनीश्वर वादी होने मे उसकी क्या हानि है तो इससे अधिक हानि उसकी क्या होगी कि मैं सहस्रोजन को अनोश्वरवादी बना दूँगा। यदि कहो वह हमारे कहने से कुछ नहीं करता सब कुछ अपनी इच्छा से करता है तो जाना गया कि उसकी यही इच्छा है कि मैं अनीश्वरवादी बना रहूं और कई एक अन्य जनों को भी इसी पथ में चलाऊँ। यदि कहो कि उसने तुम्हें ईश्वरवादी बनने के निमित्त बुद्धि दी थी परन्तु तुमने

आप उसे अनीश्वरवाद मे झुकाया हुआ है तो तुम्हारे मत पर कई दोष आयेंगे। एक यह कि मैं ईश्वर से अधिक शक्तिमान् ठहर जाऊँगा कि जो उसकी इच्छा से विरुद्ध चल रहा हूं। दूसरा यह कि यदि ईश्वर की इच्छा से विरुद्ध भी कुछ कार्य्य हो जाता है। तो इस जगत रूप कार्य्य उत्पत्ति में ईश्वरोय इच्छा को वलवती क्यों समझते हो ? क्योंकि जैसे मैं ईश्वरीय इच्छा से विरुद्ध अपनी वुद्धि को अनीश्वरवाद में चला रहा हूं वैसे जगत भी उसकी इच्छा के विरुद्ध ही वन रहा होगा। यदि कहो उसे मेरी वुद्धि फेर देने की शक्ति तो है परन्तु फेरना नहीं चाहता तो मैं पूछता हूं क्यों फेरना नहीं चाहता क्या फेर नहीं सकता अथवा मुझे इसीलिये उत्पन्न किया है कि मैं अनीश्वरवादी वनूं। यदि फेर नहीं सकता तो उसे शक्तिमान क्यों समझते हो ? और यदि अनीश्वरवाद के लिये मुझे वनाया है और फिर इस अपराध के पलटे में मुझे कुछ दण्ड देवे तो मेरा अपराध क्या ? जेसा मुझ से कराया वैसा मैंने किया। ऐसे निरपराधी को दण्ड देने में उसकी दया और न्याय कहां रहेगा ?

प्रश्न—यह सब तो ठीक है कि सब कुछ वीज के स्वभावानुसार वनता है परंतु सार्थ सापेक्ष रचना देख के यह संदेह मेरे मन से सांगोपांग दूर नहीं हुआ कि इस रचना का कोई कर्त्ता न हो। जैसा कि देखो, भूख प्यास रूप पीड़ा की परिशाति के निमित्त नव छिद्रों मे से मुख नाम छिद्र को जो वाहर के पदार्थों को मुख से पेट के भीतर पहुंचाता, दिया है। यह काम जड़ वीर्य्य का नहीं किंतु किसी ज्ञानवान ने सोच समझ के नियत किया ज्ञात होता है।

उत्तर—भूख प्यास का लगाना अग्नि और वायु का धर्म है कि जो देह के भीतर वर्त्तमान हैं क्योंकि वे दोनों दाहक और शोपक हैं। मुखादि नव छिद्रों का वन जाना वीर्य्य का स्वभाव है क्योंकि वीर्य्य से

वे हुआ ही करते है। उन छिद्रों से विचार पूर्वक काम का लेना भी उस वीर्य्य जन्य चेतन शक्ति का धर्म है क्योंकि जहां वह होती है खान, पान के पदार्थों को अवश्य मुख में ही डाला करती है। इस स्वतः सिद्ध व्यवहार को यदि ईश्वर कृत ठहराते हो तो इस दृष्टात का उत्तर क्या देते हो कि कीकरी के बीज का स्वभाव ही है कि उसका वृक्ष बन के तीक्ष्ण मुख के कांटे लगें। यदि उनको तीक्ष्ण देख के किसी ने किसी अन्य के देह में गाड़ के उसे दु खी किया वा किसी ने अपना देह छेद लिया अथवा काटे से कांटा निकाल लिया वा पत्रो को टांक के पत्तल बना ली तो क्या तुम यह कहोगे कि कीकरी के कांटे ईश्वर ने इन्हीं कामों के लिये बनाये थे ? नहीं-नहीं ! यह समझ सच्ची नहीं, किंतु यही समझना सच्चा है कि कीकरी के बीज का स्वभाव ही ऐसा है कि उस को तीक्ष्ण काटें लगें और उनसे जो चाहो सो काम लो।

प्रश्न—चुभोने और देह छेदने का काम तो हम अन्य तीक्ष्ण पदार्थों से भी ले सकते है इस हेतु से जाना गया कि ईश्वर ने उसे पूर्वोक्त कार्यों के निमित्त नहीं रचा परन्तु खान-पान रूप क्रिया जो अन्य किसी छिद्र से सिद्ध नहीं होती इस कारण मुख की असाधारणता सिद्ध होती और उसका कोई स्थापक ठहराना पड़ता है।

उत्तर—जैसे यह स्वभाव पदार्थों का अनादि और असाधारण है कि जलाने का काम अग्नि और बुझाने का काम जल, उड़ाने का वायु और सुंघाने का पृथ्वी के सिवाय और कोई न करे वैसे देखने का काम चक्षु और सुनने का काम स्रोत्र और खान-पान का काम मुख के सिवाय और किसी अंग से न हो सकना भी अनादि और असाधारण है। इसमे ईश्वर का कर्त्तृत्व कुछ नहीं। यदि यह वीज का स्वभाव नहीं ईश्वर ही इसका नियामक है तो ईश्वर इन व्यवहारों को कभी अन्यथा सिद्ध क्यो नहीं कर देता ?

पूर्वाचार्यों ने ईश्वर नाम एक कल्पित शब्द मंदबुद्धि जनों के कान मे इस कारण से डाला था कि उसके भय और प्रेम से लोग शुभाचार में प्रवृत्त और अशुभाचार से निवृत्त होकर परस्पर सुख लिया करें। परन्तु अब इस शब्द ने संसार मे बड़ा भारी अनर्थ कर छोड़ा है जैसा कि देखो कई लोग तो उसे संसार का हर्त्ता-कर्त्ता मान के उसकी ढूंढ़ में अपना अलभ्य आयु समाप्त कर लेते हैं। और कई उसकी भक्ति में लीन होके आवश्यक सुखों और भोगो को तज के अपने देह को धूलि में मिला देते है। कईयो ने माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि को त्याग के वनवास ले लिया। और अनेक जन गृहस्थ मे बैठे ही वनवास के समान है। कोई अन्न जल को तजके दुग्धाधारी और पवनाहारी बने बैठे और कोई झूलों पर लटकते पंचाग्नि तपते और जल धारा का कष्ट सहारते और कई एक जन यत, व्रत, तप, हठ से मन को मारते हैं। इसमें बड़ा भारी अनर्थ यह हुआ कि एक तो संसार का उत्पादन थोड़ा हो गया और दूसरे मनुष्य जन्म वृथा गया कि जो ज्ञान और विद्या के बल से आप सुखी और अन्य जनो को सुख पहुँचा सकता था। ये जितने भेख, पंथ, जगत मे प्रसिद्ध हो रहे है सब उसी शब्द की आड़ में लोगों को लूट २ खाते हैं। क्या अच्छा होता कि यह अनर्थ उत्पादक शब्द पहिले ही से लोगों के कान में न डाला जाता कि जिसने जगत का सत्यानाश किया और अब मनों में ऐसा धँस गया है कि जब कोई निकालना चाहे लोग उसके परम शत्रु बन जाते है। योग्य तो यह था कि आदि से जगत को विद्याध्ययन, ज्ञानोपार्जन, आजीविका-सिद्धि तथा परस्पर करुणा, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा की शिक्षा होती और यह बन्ध्यापुत्र लोगों का रुधिर न पीता।

प्रश्न—क्या ईश्वर के नाम जपने और उसकी उपासना में त्याग विराग ग्रहण करने मे कुछ फल नहीं होता ?

उत्तर—दो घड़ी घर का काम तजने और आवश्यक भोगों से अभागी रहने के सिवाय और कोई फल नहीं होता।

प्रश्न—क्या नाम जपने से पाप की निवृत्ति नहीं होती?

उत्तर—जैसे पूर्वाचार्य्य नाम और भक्ति के प्रताप से पाप की निवृत्ति मानते थे वैसे तो हम भी मानते है परन्तु जैसे अब लोग मान रहे हैं वैसे कभी पाप की निवृत्ति नहीं होती उलटी वृद्धि होती है। पूर्वाचार्यों ने इस इच्छा से नाम जपना ठहराया था कि जो लोग नाम जपेंगे घड़ी दो घड़ी उनका मन उधर लग के पाप कर्म का अवकाश नहीं पावेगा अथवा नाम जपने वाले को संसारी लोग भक्त कहने लग जायेंगे फिर इस बड़ाई के प्रताप से वह पाप से लज्जा करने लग जावेगा क्योंकि जो कोई बड़ाई का लालची होता है उससे छोटाई के काम कभी नहीं हो सकते। तुम सत्य जानो कि अंधकार की निवृत्ति दीपक का नाम जपने वा ध्यान करने से नहीं होती किन्तु प्रकाश के प्रकट होने से होती है। वैसे ही ज्ञान के प्रकाश से पाप कर्म में जीव को घृणा हो जाती है और यही उसकी निवृत्ति है परन्तु नाम मात्र के जपने से पाप मन से दूर नहीं होता उलटा भक्ति के अभिमान से मन में ईर्षा, बैर परनिंदादि पाप भर जाते है।

प्रश्न—ईश्वर के नाम जपने का महात्म्य तो हम सदा से सुनते आये हैं बड़ा आश्चर्य है कि आप इसको भी अच्छा नहीं समझते!

उत्तर—पहले अपने ईश्वर का होना तो तुम युक्ति से सिद्ध कर लो फिर हम भी उसका नाम जपना अच्छा कहने लग जायेंगे।

प्रश्न—तब तो आप किसी अन्य यन्त्र, मंत्र के जप का फल भी सत्य नहीं मानते होंगे जिनसे मैंने कई बार मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदिक व्यवहार सिद्ध होते सुने है। और इतनी बात तो मैंने अपनी आखों से भी देखी है कि मंत्रों के प्रताप से भूत, प्रेत का

आवेश दूर हो गया और सर्प, वृश्चिक का डसा हुआ पुरुष मंत्र के प्रताप से सुखी हो गया।

उत्तर—सुनी बातें सारी ही सत्य नहीं होतीं क्योंकि सुनने में बहुत-सी बातें ऐसी भी आती हैं कि जो अनुभव और संसारी नियम से विरुद्ध हों जैसा कि पिछले समय में लोग वृक्षों, पर्वतों तथा पक्षी आदि को का बातचीत करना सुनाया करते हैं। सच वही है कि जो सम्यक् बुद्धि के अनुकूल हो। यदि मारणादि व्यवहार मंत्र यंत्र द्वारा सिद्ध हो जाते हों तो जीवनादि व्यवहार भी किसी मंत्र से अवश्य सिद्ध होने चाहिये। सो तुमने कभी नहीं सुना होगा कि अमुक पुरुष वा पशु प्रथम मर गया था परन्तु फिर मंत्र द्वारा उसमे प्राण डाला गया। यदि ऐसा होता तो जगत मे कोई जीव मृत न होता और निज करके मंत्रवेत्ता के पिता, पितामह, प्रपितामह तो अवश्य जगत मे सदा स्थिर दिखाई देते।

जिन आखो से तुमने भूत प्रेत का आवेश मन्त्र द्वारा दूर होता देखा है मैं उन नेत्रों को धोखा खा गये कहूँगा। क्योंकि प्रथम तो भूत-प्रेत का होना ही युक्ति सिद्ध नहीं फिर उसका आवेश और मंत्र से उसकी निवृत्ति कैसे मान ली जावे? भूत प्रेत यदि किसी मृत जीव का नाम है तो उसको अग्नि से दग्ध कर दिया वा पृथ्वी में गाड़ दिया फिर भूत प्रेत क्या वस्तु बन गया। यह बात जीव के निर्णय मे स्पष्ट सिद्ध होगी कि जीव देह में से निकल के कहीं जाता है वा नहीं। हमने कई बार देखा है कि जिस को लोग भूतावेश मानते थे अंत को वह रोगी का छल अथवा कोई रोग विशेष निकला।

सर्प वृश्चिक के दष्ट पुरुषो को जो मंत्र द्वारा तुम सुखी हो जाते देखा इस मे भी तुमने धोखा खाया क्योंकि यह बात कुछ और है लोग इस को कुछ और समझ बैठते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि सर्प की

जातिया अनेक है कई तो उन में तुरन्त मार देने वाली हैं और कई कुछ दिन दुःखी करके मारती है जब दष्ट पुरुष का रुधिर मांस गल जावे। कइयों का विष प्रहर दो प्रहर तथा एक दिन दो दिन रह के स्वयं उतर जाता है और कइयों का कुछ अधिक काल रह के उतरता है। कई ऐसी जातियां हैं कि जिनका नाम और रूप तो सर्प का है परंतु विप उन में कुछ भी नहीं होता। ये सब जातियां इन के वर्णो और चिन्हो और चित्रो से पहिचानी जाती हैं। अब सोचना चाहिये कि जो सर्पादि के डसने से तुरंत मर गया उसको तो कोई मंत्री के पास लाता हो नही शेष को जब लाये तो मंत्री सर्प के चिन्ह पूछता है। जब किसी ने बताया कि वह सर्प श्याम वा श्वेत तथा रक्त, हरित वर्ण का था और चिन्ह चक्र ऐसे थे तो वह उस की जाति समझ के मोरछड हाथ में पकड़ बैठता और होंठ हिलाने लगता है। विष तो अपने नियत समय पर आप ही उतर जाता है लोग कहते है उसके मंत्र ने उतारा। यदि किसी अज्ञात जाति का झाड़ा वह करता है तो वहां दो फल होते है—एक यह कि झाड़ा करते २ मर गया तो दष्ट पुरुप का भाग्य मंद कह दिया। जी गया तो उसके मंत्र की शक्ति लोगो ने मान ली। हम तो यह जानते है कि यदि किसी मंत्र, यंत्र से सर्पादि के डंक का कष्ट वा कोई ज्वर, शूल आदिक विकार दूर हो जाता हो तो वह मंत्र संखिया, धतूरा, बिजयादि के विषो पर पढ़ा हुआ भी अवश्य फल करे और भूख प्यास आदिक कष्ट भी मंत्री लोग अपने मंत्र-यंत्रों से ही निवारण कर लिया करें जो सदा दुःख देते हैं।

तुमने पूर्व कहा था कि देह में सार्थ सापेक्ष अंग ढंग देख के ईश्वर का कर्त्तृत्व सिद्ध होता है उसके उत्तर में हम यही कहते है कि मनुष्य का द्विपाद, और पशु का चतुष्पाद, तथा पक्षी का सपक्ष होना, और बानर का चाचल्य, और भेड़ी का दैन्य, इक्षु का माधुर्य, मिरची

का तैत्त्य इत्यादि सब व्यवहार बीज के स्वाभाविक और सनातन धर्म हैं किसी के किये हुए नहीं। इन से वैसी ही उत्पत्ति होती है जैसी इन की हुई है। यदि इनका कोई ईश्वर कर्त्ता मानोगे तो उस कर्त्ता पर कई प्रकार के संदेह उठेंगे जैसा कि :—

ईश्वर क्या है ? कहा है ? कैसा है ? उसमें जगत रचने की इच्छा क्यों उठी ? वह पूरण है वा अपूरण ? पूरण है तो कामना क्यों ? अपूरण है तो व्यापी कैसे है ? जगत को कैसे रचा ? क्यों रचा ? कहां रचा ? कब रचा ? काहे में से रचा ? विचित्र क्यों रचा ? एक ही भांति का रच दिया होता इत्यादि।

यदि कहो विचित्र रचना से लोकोपकार होता है जैसे कि पशुओं से मनुष्यों पर उपकार और मनुष्यों से पशुओं पर उपकार होता है। तो सुनो, जिन पशु और कीटो से उपकार नहीं उलटा अपकार होता है उनके रचने से क्या सिद्ध हुआ जैसा कि सिंह, व्याघ्र, वृश्चिक, सर्पादि से होता है। फिर हम यह पूछते हैं कि उपकार के करने में ईश्वर का क्या बना, न करता तो क्या हानि होती ? यदि कहो वह दयालु है सो दयालु से उपकार ही होता है तो हमारा वही प्रश्न फिर रहा कि सिंह सर्पादि की रचना दया से विरुद्ध काम करती क्यो दिखाई देती है ?

संसार के समस्त पदार्थों को यदि फिर भी सार्थ सापेक्ष और एक दूसरे के उपयोगी उपकारी मानते हो तो बताओ जिसके हाथ में छै अंगुली और पृष्टि में कोब्ज वा भुजा सूकी हुई वा टेढ़ी तिरछी अथवा चरण खंज वा नेत्र बेडाल हैं उनसे स्रष्टा वा मनुष्य का क्या उपयोग वा उपकार सिद्ध हुआ ? यदि इस तारतम्य को ईश्वर रचित समझो तो फिर हम पूछते हैं कि ईश्वर ने ऐसा क्यो रचा ? यदि कहो जीव के पूर्व कर्म जैसे होते हैं वैसा सुरूप, कुरूप देह उसको ईश्वर देता है इस

में उसको दोष नहीं। तो इस देह से पूर्व किसी अन्य देह में जीव का होना ही प्रथम युक्ति सिद्ध नहीं फिर कर्म कैसे सिद्ध होंगे (यह बात आगे कथन होगी)। पशु, पक्षी तथा कीट, पतंग और वृक्ष, लता, पुष्प, पत्र, घास आदिक के विचित्र वर्ण और आकृति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसो ईश्वर ने नहीं बनाये किंतु जिस बीज का सनातन से जो स्वभाव होता है उससे वही प्रकट होता है। पक्षियो के पक्ष विविध प्रकार के तथा वृक्षों के पुष्प, पत्र कोई वर्तुल कोई लंब कोई त्रिकोण कोई चतुष्कोण तथा कोई अधिक कोण के होते है। कहो उनकी सार्थता सापेक्षता पक्षी और वृक्षों को क्या है ?

तुमने जो जगत् को एक दूसरे का उपकारी उपयोगी समझ के ईश्वर को उसका स्थापक समझा यह बात सत्य नहीं क्योकि बहुत ऐसे व्यवहार है जो प्रकट मे एक दूसरे के उपयोगी दिखाई देते है परन्तु होते स्वतः हैं। जैसा कि किसी ने उजाड़ में एक रेत का ढेर देखा फिर उसमें कहीं खाई कहीं ऊचाई दृष्टि पडी कि जिस पर कहीं घास कहीं पात और कहीं आक, ढाक, बॅबूल के अंकुर निकल रहे थे। बताओ, वह सब कुछ मृत्तिका, जल, पवन के बेग से स्वतः ही बन गया है वा किसी का बनाया हुआ है क्योंकि उस मे एक दूसरे का उपयोग भी दिखाई देता है जैसा कि पवन न होता तो रेत को उड़ा के इकट्ठा कौन करता और स्थानातर से उड़ा के वहा बीजों को कौन लाता और जल मृत्तिका वहा न होती तो बीजाकुर कैसे होता इत्यादि। तथा कुछ काल के पीछे हम उस ढेर को टीला बना देखते और वहा से जल स्रवने लगता और उसके आश्रय नाना वृक्षों की सघन छाया दिखाई देती है कि जहा सहस्त्रो मनुष्य सुख पाते और फल खाते देखे जाते है। फिर कभी छाया की बाट में परस्पर विरोध होने लगता अथवा उस टीले मे से निकल के किसी को साप काट जाता है। कभी वहा से कोई चोर किसी

का वर्तन वा वस्त्र ले भागता और राज द्वार में पकड़ा जाता है कि जहा कारागार के खूटे से बांधा जाता है। अब हम पूछते है कि क्या वह खूटा ईश्वर की इच्छा ने इसी हेतु से वहां गड़वाया है कि कोई चोर आवेगा। क्या वह चोर इसी हेतु से जगत मे जन्माया गया था कि चोरी करे। जिसकी चोरी की क्या वह इसी हेतु से माता के गर्भ में आया कि स्याना होने पर उस छाया में सोवे। क्या वह छायावान् वृक्ष इसी लिये वहां उत्पन्न हुए थे कि वहा से किसी की चोरी हो जावे इत्यादि। हम सच कहते है कि यद्यपि ये सब व्यवहार एक दूसरे के उपयोगी दिखाई देते है तथापि स्वतः सिद्ध है किसी के रचे हुए नहीं। सच तो यों है कि हेतु के जाने विना अज्ञानी जन हेत्वाभास पर निश्चय कर लेते है। उस रेत के ढेर, खाई, ऊँचाई तथा जलश्राव और वृक्षादि की उत्पत्ति का हेतु तो वहां पवन और मृत्तिका का संयोग है; परंतु ईश्वर की इच्छा को उसका हेतु लोगो ने मान लिया कि जो हेत्वा-भास रूप है। यदि ईश्वर ने यह सारा व्यवहार इसी कार्य्य के निमित्त वहां रचा हो तो उसकी इच्छा के विरुद्ध व्यवहार वहा कोई न होना चाहिये जैसा कि अनेक मनुष्य वहा ऐसे भी आये कि जिन्होंने न फल खाये न चोरी की किंतु दो घड़ी छाया में विश्राम करके चले गये।

ईश्वर का सद्भाव मानने मे लोगो के पास इससे अधिक कोई युक्ति नहीं कि इस जगत का कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये सो हमारी समझ मे यह युक्ति उनकी बहुत निर्वल है क्योकि जगत की उत्पत्ति मे आज लो जितनी कल्पना विद्वानो ने की है सब युक्ति से विरुद्ध है। यद्यपि कल्पना तो कई है परंतु तीन चार कल्पना हम यहा दिखाते है। प्रथम तो हम यह कहते है कि झूठी बात को सिद्ध करने के लिये चाहे कितनी ही युक्तियां बनाई जायं परंतु पूरी नहीं उतरती और उनका पूरी न उतरना ही इस बात को सिद्ध करता है कि उन का वह स्थल

झूठा है जिस पर कल्पना उठाते हैं। यदि सच्चा होता तो कोई न कोई कल्पना भी अवश्य सच्ची उतरती।

ईश्वर को सिद्ध करने के लिये जगत की उत्पत्ति के विषय में प्रथम कल्पना यह है कि आदि में केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही था और कुछ नहीं था। उसने चाहा जगत होजावे, और हो गया। इसमें हम पूछते है कि उपादान के बिना कोई कार्य्य नहीं होता सो इस जगत रूप कार्य्य लिये ईश्वर ने उपादान क्या लिया ? यदि सर्व शक्तिमान को उपादान की अपेक्षा नहीं तो जब इस समय वह शक्तिमान जगत का कोई कार्य्य उपादान के बिना नहीं करता तो प्रथम रचना उपादान के बिना हुई हम कैसे मान लें जैसा कि हम कभी नहीं देखते कि वृष्टि बादल के बिना और पुत्र माता पिता के बिना हुआ हो। यदि कहो प्रथम जब कुछ नहीं था तब तो सब कुछ उपादान के बिना रचना आवश्यक था किन्तु अब कोई आवश्यकता नहीं कि जब सब के बीज और उपादान विद्यमान है। तो हम पूछते है कि यह इतना बड़ा बखेड़ा उसने क्यों बढ़ाया जिसमें पहिले उस को बीज रचने पड़े और फिर उन बीजो में ऐसा एक स्वभाव रचना पड़ा कि जिससे वृक्ष बन जाया करें। फिर उस स्वभाव को जल, वायु, पृथ्वी, शीत, उष्ण, देश, कालादि का सापेक्ष बनाया। क्या अच्छा होता कि वह कुछ न बनाता अथवा जैसे पहिले उपादान के बिना सब कुछ बनाया था वैसे ही अब बनाता रहता।

प्रश्न—इस बखेड़े से उसको क्या हानि है ?

उत्तर—इससे अधिक हानि और क्या है कि उस पूर्ण-काम में जगत रचने की कामना दिखाई देती और उस पर कई एक संदेह खड़े होते हैं।

प्रश्न—यदि ऐसा मान लें कि लूता तंतु के नाईं ईश्वर आप ही जगत का उपदान और आप ही निमित्त कारण है तो उस पर क्या दोष आता है ?

उत्तर—प्रथम तो हम यह कहेंगे कि लूता तन्तु भी विना किसी इच्छा के जाले को नहीं तानता और फिर जो तुम ईश्वर को जगत का उपदान मानते हो इस में हम यह पूछेंगे कि उपदान के गुण कार्य्य में अवश्य होते है जैसा कि मृत्तिका का रूप और काठिन्य घट में विद्यमान है। ईश्वर निरवयव सत्य और अपरिणामी और आनन्दस्वरूप है जगत में सावयवता असत्यता तथा क्षण-क्षण परिणामी और दुःखी होना कहा से आ-गया। जो तुमने उसको निमित्त कारण जगत का माना पहिले उसके लिये कोई उपदान कारण तो ठहरालो क्योंकि चाहे उपादान कारण कर्त्ता का अपना स्वरूप हो चाहे उससे भिन्न हो परंतु विना उपादान कारण के वह निमित्त कारण नहीं वन सकता। क्योंकि जहां उपादान कारण न हो वहां कार्य्य की उत्पत्ति नहीं होती। जहां कार्य्य ही कुछ नहीं वहां निमित्त कारण किस का ठहराओगे।

उपादान के विना केवल ईश्वर की इच्छा मात्र से जगत की उत्पत्ति मानने वाले को फिर हम यह भी पूछते हैं कि ईश्वर ने जगत को किसी क्रम से रचा है जैसा कि पहिले आकाश फिर वायु फिर अग्नि जल और पृथ्वी को रचा और फिर चौरासी लक्ष योनि के देह और आत्माओं को रचा तथा समस्त वनस्पति और पाषाणादि को रचा है अथवा इच्छा करते ही विना क्रम सव कुछ एक ही वार हो गया है ?

यदि कहो क्रम से, तो जव ईश्वर इस क्रम का अर्थी है कि वायु तव हो जव नभ उसका उपादान कारण वनले तो इस क्रम का अर्थी भी उसको अवश्य मानो कि आकाश तव वना होगा कि जव कोई आकाश का उपादान उसके पास विद्यमान होगा। यदि यहां आके फिर ईश्वर को ही आकाश का उपादान ठहराओ क्योंकि ईश्वर भी निरवयव और उसका कार्य्य आकाश भी निरवयव है तो ईश्वर की नित्यता उसमें सिद्ध करो। यदि कहो आकाश नित्य भी है तो ईश्वर का कार्य्य

उसको क्यों मानते हो क्योंकि नित्य वह होता है जो आदि और अंत न रखता हो और कार्य्य वह होता है जो आदि और अंतवान हो।

यदि कहो संसार की रचना में क्रम कोई नहीं किन्तु ईश्वर के इच्छा करते ही सबकुछ हो गया तो इसमें कई एक संशय खड़े होते है सो सुनो :—

पहिले ईश्वर चुपचाप क्यों बैठा रहा और उस दिन जगत रचने की इच्छा उस में क्यों हुई ? फिर हम यह पूछते हैं कि जब पहिले पहल जगत हुआ तो क्या सारी पृथ्वी पर ही मनुष्य हो गये थे वा किसी मुख्य-स्थान पृथ्वी के एक भाग में हुए थे। यदि सारी पृथ्वी पर ही मनुष्य हो गये थे तो सहस्रों कोस के बन, पर्वत और जंगल आज लों निर्जन क्यों दिखाई देते है और चतुष्पाद जीवो को कहा स्थान मिला होगा ? यदि किसी थोड़े से मुख्य प्रदेश में हुए तो ईश्वर ने उस स्थान को मुख्यता क्यों दी क्या उससे अन्य स्थान में वह मनुष्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता था ? और जो स्थान उसने मनुष्यों से शून्य रखे वे काहे के लिये रखे थे ? जिस काम के लिये रखे थे वह काम मनुष्य रचना के साथ ही क्यों नहीं कर दिया क्योंकि उस काम को मनुष्य रचना से पीछे हुआ मानने में तुम्हारा वह कथन झूठा हो जावेगा कि ईश्वर ने रचना के समय क्रम कोई नहीं रखा सब कुछ एक ही बार कर दिया है। यदि वह सब कुछ एक ही बार कर चुका है तो हम नित्य-नित्य उत्तरोत्तर उत्पत्ति क्यों देखते है जैसा कि पितामह और पौत्र को उत्पत्ति एकही दिन नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न काल मे हुई है।

यदि कहो प्रथम रचना मे ईश्वर ने एक बार चौरासी लक्ष योनि रच दी थी अब उनसे वैसे ही योनिया बनती चली आती है तो हम पूछते है चौरासी लक्ष योनि मे जो मनुष्य रचे उस समय उनका प्रथम वयस, बाल था वा तरुण अथवा वृद्ध था। यदि कहो बाल था तो

भोजन, छादन, स्थानादि रचने की असमर्थता से उस समयका योग-क्षेम कैसे चला ? यदि कहो ईश्वर ने अपनी कृपा से उनका भरण, पोषण किया तो हम पूछते है इदानीतम् वैसे मनुष्यों पर उसका क्या कोप है कि उसी कृपा से इनका भरण पोषण नहीं करता।

यदि तरुण वयस था तो यह दोष ईश्वर पर आता है कि बाल्यावस्था का योग क्षेम कठिन देख के ईश्वर ने बाधित हो के उनको तरुण बनाया।

यदि वृद्धावस्था थी तो उनमे वीर्य्याभाव होने से आगे को संसार रचना कैसे चली ? यदि कहो ईश्वर चाहे तो महा वृद्धों के भी संतान उत्पन्न कर सकता है तो इसमे यह संदेह उठता है कि सब को वृद्ध रचने मे उसने क्या सुख समझा इत्यादि।

दूसरी कल्पना जगत की उत्पत्ति में यह है कि ईश्वर और जीव तथा जीवों के कर्म और परमाणु नित्य है। ईश्वर ने चिकीर्षा बल से परमाणुओ को स्थूल किया फिर उनसे मनुष्य पशु आदिक देह बनाये और फिर उनसे जीवों का संबन्ध कर दिया और नाना जगत प्रगट हो गया।

इसमें प्रथम तो हम सारे वेही दंश देते है कि जो बिना उपादान के जगत की उत्पत्ति माननें वाले के मत मे पीछे दिये थे और फिर नवीन दंश यह देते है कि प्रथम रचना मे किसी को मनुष्य किसी को पशु का देह देने में ईश्वर पर वैषम्य और नैर्घृण्य दोष आवेगा।

यदि कहो पशु अपने पशुत्व से कुछ दुःखी नहीं मनुष्य के तुल्यही है यदि दुःखी हो तो अपना देह छोड़ देवे। फिर वह खाता, पीता सोता, जागता और विषयानन्द भोगता भी मनुष्यो के समान ही है वह मनुष्य से न्यून किस बात मे है तो सुनो—एक तो वह चाहे कैसा ही शीतोष्ण-बाधित और भाराक्रांत हो मनुष्य के नाईं दु.ख निवारण और सुखोपार्जन मे यत्न नहीं कर सकता।

दूसरा जिस को तुम मोक्ष सुख मानते हो उसके साधनों में अशक्त है। फिर इससे अधिक और न्यूनता क्या होती है।

यदि कहो मनुष्य के पूर्व कर्म बलवान हैं तो आगे हम यह बात खण्डन करेंगे कि इस देह से पूर्व जीव किसी अन्य देह में स्थित था और वहा का कर्म फल यहां भोगता है।

तीसरी कल्पना जगत की उत्पत्ति के विषय में यह है कि जगत कुछ वस्तु ही नहीं केवल सत् चित् आनंद स्वरूप ब्रह्म ही है उसीको अज्ञान से जगत मान रखा है। जैसा कि शुक्ति को अज्ञान से रजत मान लिया जाता है।

इस में हम पूछते हैं कि शुक्ति में रजत की कल्पना शुक्ति और रजत से भिन्न किसी तृतीय पुरुष को हुआ करती है तुम्हारे मत में जो ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ ही नहीं फिर ब्रह्म में जगत का भ्रम किस को हुआ। यदि कहो ब्रह्म को भ्रम हुआ तो सावधान दशा में अपने स्वरूप में किसी को अन्य का भ्रम कभी नहीं होता जैसा कि देवदत्त को कभी यह संदेह नहीं होता कि मैं यज्ञदत्त वा विष्णुदत्त हूं। यदि कहो ब्रह्म को सावधान दशा में भ्रम नहीं हुआ किंतु माया में फँस के हुआ तो इसमें हम यह पूछेंगे कि माया नाम तो अज्ञान का है फिर ब्रह्म को अज्ञान में फँसने से उसका सत् चित्त आनन्द स्वरूप लक्षण कैसे मानते हो? जैसा कि देखो अज्ञान नाम ज्ञान के अभाव का है और ज्ञान को तुम ब्रह्म का स्वरूप मानते हो जब ब्रह्म मे अज्ञान हुआ तो उसके स्वरूप का नाश हुआ। सो बस, जब ब्रह्म का स्वरूप नाश हुआ तो वह सत् कैसे हुआ। क्योंकि सत् वह होता है कि जिसका कभी नाश न हो।

फिर जो तुमने ब्रह्म में अज्ञान माना तो अब उसका चित् लक्षण दूर हुआ क्योंकि चित् नाम ज्ञान का था सो नष्ट हो गया।

जहां अज्ञान होता है वहां निरंतर दुःख रहता है जहां दुःख रहे वहा तुम आनन्द कैसे मानते हो ? इस रीति से तुम्हारे ब्रह्म की तो स्वरूप हानि हो गई फिर उसके आश्रय रहना क्या आवश्यक है। श्रेष्ट यही है कि इस जगत को पंचभूत रूप जान के स्वरूप से अनादि और जीव जान के प्रवाह से अनादि मानो और हमारा मत अंगीकार करो।

प्रश्न—आप का मत नास्तिक है हम आस्तिक हो कर कैसे अंगीकार करें ?

उत्तर—नास्तिक वह होता है कि जो अस्ति को नास्ति कहे। हम तो अस्तिरूप प्रत्यक्ष पड़े प्रपंच को अस्तिरूप समझते है और तुम इस अस्ति को नास्ति ठहरा के किसी परोक्ष पदार्थ ईश्वर को अस्तिरूप मानते हो जो न प्रत्यक्ष होता और न किसी युक्ति से सिद्ध होता है। सो अब विचारो कि नास्तिक तुम हो वा हम। कभी तुम कहते हो कि यह प्रत्यक्ष पड़ा प्रपंच तीन काल हुआ ही नहीं और जो वंध्यापुत्रवत् अन-हुआ ब्रह्म सो सत्य है। धन्य तुम्हारी आस्तिकता !

प्रश्न—मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है ईश्वर की माया को कैसे समझे कि वह अज्ञान रूप है वा ज्ञान रूप ?

उत्तर—भला यह तो बताओ कि माया ईश्वर (ब्रह्म) से भिन्न है वा अभिन्न ? यदि कहो भिन्न है तो आप ही अज्ञानरूप ठहरी क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का रूप है और जो ज्ञान से भिन्न है वह अज्ञान है। दूसरा इसमें यह भी आशंका होती है कि यदि ब्रह्म से भिन्न भी कोई पदार्थ विद्यमान है तो ब्रह्म को तुम अद्वितीय कैसे मानते हो।

यदि माया को ब्रह्म से अभिन्न मानते हो तो वह उसका स्वरूप ठहरी फिर उसने ब्रह्म मे जगत को कैसे दिखा दिया क्योंकि ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है और प्रकाश का स्वभाव है कि पदार्थों को यथार्थ दिखाना

फिर क्या कारण कि उसने विपर्य्य दिखाया क्योंकि ब्रह्म सत् चित् आनन्द रूप है और जगत असत् जड़ दु ख रूप है।

फिर माया को ब्रह्म से अभिन्न मानने में एक यह संशय होता है कि माया का कभी नाश नहीं होगा क्योंकि ब्रह्म से अभिन्न पदार्थ वही है जो उसके समान अविनाशी हो। सो यदि माया का नाश न हुआ तो जगत प्रपंच बना रहा। यदि जगत बना रहा तो तुम्हारे मत का मोक्ष क्या रहा। क्योंकि तुम संपूर्ण दुःखों का ध्वंस और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष मानते हो सो जगत के होते यह कैसे हो सकेगा ?

प्रश्न—मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है ईश्वर के व्यवहार को कैसे समझ सके कि उसने जगत को कैसे रचा और क्यों रचा। और जो दोष ईश्वर के कर्त्तृत्व में आपने दिखाये है हमारी समझ में उनका उत्तर मनुष्य की बुद्धि से बाहर है क्योंकि वे सब अति-प्रश्न है।

उत्तर—प्रकट है कि दो और दो चार होते है परन्तु यदि तुमको हम पाच बतावे तो क्यों नहीं मानते हो। यदि कहो हमारी बुद्धि में पांच नहीं आते दो और दो तो चार ही होते है तो हम कहेंगे ईश्वर ने तो दो और दो को पांच ही बनाया है परंतु मनुष्य की बुद्धि जो तुच्छ है इस कारण उसकी अनंत माया तुम्हारी समझ में नहीं आती। यदि फिर भी तुम यही कहो कि दो और दो को पाच मानना युक्ति से हीन है तो फिर हम युक्ति से हीन तुम्हारा यह कथन कैसे मान लें कि ईश्वर जगत का कर्त्ता है। और उसका कर्त्तृत्व बुद्धि द्वारा इस हेतु से सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य की बुद्धि तुच्छ है। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस तुच्छ बुद्धि का यह कहना तो मान लिया कि जगत का कोई कर्त्ता है और यह न माना कि उसका कर्त्तृत्व युक्तिसे सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न—क्या इसको आप युक्ति नहीं मानते कि स्त्री और पुरुष के

देह में जो सृष्टि उत्पादक अंग हैं वे किसी के वनाये विना नहीं वने क्योंकि यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि वे न होते तो संसार की रचना न चलती। सो रचना चलाने के निमित्त ईश्वर ने उनको स्थापित किया है ?

उत्तर—यदि ईश्वर ने सृष्टि चलाने के लिये ही उनको स्थापित किया है तो जहाँ अंगों के होते नित्य के मिलाप में भी संतान की उत्पत्ति नहीं होती वहाँ क्या कारण समझोगे वहाँ क्या ईश्वर का मनोरथ भंग हुआ मानोगे ?

यथार्थ तो यही है कि जैसे आम्र के वीज में स्वतः ही डाल, पात फलादि के वन जाने का स्वभाव है वैसे मनुष्य के वीज में भी स्वतः ही हाथ, पाव, मुख, योनि, लिंगादिक वन जाने का स्वभाव है इन्हें किसी ने किसी काम के लिये नहीं रचा। यदि काम के लिये रचा हो तो जो वृक्ष, फूल, फलादि अति उत्तम पदार्थ निर्जन जंगलों और दुर्गम पहाड़ों में उत्पन्न हो के अपने आप सूक जाते उनके और जिन अंगों से संतान नहीं होती उनके रचने में ईश्वर का क्या सिद्ध हुआ ?

प्रश्न—भला इस कल्पना में क्या दोष आता है कि ईश्वर ने तो वे पदार्थ और अंग किसी प्रयोजन के लिये ही रचे थे परन्तु वीच मे कोई रोग, शोक हो गया कि जिससे उक्त प्रयोजन सिद्धि में वाधा आई व संतान न होने दी ?

उत्तर—दोष क्या उलटा हमारा तो मुख्य सिद्धान्त ही यह है कि वीज सदा अपने स्वभावानुसार वढ़ते फूलते हैं परन्तु वीच की विपत्ति और रोग शोकादि आपत्ति उनको यथार्थ फलीभूत नहीं होने देती। किन्तु इसमे ईश्वर को फल-जनक तथा फलों का विनाशक मान लेना गौरव है।

प्रश्न—आप जो जगत को स्वरूप से तथा प्रवाह से अनादि मानते

हैं इसमें जो कुछ आज दिखाई देता है यह परिमित है वा अनंत है ? अर्थात् जो-जो व्यक्तियां और जातियां अब हैं सदा इतनी ही रहती हैं अथवा इनसे भिन्न कभी कोई नवीन भी बन जाती है ?

उत्तर—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, जीव और बीजों की जातियाँ, इतने पदार्थ तो सदा ज्यों के त्यों ही रहते हैं और गिनती में परिमित भी है परन्तु इनके संयोग-वियोग से जो-जो कार्य बनते हैं वे अनंत हैं और सदा नवीन नाम और रूप धारण करते रहते हैं जैसा कि भोजन, छादन, स्थान, यानादि जितने पदार्थ जगत में देखे जाते हैं ये सब एक ही बार नहीं बने किन्तु जीवों के बुद्धि-कौशल से नित्य-नित्य नवीन बनते और बढ़ते जाते है। एक मनुष्य को नदी तैरने के लिये घास का उड़प ही बहुतेरा था जब बहुजनों को तैरने की इच्छा हुई तो काष्ट में से नौका को रचा। निर्जल भूमि की यात्रा के लिये शकट, रथादि यान रच लिये तथा नित्य नवीन रचे जाते है।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित
सत्यामृतप्रवाहोत्तर भागे परा-
विद्यायामीश्वरनिर्णयः
तृतीय स्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नमः

॥अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य उत्तरभागः॥

अथ चतुर्थतरङ्गस्यारम्भः

अथ वेद निर्णयं व्याख्या स्यामः

प्रश्न—जब आप ईश्वर को नहीं मानते तो वेद को क्यों सत्य मानते होगे जिस को हम ईश्वर का वचन मानते हैं परन्तु बताइये तो सही वेद सत्य है वा असत्य ?

उत्तर—जब उस के लिखे हुए पुस्तक जगत में विद्यमान है तो हम प्रत्यक्ष पड़े पदार्थ को असत्य कैसे कहदें। असत्य तो वह होता है कि जो शश-शृंग और वंध्या-पुत्रवत् कोई व्यक्तित्व न रखता हो।

प्रश्न—उस का अस्तिभाव तो आपने माना परन्तु मैंने यह पूछा है कि वह ईश्वर का वचन है वा नहीं और जो कुछ उस में लिखा है वह सच्चा है वा झूठा ?

उत्तर—हां, यह तो हम मानते हैं कि मनुष्य रूप प्रत्यक्ष ईश्वर का वचन वह ठीक है परन्तु किसी परोक्ष ईश्वरका वचन हम उसको कभी नहीं मानते। परोक्ष ईश्वर का वचन तो उस को तब मानते कि जब पहिले परोक्ष ईश्वर का होना युक्ति से सिद्ध हो जाता। और तुमने जो उस मे के लेख की सत्यता असत्यता पूछो, उस का उत्तर यह है कि लेख उस का सत्य भी है और असत्य भी है। अपरारूप असत्य हैं और जो वाक्य परारूप है वह सत्य है। सत्य यह है जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली १ अनुवाक १० मंत्र १६ में कहा है :—

"सत्यं वद धर्म्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदि तव्यं धर्म्मान्न प्रमदि तव्यं कुशलान्न प्रमदि तव्यम् ॥"

अर्थ इस का यह है कि सच बोल और धर्म से चल, विद्याध्ययन में आलस्य न कर। सच को मत छोड़, धर्मको मत छोड़। कुशल अर्थात् श्रेष्ठ कर्म में प्रमाद न करना चाहिये। फिर उसी उपनिषद् मे और लिखा है :—

"मातृ देवो भव पितृदेवोभवा चार्य्य देवो
भवा तिथिदेवो भव। यान्य समाक ॐ सुचरि
तानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"

अर्थ—माता, पिता, गुरु, अतिथि को देवता जानके सेवा कर। जो इसमें श्रेष्ठ आचार हैं उनको ग्रहण कर और इतरों को त्याग दे। फिर मनुस्मृति अ० ४ श्लोक १५७ में लिखा है :—

"दुरा चारोहि पुरुषो, लोके भवति निंदितः।
दुःख भागी च सततं व्याधि तो ऽल्पायु रेवच ॥"

अर्थ—खोटे आचार व्यवहार वाला पुरुष जगत में निंदित होता और सदाही दुःखी, रोगी और अल्पायु होता है। फिर मनु० अ० ४ श्लोक १६० मे लिखा है :—

"सर्व पर वशं दुःखं, सर्व मात्म वशं सुखं
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुख दुःखयोः"

अर्थ—पराधीन सब काम दुःखरूप होते और स्वाधीन सब काम सुखरूप होते है। संक्षेप से दुःख सुख का लक्षण यही जाने। इत्यादि वाक्य वेद, शास्त्र के तथा अन्य पुस्तकों के सब सत्य है जिनको बुद्धि

असत्य नहीं कह सकती और जो वुद्धि से विरुद्ध तथा असत्य है वे ये हैं। यजुर्वेद अध्याय ३१ मंत्र ७ :—

"तस्माद्यज्ञात्सर्व हुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्माद जायत॥"

अर्थ—उस यज्ञ स्वरूप सर्व हुत परमेश्वर से ऋग, साम, अथर्व और यजुर्वेद उत्पन्न हुए हैं। फिर अथर्ववेद कांड ११ प्रपाठक २४ अनुवाक २ मंत्र २७ में लिखा है :—

"देवाः पितरो मनुष्याः गंधर्वाप्सर सश्चये।
उच्छिष्टा ज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिवि श्रिताः॥"

अर्थ—देवता, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा ये सब उस सर्वोत्तम परमेश्वर से हुए हैं। आकाश के देवता तथा और जो कुछ उस में है सब उसी परमेश्वर से हुए है।

पूर्वोक्त समस्त कथन जो वेद और शास्त्र में लिखा है, युक्ति के विरुद्ध होने से असत्य हैं। फिर मनु० अ० ४ श्लोक २२६ में लिखा है :—

"वारिद स्तृप्तिमाप्नोति सुख मक्षय्य मन्नदः,
तिल प्रदः प्रजा मिष्टां दीपद श्चक्षु रुत्तमम्।
भूमिदो भूमि माप्नोति दीर्घ मायुर्हरिण्यदः,
गृह दो गृह्याणि वेश्माणि रूप दो रूप मुत्तमम्॥"

अर्थ—जल देने वाला तृप्त होता और अन्नका दाता सदा सुखी होता है। तिलों का दाता अच्छी संतान पाता और दीप के दान से दिव्य नेत्र प्राप्त होते है। धरती के दान से धरती मिलती और स्वर्ण के दान से दीर्घायु मिलता है। घर वना के देने से अच्छे घर प्राप्त होते है

और चांदी के दान से श्रेष्ठ रूप प्राप्त होता है। यद्यपि पूर्वोक्त पदार्थों का देना हम भी मनुष्य धर्म में श्रेष्ठ समझते है परन्तु जो फल शास्त्र ने कहे वे सब झूठे हैं। हमने कभी नहीं देखा कि अन्न का दाता बिना खाये तृप्त हो जाये और जल का दाता बिना पिये तृषा से छूटे। यदि कहो यह फल स्वर्ग लोक में होता है तो पहिले स्वर्ग लोक का स्थान न तो कहीं वेद में लिखा है और न युक्ति से सिद्ध होता है। फिर यदि चांदी के दाता को उत्तम रूप मिलता है तो वहां स्वर्ग में देह मानना पड़ेगा। यदि देह माना तो हाड़ मास मानना पड़ेगा। हाड़ मांस से वीर्य्य और स्त्री-संग तथा खान-पान मानना पड़ेगा फिर उन से मल मूत्र होगा। जहा मल मूत्र की दुर्गंधि हो उस को स्वर्ग कहना उपहास की बात है।

यदि कहो उन दोनों के फल दूसरे जन्म में होते है जब कि फिर देह धारता है तो प्रथम तो देह को छोड़के जीव का कहीं आगे जा निकलना युक्ति से सिद्ध नहीं होता और दूसरा पिछले जन्म में अधिक नहीं तो एक आधि मुष्टि अन्न की वा एक लोटा जल का तो हमने भी अवश्य किसी भूखे प्यासे को दिया होगा परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा कि विना खाये पीये हम कभी तृप्त हो जाते हो।

प्रश्न—दान का फल कहना एक रोचक वाक्य शास्त्र ने विधान किया है जैसा कि कई भयानक वाक्य भी शास्त्र ने सुनाये है। देखो मनु० अ० १२ श्लोक ६ :—

> "शरीर जैः कर्म दोषै र्याति स्थावरतां नरः
> वाचि कैः पक्षिमृगतां मानसैरंत्य जातितां"

अर्थ—शरीर के पाप से वृक्ष बनता और वाणी के पाप से पक्षी और पशु का देह धारता है और मन के पाप से चूहड़े और चमार का देह पाता है। बस, इस भयानक और रोचक उपदेश से प्रयोजन वेद

और शास्त्र का शुभाचार मे प्रवृत्त कराने और अशुभाचार से निवृत्त कराने का है फिर इस में आप को क्या संशय है ?

उत्तर—रोचक और भयानक वाक्य द्वारा शुभ में प्रवृत्त और अशुभ से निवृत्त कराना तो हम भी बहुत श्रेष्ठ समझते है परंतु यह बात हम अंगीकार नहीं करते कि वेद शास्त्र किसी ईश्वर से प्रकट हुआ है जिसको तुम सत्य वक्ता वा सत्य का रूप समझते हो। हम तो यह कहते है कि वेद शास्त्र बुद्धिमान मनुष्यो के बनाये हुए है जिन्होंने झूठा लालच और झूठा भय दे के जीवों को शुभाशुभ मे प्रवृत्त निवृत्त किया। यदि वेद शास्त्र ईश्वर के रचे हुए होते तो वह झूठा उपदेश उन मे कभी न लिखता कि जिसका नाम तुम भयानक वा रोचक रखते हो। किंतु जो चाहता अपने सामर्थ्य से ही ग्रहण करा देता क्योंकि तुम उसे सर्व-शक्तिमान मानते हो।

प्रश्न—जैसे रोगी के सुख के लिये अच्छा वैद्य कोई झूठा हाऊ आदिक का भय और स्वर्ण की चिड़िया का लालच दे के वालकको कटु औषध पिला देता है वैसे ईश्वर ने भी भयानक वाक्य लिखके जीवों को अशुभ से निवृत्त और शुभ मे प्रवृत्त किया हो तो क्या दोष है ?

उत्तर—इससे अधिक दोष और क्या होता है कि सत्य-स्वरूप ईश्वर को झूठ बोलना पड़ा। जो तुमने वैद्य का दृष्टात दिया वह भी यहा विषम पड़ता है क्योंकि वैद्य जो रोगी का प्रतिकार करता है उसके मन में दो कामना होती है—एक यह कि यदि यह रोगी नीरोग हो जावेगा तो मुझे धन वा यश का लाभ होगा। दूसरा यह कि यदि इस रोगी को सुख हो जावेगा तो मुझे पुण्य की प्राप्ति होगी। क्या ईश्वर मे भी यह दोनो कामना भरी हुई है कि जिनके प्रताप से उसे झूठ बोलना पड़ा। यदि कहो, वह दयालु है इस हेतु से चाहे झूठ भी बोला पर जीवों पर दया की। तो हम कहेंगे, यदि वह झूठ बोल के दया न करता

तो क्या नर्क को चला जाता ? फिर उसको जो छल, बल से जीवों का भला करना पड़ा क्या कोई ऐसा उपाय उस की समझ में न आया कि जिससे बिना छल, बल रचने के सब का भला कर देता ?

प्रश्न—आपने पीछे कहा कि वेद में जो बहुत से वाक्य युक्ति से हीन लिखे हुए हैं इस कारण वह ईश्वर कृत नहीं। हम कहते है वाक्य तो युक्ति विरुद्ध कोई नहीं परंतु उन वाक्यों का तात्पर्य्य समझना कठिन है जैसा कि उस में जो देवता, पितर, मनुष्य सब ईश्वर से हुए लिखे हैं उनका तात्पर्य्य कुछ और है जिसे आप नहीं समझे क्योंकि वेद का तात्पर्य समझना कठिन है।

उत्तर—अक्षरों का तात्पर्य्य तो यही है कि जो हमने समझा यदि कुछ तात्पर्य्य और है तो दो प्रकार का होगा। एक यह कि देवता पितर मनुष्यादि जगत ईश्वर से नहीं हुआ। दूसरा यह कि जगत हुआ तो ईश्वर से ही है परंतु ऐसी विधि से हुआ है कि उससे ईश्वर पर कोई शंका नहीं उठती। सो यदि ईश्वर का रचा हुआ नहीं तो हमारा ही मत सिद्ध होगया और यदि रचने की विधि अन्य है तो बताओ वह कौन सी है फिर हम देखेंगे कि उस पर कोई शंका उठती है वा नहीं।

वेद को ईश्वर रचित मानने में एक यह शंका भी उठती है कि वेद सारा ही वर्णात्मक शब्द और छन्दोबद्ध है कि जो कुछ अर्थ भी रखता है फिर वह बिना मुख और जिह्वा के उच्चारण कैसे हो गया ? यदि कहो ईश्वर सर्व-शक्तिमान है बिना जिह्वा के बोलना उसको कोई कठिन नहीं। तो पहिले उस ईश्वर का होना तो सिद्ध करो फिर यह भी देखा जावेगा कि वह शक्तिमान है वा नहीं।

प्रश्न—ईश्वर ने अपनी जिह्वा से वेद का उच्चारण नहीं किया किंतु सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, सूर्य्य नाम तीन ऋषियों के हृदय में प्रकाशित किया। उनसे ब्रह्मा ने लिया फिर जगत में फैला। सो वे

अग्नि आदिक ऋषि जो सृष्टि के आदि में उस समय हुए कि जव उनसे पूर्व न कोई विद्या पढ़ाने वाला पुरुष वर्तमान था और न कोई पुस्तक। सो वताइये उनको वेद रचने का सामर्थ्य ईश्वर के दिये विना कहां से मिला। क्योंकि यह हम प्रत्यक्ष देखते है कि जव लों कोई दूसरा न सिखावे ग्रन्थ रचना तो वड़ी वात है कोई वोलना भी नहीं सीख सकता। अग्नि आदिक से वेद का प्रकट होना 'शतपथ ब्राह्मण' के निम्न वाक्य से सिद्ध होता है कि जो ब्रह्मादि ऋषियों का कहा हुआ है :—

"तेभ्यस्तप्त भ्यस्त्रयो वेदा अजायंत। अग्नेऋग्वेदो
वायो र्यजुर्वेदः सूर्य्या त्सामवेदः"

—शतपथ० कांड ११ अध्याय ५

अर्थ—उन तप-करतो से तीन वेद प्रकट हुए। अग्नि से ऋग, वायु से यजु और सूर्य्य से साम वेद उत्पन्न हुआ।

उत्तर—विना युक्ति प्रमाण के प्रथम तो हम यह वात कैसे मान लें कि सृष्टि के पूर्व सवसे प्रथम अग्नि, वायु और सूर्य्य ही उत्पन्न हुए थे। भला यदि सृष्टि के पूर्व अग्नि आदि की उत्पत्ति मान भी ली जावे तो यह वात किस युक्ति से सिद्ध होती है कि वेद उसी समय प्रकट हुआ। हम कहते है कि ज्यो २ संसार वहुत होता गया त्यो २ स्वत्व, परत्व वैर, ईर्षा, लोभ, अहंकार, क्रोध, चोरी, हिंसा, व्यभिचारादि विकार भी जीवों मे भरते गये। और लेन-देन वाणिज्य व्यापारादि व्यवहार भी परस्पर होने लगे। फिर अनन्त पदार्थो और कार्यों में मन की प्रवृत्ति होने से, पूर्व कहे और किये हुए व्यवहार विस्मृत होने लगे। उस समय वुद्धिमानो ने अक्षरों का संकेत करके लेखन क्रिया का आरम्भ किया। और फिर वेद शास्त्र रूप अनेक ग्रन्थ लिखने में आये आदि काल में नहीं लिखे गये।

वेद को ईश्वर कृत मानने मे एक यह भ्रम भी खड़ा होता है कि

ईश्वर पूर्ण है तो वेद रूप उसकी रचना में पूर्णता क्यों नहीं देखी जाती क्योंकि यदि वह ईश्वर कृत होता तो जन्म से ले के मरण पर्यन्त मनुष्य को जो कुछ जानना और करना आवश्यक था सब कुछ उसमें आ-जाता। ऋषियों को गृह्य सूत्र और धर्म शास्त्र न रचने पड़ते। जब आयुर्वेदादि चार उपवेदों और शिक्षा कल्पादि छै अंगों तथा न्याय वेदातादि छै उपांगों के बिना केवल वेद मात्र के पढ़ने से प्राणी को पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, तो उसको पूर्ण शास्त्र और पूर्ण ईश्वर की कृति कैसे मान लिया जावे।

वेद को ईश्वर कृत बताने के लिये यदि वेद का ही वाक्य प्रमाण में दिया जावे जैसा कि य० अ० ३१ का मंत्र ७, तो यह प्रमाण हमको ग्राह्य नहीं क्योंकि जब हमारा विवाद ही वेद पर है कि वह ईश्वर कृत है वा अन्य कृत, तो उसकी सिद्धि के लिये उसीका वचन प्रमाण रूप नहीं हो सकता।

'शतपथ ब्राह्मण' का प्रमाण जो तुम ने अग्नि आदिक के हृदय में वेद के प्रकट होने के विषय में कहा, हम कहते हैं वह ब्रह्मादि ऋषियों की बनावट है। वे ऋषि जो वेद के मानने वाले अथवा आप ही वेद के रचने वाले थे उन्होंने वेद को ईश्वर कृत ठहराने के निमित्त उस भांति के वाक्य रच लिये। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य ग्रन्थ सब मनुष्यो के रचे हुए है वैसे वेद भी मनुष्यों का रचा हुआ है। परन्तु इस बात में संशय नहीं कि वेद की रचना बहुत पुरानी है। कई एक अनुमानो से जाना जाता है कि धर्म विषय में जितने ग्रन्थ भारतखण्ड तथा अन्य खण्डों में प्रचलित हो रहे और ईश्वर की वाणी माने जाते है सब वेद से पीछे बने हैं।

वेद चाहे है तो मनुष्य का रचा हुआ, परन्तु यह निश्चय नहीं होता कि किस मनुष्य ने रचा है क्योकि उसको परमेश्वर का वचन बनाने के निमित्त रचने वाले ने अपना नाम उसमें नहीं लिखा।

वेद के अक्षरों से भी जाना जाता है कि वह ईश्वर की कृति नहीं किसी अन्य का रचा हुआ है जैसा कि—

"तस्माद्यज्ञा त्सर्व हुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे"

अर्थ—उस सर्व हुत परमेश्वर से ऋग्वेदादि हुए इत्यादि। अब हम पूछते हैं कि यदि ईश्वर वेद का कर्त्ता होता तो यह न कहता कि (उस) सर्वहुत परमेश्वर से वेद हुआ किंतु यह कहता कि मुझसे वेद हुआ है। उस (परमेश्वर) से वेद हुआ कहने में यह बात पाई जाती है कि ईश्वर कोई और है और जिस से वेद हुआ वह कोई और है। क्योंकि प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुष मे व्याकरण की रीति से भेद होता है। फिर य० अ० ३२ मं० १५ मे लिखा है कि—

"मेधांमे वरुणो ददातु"

अर्थ—मुझे वरुण देवता बुद्धि देवे। यह बात ईश्वर ने नहीं कही जो पूर्ण-काम है किन्तु किसी मनुष्य ने कही है जो बुद्धि से हीन था और बुद्धि के लिए वरुण नाम देवता से प्रार्थना करता है। यदि कहो ईश्वर ने अपने लिये नहीं कहो किन्तु ईश्वर मनुष्यो को यह शिक्षा करता है कि तुम वरुण के पास मेधा के निमित्त प्रार्थना करो तो ईश्वर का शिक्षा करना हम तुम्हारे कहने से नहीं मानते वेद का वह वाक्य सुनाओ जहा ईश्वर ने कहा हो कि हे मनुष्यो, मैं तुमको शिक्षा करता हूं कि तुम वरुण से मेधा मागो। यदि कहो ईश्वर का शिक्षा करना इस अनुमान से सिद्ध होता है कि उसने जो वेद भेजा कुछ अपने लिये तो भेजा नही था किन्तु जीवों के लिये ही भेजा था सो जो कुछ उसमे लिखा हुआ है वह मनुष्यों के लिये ही शिक्षा है। तो सुनो, मनुष्यों का वेद के बिना क्या अटका हुआ था। यदि कहो उनको ज्ञान नहीं था ज्ञानोपदेश वेद से मिलता है तो देखो, उस मन्त्र से यही ज्ञान हुआ कि जीव बुद्धि के लिये ईश्वर के पास प्रार्थना करे।

फिर इसका क्या कारण कि सारा आयु बरुण से बुद्धि मांगते रहने पर भी बुद्धि प्राप्त नहीं होती। बुद्धि तब ही प्राप्त होती है जबकि विद्या पढ़ो वा विद्वानों का संग करो।

फिर ऋग्वेद अध्याय १ अष्टक ३ वर्ग १० ऋचा ४ में लिखा है कि—

"ऊर्द्धो नः पाह्यं हसो"

अर्थ—हे ईश्वर, तू हमको पाप से बचा ऊपर से। भला क्या यह ईश्वर का बचन है? यदि ईश्वर का वचन है तो बचने वाला ईश्वर कौन है और उससे भिन्न बचाने वाला कौन है?

वेद में जो ईश्वर की स्तुति के मंत्र लिखे है वे किसने रचे है? यदि कहो ईश्वर ने, तो हम कहेंगे ईश्वर अपनी स्तुति कराना जीवों से क्यों चाहता है क्या वह अपनी स्तुति का भूखा है? यदि कहो जीवों का इसमें भला है तो ईश्वर अपनी स्तुति करा के जीवों का भला क्यो करता है। दयालु है तो बिना स्तुति कराने के ही भला करे। यदि कहो ईश्वर अपनी स्तुति करानी नहीं चाहता परन्तु मनुष्य का धर्म है कि अपने सृष्टि कर्त्ता की स्तुति करे। तो सुनो, वेद में जब स्तुति के मंत्र लिखे है और वेद को तुम ईश्वर का रचा हुआ मानते हो तो यह बात स्पष्ट पाई गई कि ईश्वर अपनी स्तुति चाहता है। फिर जब ईश्वर मनुष्य का सृष्टि कर्त्ता ही युक्ति से सिद्ध नहीं होता तो स्तुति करना जीव का धर्म कैसे सिद्ध हुआ? यदि कहो ईश्वर की स्तुति परंपरा संबन्ध से जीव का भी भला करती है जैसा कि स्तुति वह करेगा जिस के मन में ईश्वर का भय और प्रेम होगा, जिसके मन में भय और प्रेम है वह भय के प्रताप से मंदाचार का त्याग और प्रेम के प्रसाद से शुभाचार में प्रवृत्ति करेगा। जब यह दोनो व्यवहार सिद्ध हुए तो जीव को परम सुख प्राप्त हो गया और यही इसका भला है। तो सुनो, काई जीव

विना ही स्तुति और ईश्वर के भय प्रेम के केवल ज्ञान मात्र से मंदाचार का त्याग और शुभाचार का ग्रहण करे तो ईश्वर का वेद रचना उसके लिये व्यर्थ ठहरेगा। और व्यर्थ काम करने से ईश्वर को अज्ञानी मानना पड़ेगा।

अब उपनिषदों की सुनो

उपनिषदों को कोई ५२ और कोई १० वतलाता है। वावन उपनिषद तो अवश्य अपनी-अपनो संप्रदाय सिद्ध करने के निमित्त मनुष्यों ने रची है परन्तु दश उपनिषद को सब कोई वेद अथवा वेदांत वतलाता है जिन में ज्ञानकांड का उपदेश भरा हुआ है।

इश, केन, कठ, मुंडक, मांडूक्य, प्रश्न श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय, छांदोग्य, वृहदारण्यक ये दश उपनिषद वेद का अन्त मानी जाती है कि जिन से जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है।

इसमे हम कहते हैं कि यजुर्वेद वाजसनेई संहिता के चालीसवें अध्याय का नाम जो ईश उपनिषद है वह तो वेद का अत ठीक है, क्योंकि उस संहिता के चालीस अध्याय हैं और वह उपनिषद अन्त का अध्याय है। परंतु अन्य उपनिषदों को वेदों का अन्त क्या जाने लोगों ने क्यों मान लिया ? प्रथम तो वे किसी वेद का कोई अंतिम अध्याय नहीं फिर वहुत सी कथा और कहानिया उनमें ऋषिलोगों की कल्पना है जैसा कि केन में ब्रह्मा और देवताओं की कहानी है। कठ में वाजश्रवा ऋषि के पुत्र नचिकेता की कथा है। मुंड में ब्रह्मा, अथर्व, अंगिरा, भारद्वाज, शौनक आदि ऋषियों के प्रसंग द्वारा परापरा विद्या का कथन है। वैसे ही जनक, याज्ञवल्क्य, गार्गी, मैत्रेयी, शाकल, प्रभृति जनों के प्रसग और कथायें समस्त उपनिषदों में भरी हुई हैं जिन का वेद की संहिताओं में नाम मात्र भी नहीं आता। जिस उपनिषद में जिसका प्रसंग है वह उस वेद के अन्त मे लिखा हुआ

नहीं मिलता जिसकी वह उपनिषद् गिनी जाती है। अतः हम तो यही कहेंगे कि वेद के कोई २ मंत्र तो चाहे सारी उपनिषदों में आ-जाते हैं परंतु उपनिषदों का आद्योपांत पाठ वेद का कोई भाग नहीं होता किंतु ऋषि लोगों की स्वतंत्र कल्पना है उसको वेद वा वेद के समान वा वेद के अनुसार मानना योग्य नहीं।

प्रश्न—उपनिषदों के प्रसंग और कथाये वेद के ब्राह्मण भाग में सब आती हैं क्या यह बात सत्य नहीं ? जब ब्राह्मण भाग की कथायें ही उपनिषदों में भरी हुई हैं तो वे वेदरूप क्यों न मानी जावें ?

उत्तर—हा, ब्राह्मण भाग में उनमें से कई एक कथा अवश्य आजाती हैं परंतु ब्राह्मण भाग वेद नहीं, किंतु वेद की व्याख्या है जिस को ब्रह्मादि ऋषियों ने पीछे से लिखा है। तात्पर्य्य इस कथन का यह है कि उपनिषदों को ब्राह्मण भाग का रूप कहो तो कहो परंतु वे वेद का रूप वा वेद का अंत नहीं हो सकतीं।

कई प्रसंगों से जाना जाता है कि वेद और उपनिषदें एक ही समय में एक ही पुरुष ने नहीं रची हैं किंतु समय २ पर रची गई है। जैसा कि अथर्व संहिता कां० १५ प्र० ३० में लिखा है :—

> "सबृहतीं दिश मनु व्य चलत्। तमितिहास
> श्च पुराणं च गाथा श्च नारा शंसी श्चानु व्य
> चलन्। इतिहासस्य च गाथा नां नारा शंसी
> नांच प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"

अर्थ—वह बड़ी दिशा को गया और उसके पीछे इतिहास पुराण गाथा और नाराशसी चलीं। जो ऐसा जानता है वह इतिहास और गाथा तथा नाराशसियों का प्यारा घर बनता है। अब विचारो कि जब वेद हुए तब इतिहासादि वर्त्तमान नहीं थे जिनको ब्रह्मादि वा

व्यास ने पीछे से रचा है फिर इस बात का क्या कारण है कि पूर्व रचित वेद में पश्चात् रचित इतिहासादि के नाम आगये। इससे जाना जाता है कि अथर्व वेद सारा अथवा वह मंत्र इतिहासादि के पीछे रचा गया है। यदि कहो वेद परमेश्वर का रचा हुआ है और परमेश्वर त्रिकालज्ञ है उसने भावी बात को प्रथम ही लिख दिया। तो पहले यह बात युक्ति से सिद्ध करो कि वेद परमेश्वर का रचा हुआ है। फिर यह बताओ कि जैन मत की कोई बात अथवा म्लेच्छ मत के ग्रन्थों का नाम उस में क्यों न लिखा कि जो उस समय के पीछे हुए हैं।

फिर उपनिषद् वेद के साथ प्रकट नहीं हुए किंतु उस समय प्रकट हुए हैं कि जब मनुस्मृति नाम ग्रन्थ लिखा जा चुका था क्योंकि छांदोग्योपनिषद् में लिखा है:—

"यद्वै मनुर वदत्तद्भेषजम्"

अर्थ—जो मनु कह चुका वह औषध रूप है। अब सोचो 'अवदत्' अर्थात् कह चुका क्रिया छांदोग्य में देख के यह बात कौन न कह उठेगा कि छांदोग्य मनुस्मृति के पीछे बनी है। यदि कहो मनुस्मृति भी जगत् के आरम्भ मे बनी है जब वेद बना था इसी कारण वेदरूप उपनिषद् में उसका नाम आगया तो यह भी सत्य नहीं क्योंकि मनु ब्रह्मा का पुत्र है और वेद ब्रह्मा से पहिले वर्त्तमान था क्योकि श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है :—

"योवै ब्रह्माणं विद धाति वेदं"

अर्थ—जिस ने ब्रह्मा को वेद पढाया है। सो यदि ब्रह्मा से पूर्व वेद वर्त्तमान न होता तो पढ़ाया क्या जाता? फिर मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक २३ में लिखा है :—

"अग्नि वायु रविभ्यश्च त्रयं ब्रह्म सनातनम्
दुदोह यज्ञ सिद्धार्थ मृग्यजुः सामलक्षणं।"

अर्थ—ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, सूर्य से वेद को लिया। प्रयोजन हमारा यह है कि वेद ब्रह्मा जी से पूर्व वर्त्तमान था कि जिसके अंत का नाम छांदोग्य उपनिषद् है। फिर यदि छांदोग्य उपनिषद् ब्रह्मा से पहिले ही वर्त्तमान थी तो उस में मनु के बनाये पुस्तक का नाम कैसे आगया जो ब्रह्मा का पुत्र होने से उससे पीछे का जाना जाता है। अतः उपनिषद् वेदरूप तथा वेद का अंत नहीं किंतु वेद से भिन्न है। यह बात छांदोग्य और मुण्डक उपनिषद के वाक्यों से भी सिद्ध होती है। जैसा कि छां० प्रपाठ ७ के अनुसार नारद ने सनत्कुमार से कहा :—

"ऋग्वेदो भगवो ध्येमि यजुर्वेद ँ साम वेदमाथर्वणंच
.........सोहं भगवो मंत्रविदे वास्मिनात्मवित्"

अर्थ—हे भगवन्! मैं ऋग्वेदादि चारों वेद पढ़ा हूं मंत्र वेत्ता हूं आत्म वेत्ता नहीं। यह सुन के सनत्कुमार ने उपनिषद् द्वारा आत्म-ज्ञान का उपदेश किया। अब सोचो कि यदि उपनिषद् को वेदत्व होता तो ऋग्वेदादि पूर्व गणना से बाहर कैसे रह जाता? फिर मुडक उपनिषद् में लिखा है कि :—

"तत्रा परा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्ववेदः
......अथ परा यया तदक्षर मधि गम्यते"

अर्थ—ऋग्वेदादि सारे अपरा विद्या है परा विद्या वह है जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म जाना जावे। अर्थात् उपनिषद् परा विद्या है। अब सोचो यदि उपनिषद् वेद वा वेदांत है तो ऋग्वेदादि अपरा विद्या में आगये। और यदि इसको पराविद्या में वेद से बाहर गिनो तो वेद वा वेद का अंत कैसे हुए?

प्रसिद्ध है कि मनुस्मृति नाम ग्रन्थ मनुजी का बनाया हुआ है। पर यह बात मनुस्मृति के वाक्यानुसार ही झूठी है। क्योंकि अध्याय

१ श्लोक ५८-५६ में मनुजी कहते हैं कि हे ऋषि लोगो, यह शास्त्र, आदि में मुझे ब्रह्माजी ने पढ़ाया फिर मैंने मरीचि आदिक ऋषियों को पढ़ाया अब भृगु मुनि तुम को सुनावेगा क्योंकि उसने भी मुझ से पढ़ा है। अब विचारना चाहिये कि जब ब्रह्मा ने मनु को पढ़ाया तो यह ग्रन्थ पहिले ही बना हुआ था। फिर जब पहिले ही बना हुआ था तो उसे मनु का बनाया क्यों कहते हो? फिर उसी स्थान के श्लोक ६० मे लिखा है कि :—

"तत स्तथा सतेनोक्तो महर्षि र्मनुनाभृगुः
तानब्रवीदषी न्सर्वा न्प्रीतात्मा श्रूयतामिति।"

अर्थ—फिर वैसे ही मनु का बताया हुआ महाऋषि भृगु उन ऋषियों को बोला कि हे ऋषियो, सुनो।

अब विचारो, यह श्लोक मनुस्मृति में कैसे आगया क्योंकि मनुस्मृति ग्रन्थ तो उसके बोलने से पूर्व ब्रह्मा अथवा मनु ने रचा था और भृगु ने उनसे पीछे ऋषियों को सुनाया। इससे जाना जाता है कि इस श्लोक का कहने वाला कोई तीसरा है और वही इस ग्रन्थ का कर्त्ता है, मनु नहीं। फिर मनु० अध्याय १ श्लोक १ में लिखा है :—

"मनुमेकाग्रमासीन मभि गम्य महर्षयः"

अर्थ—एकांत बैठे मनु के पास जाके ऋषि लोग बोले। इससे प्रकट है कि यह वाक्य मनु का नहीं क्योंकि यदि मनु का वाक्य होता तो वह यों न कहता कि एकात बैठे हुए मनु के पास जाके ऋषि लोग बोले किन्तु यों कहता कि मेरे पास आके ऋषि लोग बोले।

फिर उसी अध्याय श्लोक ४ में लिखा है "सतैः पृष्टः"

अर्थ—वह मनु उन ऋषियों का पूछा हुआ बोला, सुनो।

क्या यह वचन मनु का है? यदि मनु का होता तो 'वह मनु' बोला

न लिखता किन्तु 'मैं' बोला लिखता। फिर अ० १२ श्लोक-१२६ में लिखा है :—

"इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगु प्रोक्तं पठन् द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥"

अर्थ—भृगु के कहे मानव शास्त्र को पढ़ता हुआ द्विज आचारवान् हो जाता और यथेष्ट गति प्राप्त करता है।

अब प्रथम तो हम यही पूछते हैं कि जब ब्रह्मा ने मनु को पढाया था तो वह मानव शास्त्र कैसे हुआ और फिर यह बताओ कि भृगु प्रोक्त है तो यह श्लोक मनुस्मृति में कैसे आ गया ? इन बातो से निश्चित होता है कि यह श्लोक न तो मनु का रचित है और न भृगु का किन्तु किसी तीसरे का रचित है। और इसमे भी आश्चर्य नहीं कि यह सारी मनुस्मृति ही उसकी रचित हो। यदि यह माना जावे कि जो कुछ ब्रह्मा ने मनु को और मनु ने भृगु को और भृगु ने ऋषियो को सुनाया वह केवल अर्थ रूप था यह ग्रन्थ की श्लोक वद्ध रचना किसी ने अवश्य पीछे से की है तो इसमें क्या प्रमाण कि वह अर्थ ठीक ब्रह्मा वा मनु वा भृगु ने ही कहा है। हम कहेंगे जिसने श्लोक रचना की उसी की कल्पना वह अर्थ है। फिर उसकी कल्पना को सर्वांश सच मान लेने में क्या प्रमाण है क्योंकि मनुष्य की कल्पना कोई सत्य होती है कोई असत्य। यदि कहो कि वह कल्पना श्लोक रचने वाले की इस हेतु से नहीं कि वह अर्थ वेद में भी लिखा है, जो उस स्मृति मे है। तो सुनो, वह स्मृति वेद मूलक तो ठीक है परन्तु बहुत स्थानो में स्वतन्त्र भी है जैसाकि वेद में ब्राह्मणादिक केवल चार वर्ण ही लिखे है किन्तु मनुस्मृति में कुंड, गोलक नाम से दो वर्ण और भी लिखे है।

प्रकट है कि मनु का धर्मशास्त्र वेद के अनुसार है—हमारी समझ में यह बात भी सच्ची नहीं। क्योकि कई एक बातें तो वेद के अनुसार

हैं और कई स्वतन्त्र है जिनका वेद के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं, जैसा कि वेद में कहीं नहीं लिखा कि जोवात्मा एक देह को छोड़ के नर्क वा स्वर्ग रूप किसी स्थान को जाता है; किन्तु मनु० अध्याय ४ श्लो० ८८ से ९० तक में नर्क के नाम, स्थान वा स्वरूप लिखे हैं। जैसा कि—

"तामिश्र मंधता मिश्रं महा रौरवरौरवौ।
नरकं काल सूत्रञ्च महा नरक एव च॥" इत्यादि

अर्थ—तामिश्र, अंधतामिश्र, महारौरव, रौरव, नरक, कालसूत्र, महानरक इत्यादि।

फिर वेद में जो ब्राह्मणादि चार वर्ण लिखे है मनु ने उससे अधिक संकर वर्ण और कुंड, गोलक लिख के उनके आचार व्यवहार भी लिखे है जिनकी वेद में गंध भी नहीं। फिर यह क्यो कहते हो कि वह सर्वांश श्रुतिमूलक है। ऐसा कहो कि वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। ग्रन्थ तो कई स्थानोंमे अच्छा है परंतु यह पता नहीं कि बनाया हुआ किसका है।

अब न्याय वेदांतादि षट् शास्त्रों की सुनो

षट् शास्त्र में जो अनेक ग्रन्थ नवीन रचे गये है उनका तो क्या कहना परन्तु सूत्रकारों की कल्पना भी वेद के अनुसार नहीं जिनको षट् शास्त्र के कर्त्ता माना है। इसमे कुछ संशय नहीं कि षट्शास्त्र के कर्त्ता श्रेष्ठ विद्वान थे और उनकी कल्पना भी किसी २ अंश मे श्रेष्ठ है परन्तु यह हम कभी नहीं मानते कि इनका कथन वेद के अनुसार है। उत्पत्ति आदिक का व्यवहार हम वेद और षट्शास्त्र का संक्षेप से दिखाते हैं।

वेद में लिखा है कि आदि मे एक अद्वितीय ब्रह्म था और कुछ नहीं था। जैसाकि ऋग्वेद अध्याय ८—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं"

अर्थ—तदानी अर्थात् उत्पत्ति के समय न सत् अर्थात् परमाणु समूह और जीव ही वर्त्तमान थे और न असत् अर्थात् स्थूल भूत और देहादि प्रपंच ही विद्यमान था। केवल एक अद्वितीय ब्रह्म ही था। उसी से जगत उत्पन्न हुआ। जैसा कि य० अध्याय ३१—

"ततो विराड जायत"

अर्थ—उसीसे विराट अर्थात् यह जगत-प्रपंच हुआ।

इससे विरुद्ध न्यायशास्त्र कहता है कि ईश्वर, जीव परमाणु नित्य हैं। ईश्वर ने अपनी चिकीर्षा के बल से परमाणु वर्ग को स्थूल बना के उनमें से देहों को रचा और फिर उनसे जीवों का सम्बन्ध किया।

वेदांत के कर्त्ता व्यास कहते हैं कि जगत है ही नहीं किन्तु अज्ञान से भासता है।

साख्य के कर्त्ता कपिल जी कहते है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत उत्पन्न हुआ है। ईश्वर असिद्ध है।

मीमासा के कर्ता जैमिनी ऋषि जीव और कर्म को अनादि मान के कर्म से जगत की उत्पत्ति मानते है।

पातंजल के कर्त्ता पतंजलि मुनि साख्य की तरह ही प्रकृति-पुरुष के संयोग से जगदुत्पत्ति मानते है। ईश्वर केवल साक्षी या उपास्य रूप है।

वैशेषिक के कर्त्ता कणाद मुनि कुछ तो न्याय के अन्तर्गत है और कुछ भिन्न है।

हम नहीं जानते कि जब सम्पूर्ण शास्त्रों का कथन वेद के विरुद्ध है तो उनको वेदमूलक क्यों माना जाता है? मैंने कई एक पंडितों से यह बात भी सुनी कि यद्यपि कथन में भेद हो परन्तु पर्य्यावसान सबका वही है कि जो वेद ने कहा है। परन्तु यह बात उनकी सच्ची नहीं। देखो, वेद ने मोक्ष का साधन कर्म, उपासना, ज्ञान को बताया और न्यायशास्त्र सप्त पदार्थों के ज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाता है।

फिर वेदान्त जीव ब्रह्म कत्व ज्ञान को मोक्ष का साधन कहता है। इत्यादि भिन्न २ कथन से वेद और शास्त्र के पर्य्यावसान को एक कैसे मान लिया जावे ? भला किसी ने कहा देवदत्त के गृह को पूर्व होके जाना सीधा मार्ग है और कोई कहता है पश्चिम होके जाना सीधा मार्ग है, तो क्या ये दोनों मार्ग सीधे हो सकते है ? और इन दोनों के कथन का पर्य्यावसान किस प्रकार एक हो सकता है ? नहीं, कभी नहीं।

अब पुराणों की सुनो

पुराण मत्स्य, मार्कन्डेयादि नाम से अठारह है और सब व्यासजी के बनाये कहे जाते हैं। प्रथम तो आज लों इस बात का ठीक पता नही लगा कि ये बनाये हुए किसके है क्योंकि उनका उत्पत्ति-प्रलय के विषय मे परस्पर विरोध है। यदि किसी एक कर्त्ता के बनाये हुए होते तो उनमे विरोध कभी न होता। किसी पुराण मे लिखा संसार की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है और किसी में लिखा विष्णु, शिव तथा शक्ति से हुई है। किसी मे सूर्य्य तथा गणेश की उपासना और किसी मे शक्ति, शिव और विष्णु का आराधन लिखा है। किसी मे भूगोल और खगोल का मान कुछ, और किसी मे उससे विरुद्ध अन्य कुछ लिखा है। किसी मे गंगादि स्नान से पाप की निवृत्ति, किसी मे विष्णु, शिवादि के नाम जपने से पाप की निवृत्ति लिखी है। किसी मे प्रलय का हेतु कुछ, और किसी मे कुछ और ही लिखा है। इस विषमता को देख के प्रथम तो उनका कर्त्ता एक नहीं जाना जाता और फिर जो वृतात उनमें लिखे है उनकी वेद मे गंध मात्र भी नहीं।

कोई २ लोग यह भी कहते है कि उत्पत्ति प्रलय के व्यवहार जो पुराणों मे भिन्न २ लिखे है उनका कल्पातर भेद है अर्थात् किसी कल्प में संसार की उत्पत्ति किसी प्रकार हुई और किसी मे उससे भिन्न

हुई। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यह बात वेद के विरुद्ध है, क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है—

"सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्प
यद्दिवं च पृथिवीं चांत रिक्ष मथो स्व:"

अर्थ—सूर्य्य, चन्द्रमा, दिव, पृथ्वी, अन्तरिक्षादि को धाता अर्थात सबको धारण करने वाले परमेश्वर ने जैसे पहिले थे वैसे ही रचा। प्रयोजन इसका यह है कि जैसी रचना पूर्वकाल में होती है प्रलय के पीछे वैसी ही फिर होती है। अतः यह बात कभी सत्य नहीं हो सकती कि एक कल्प में रचना एक प्रकार की हो और दूसरे में अन्य प्रकार की हो। फिर हम यह भी पूछते है कि उत्पत्ति का वर्णन जो पुराणों ने कल्पांतर भेद से कई प्रकार का लिखा है तो हम इस वर्त्तमान कल्प की उत्पत्ति को किससे हुई मानें? क्योंकि पुराणो में यह कहीं नहीं लिखा कि अमुक कल्प की उत्पत्ति ब्रह्मा से और अमुक की विष्णु, शिव तथा शक्ति से हुई है। सच तो यों है कि जिसके जो कुछ समझ मे आया सो लिख मारा।

प्रश्न—अठारह ही पुराण व्यास जी के बनाये हुए है। आप यह कैसे कहते है कि जिसके जो कुछ समझ में आया सो लिख मारा?

उत्तर—व्यास जी तो वेद वेदांग को जानने वाले थे वे वेद विरुद्ध बात क्यो लिखने लगे थे। वेद में तो यह लिखा है, य० अ० ३१—

"ततो विराड जायत विराजो अधि पुरुष:
सआतो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमि मथोपुर:।"

और

अथर्व काड ११ प्रपाठ २४ अन० २ मंत्र २७ मे यह लिखा है—

"देवाः पितरो मनुष्याः गंधर्वा प्सरस श्चये
उच्छिष्टा ज्जज्ञिरे सर्वेदिविदेया दिविश्रिताः"

अर्थ—उस परमात्मा से विराट हुआ अर्थात विराट का शरीर हुआ। विराट से अधि (अधिक) पुरुष हुआ। वह जन्म लेते ही ज्ञान, बुद्धि के प्रताप से श्रेष्ठ वा वड़ा गिना गया। फिर पहिले ईश्वर ने पृथ्वी को रचा फिर शरीर को। दूसरे मंत्र का अर्थ पीछे हो चुका है। अव सोचो वेद में संसार की उत्पत्ति ईश्वर से है तो व्यास जी ने पुराणों में शक्ति, शिवादि से कैसे लिखी ?

प्रश्न—शक्ति, शिवादि नाम सव ईश्वर के ही हैं। यद्यपि व्यास जी शक्ति, शिवादि से उत्पत्ति लिखते हैं परन्तु भाव उनका यही है कि ईश्वर (ब्रह्म) से हुई है फिर इसमें क्या दोष है ?

उत्तर—यदि शक्ति, शिवादि नाम सव ईश्वर (ब्रह्म) के ही हे तो पुराणों मे जहां उनके रूप लिखे वहां ब्रह्म कैसे समझोगे। जैसाकि शक्ति की आठ भुजा और शिवजी के पंचवक्र और विष्णु चतुर्भुज है। वेद मे ब्रह्म का लक्षण यह लिखा है कि—

"सपर्य्यगाच्छुक्र मकायम्"

—य० अ० ४० मं० ८

अर्थ—वह ईश्वर सर्वव्यापी, शुद्ध, अकाय अर्थात् काया से रहित है। तो भला व्यास सरीखे पंडित जन कहीं दो और दो चार, और कहीं दो और दो पाच लिख सकते है ?

फिर पुराणों की कथा और प्रसंग भी वेद से विरुद्ध दिखाई देते है। जैसा कि वेद में कहीं नहीं लिखा कि किसी मनुष्य की उत्पत्ति नासिका से और किसी की कान से और किसी की मैल से और किसी की माथे से हुई है किन्तु पुराणों में ऐसी अनेक कथा है कि नाशिकेत

नाशिका से और कर्ण और हनुमान कान से और गणेश पार्वती की मैल से और शिवजी ब्रह्मा के मस्तक से उत्पन्न हुए हैं।

प्रश्न—ईश्वर सर्व शक्तिमान है यदि उसने क्रम विरुद्ध रचना भी कर दी हो तो क्या आश्चर्य है ?

उत्तर—क्रम विरुद्ध में तो दुर्जनतोष न्याय से चाहे हम इस समय कुछ आश्चर्य नहीं भी मानते परन्तु वेद विरुद्ध में आश्चर्य होता है; क्योंकि जो बात वेद विरुद्ध हो वह मानी नहीं जाती। यदि कहो वेद में संसार का सब कुछ नहीं लिखा कि जिसमें कान नासिकादि से उत्पत्ति भी लिखी जाती तो हम कहेंगे वह पूर्ण ग्रन्थ नहीं फिर उसे पूर्ण परमेश्वर का कृत क्यो मानते हो।

बस, जो कुछ पुराणों मे लिखा वह वेद में नहीं और जो वेद में है वह पुराणो में नहीं यह बात देख के हम स्पष्ट कह सकते है कि पुराण न तो वेद मूलक है और न व्यासजी के रचे हुए है।

जैसे वेद पुराण मनुष्यों के रचे हुए ग्रन्थ है किसी बात में सच्चा और किसी में झूठा उनका कथन है उसी प्रकार अन्य मतो के ग्रन्थ भी जान लेने चाहिये कि जिन को वे ईश्वर की वाणी कहते है। हम सच कहते हैं कि न कोई ईश्वर है, न कोई उस की वाणी है। ये सब ग्रन्थ बुद्धिमानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार रचे हुए हैं। हां, इतना सच है कि कोई उन मे पुरातन और श्रेष्ठ उपदेश देता है जैसा कि वेद शास्त्रादि हैं और कोई नवीन और अश्रेष्ठ उपदेश करता है जैसा कि अन्य मतों के ग्रन्थ हैं जिनमें हिंसादि का कुछ दोप नहीं लिखा और किसी मनुष्य को परमेश्वर ने जगत के कल्याण के लिये भेजा लिखा है।

प्रश्न—क्या परमेश्वर जगत के कल्याण के लिये किसी मनुष्य को नियत नहीं कर सकता ?

उत्तर—प्रथम तो परमेश्वर ही अब लों युक्ति से सिद्ध नहीं हुआ।

फिर यदि उसने सारे जगत के कल्याण के लिये किसी को भेजा था तो सब ने उसे अपना मार्गदर्शक क्यों न माना ? फिर जो काम ईश्वर ने उसके द्वारा सिद्ध किया क्या वह आप अपनी शक्ति मात्र से नहीं कर सकता था ?

फिर हम यह पूछते हैं कि किसी ने कोई और पुरुष ईश्वर का भेजा हुआ माना है और किसी ने कोई और। क्या वे सब ईश्वर ने भेजे थे अथवा उन में से किसी एक को। यदि समय-समय पर सब भेजे थे तो उन सबका कथन परस्पर विरुद्ध क्यों ? तथा सूर्य, चंद्रादि पदार्थ क्यों न समय-समय पर नये भेजे ? यदि कोई एक भेजा था तो उससे पूर्ववर्त्ती संसार का कल्याण कैसे हुआ और उस के मरने के पीछे क्या दशा हुई ? यदि कहो, उस के पूर्व परमेश्वर अपनी कृपा से लोगों का उद्धार करता था और उस के पीछे उसकी धर्म पुस्तको से लोगों का उद्धार होता है तो हम कहेंगे जिस कृपा से वह पहिले उद्धार करता था उस समय क्या वह कृपा पुरानी हो गई ! और जो तुमने पुस्तकों की बात कही, उन पर हमारे वे ही सब संदेह हैं जो प्रेषित पुरुषों पर हमने ऊपर किये हैं।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित

सत्यामृत-प्रवाहोत्तर भागे पराविद्यायां

वेदादिनिर्णयश्चतुर्थ स्तरङ्गः।

ॐ परम गुरवे नम

अथ सत्यामृतप्रवाह नाम ग्रंथस्य उत्तरभागः

अथ पञ्चम तरङ्गस्यारम्भः

अथ जीव निर्णयं व्याख्या स्यामः

प्रश्न—ईश्वर और वेदका निर्णय तो मैंने सुना अब जीवका निर्णय सुनाइये।

उत्तर—जीव का निर्णय हम बड़े आनन्द से सुनायेंगे कि जिसके न सुनने से लोगोंने उसे देह से कुछ भिन्न पदार्थ माना हुआ है।

प्रश्न—क्या आप जीवात्मा को देह का रूप ही समझते है जिस को सब विद्वान आज लों देहसे विलक्षण मानते चले आये। हमारी समझ में तो आत्मा ठीक देह से भिन्न पदार्थ है और लक्षण उसका यह है जिस के होने से देह में ज्ञान और क्रिया शक्ति दिखाई देती है वह वस्तु आत्मा तथा जीव है। वह देह मे नख से शिखा पर्यंत व्याप्त है उसका रंग रूप कुछ नहीं। जब वह देह से निकल जाता है देह काष्ठ पाषाण की नाईं जड़ रह जाता है फिर चाहे कोई देह को काट डाले चाहे दग्ध करे कुछ दुःख सुख प्रतीत नहीं होता। उस जीव के विषय मे गौतम मुनि ने यह सूत्र लिखा है :—

"इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्"

—न्याय०१।१।१०

अर्थ—सुखकी इच्छा, दुःखसे द्वेष, प्रयत्न और सुख, दुःख, ज्ञान ये छै बातें जीवात्मा के चिन्ह है। यद्यपि देह के साथ उसका तादात्म्य सम्बन्ध है तथापि वह देह का कोई अंग नहीं। यदि उस को देह का

कोई अंग मानो तो देह के न्यून अधिक और स्थूल कृश होने से आत्मा भी अवश्य न्यून अधिक और स्थूल कृश होना चाहिये। देह के साथ न उसकी उत्पत्ति है न विनाश है। वह एक स्वतंत्र द्रव्य है और उसका नाम जीवात्मा है। फिर आप उसे ऐसा क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—प्रथम तुमने कहा आत्मा वह है कि जिस के होने से देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देती है और जिस के निकल जाने से ज्ञान और क्रिया नष्ट हो जाती और देहको काटने फाड़ने का दुःख प्रतीत नहीं होता इत्यादि। इसका उत्तर हम यह देते हैं कि किसी उन्मादक वस्तु के सूंघने वा खाने पीने से जब मूर्च्छा वा अत्यंत उन्माद होता है, ज्ञान और क्रिया शक्ति तो देह में उस समय भी कोई नहीं रहती उस समय क्या तुम आत्मा को कहीं निकल गया मानते हो ? यदि निकल गया मानो तो मूर्छा और उन्माद के नष्ट होने पर फिर आत्मा का आगमन कहां से हो जाता है ? यदि कहो आत्मा के पास मन नाम एक इंद्रिय है जिसके द्वारा वह सुखादिकों को उपलब्ध करता है सो जब उन्मादक वस्तु ने मन को व्याकुल कर दिया तो आत्मा के ज्ञान क्रिया प्रतीत नहीं होते। तो सुनो, जब तुम इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान इस षट्क को आत्मा के गुण मानते हो तो सुखादि उपलब्धि का साधन-भूत मन नाम एक भिन्न वस्तु के मान लेने में क्या युक्ति है ? यदि कहो, आत्मा निकल नहीं जाता किंतु उन्मादक वस्तु के संयोग से उसके ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव हो जाता है तो हम कहेंगे उन्मादक वस्तुका संयोग देह के साथ हुआ है, आत्मा के साथ नहीं हुआ क्यों कि वह निरवयव है; फिर आत्मा के ज्ञान क्रिया का तिरो-भाव क्यों हुआ ? यदि कहो, आत्मा के इच्छा ज्ञानादि गुण देह के साथ मिल के प्रकट होते है सो आत्मा जो देह में व्याप्त है जिस वस्तु का संयोग देह के साथ हुआ उसका आत्मा के साथ भी अवश्य हुआ। तो हम पूछते है कि आत्मा तुमने संपूर्ण देह मे व्याप्त माना

उन्मादक वस्तु का संयोग जब हाथ पाव से होता है तो उस आत्मा के ज्ञान क्रिया का तिरोभाव क्यो नहीं होता ? क्या कारण है कि आत्मा व्याप्त तो सारे देह मे हो परंतु उन्मादक वस्तु का संयोग आत्मा के साथ केवल हृदय और नासिका में पहुँचने से माना जावे ? यदि कहो कि नासिका द्वारा हृदय और शिर मे उन्मादक वस्तु के पहुंचने से आत्मा के ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव इस हेतु से होता है कि उस देश मे आत्मा का निवास अधिक है तो इस कथन से तुम्हारे मत में कई दोष आयेंगे।

एक यह कि एक ही वस्तु का निवास एक ही समय हृदय और शिर दो स्थान में होना असम्भव है।

दूसरा यह कि जब-वह देह मे सर्वत्र व्याप्त है तो उन स्थानो में अधिक निवास क्योंकर मान लिया।

तीसरा यह कि शिरो भाग और हृदय भाग मे ही यदि आत्माका अधिक निवास है तो हस्त, पाद, कान, नेत्रादि के दुःख सुख की पूरी प्रतीति न होनी चाहिये।

चौथा यह कि शिरोभाग और हृदयभाग में भी किसी सूक्ष्म अंश के साथ आत्मा का संयोग मानना पड़ेगा कि जहां पहुँचने से उन्मादक वस्तु आत्मा के ज्ञान और क्रिया का तिरोभाव करती है। यदि यह माना तो हम कहेंगे उस सूक्ष्म अंशको ही आत्मा क्यो नही मान लेते कि जिस के साथ उन्मादक वस्तु का संयोग होने से संपूर्ण देह के ज्ञान क्रिया का तिरोभाव होगया। और उसी सूक्ष्म अंशके प्रफुल्लित और संकुचित होने का नाम जागृत स्वप्न और सुषप्ति तथा जीवन और मरण रक्खो। उस से भिन्न किसी अन्य वस्तु को आत्मा मान लेना गौरव है। उसी की यथार्थ स्थिरता वा साम्यावस्था से संपूर्ण देह मे प्रकाश है और वह देह का प्रधान अवयव है। वह विभु नही किंतु एक

देशी है। यदि कहो एक देशी है तो हाथ, पैर के सुख दुःख को कैसे जाना जाता है तो उत्तर यह है कि उन अङ्गों का परंपरा सम्बन्ध से हृदय के साथ सम्बन्ध है। जैसा कि हाथ कलाई के साथ सम्बद्ध है और कलाई कोहनी के साथ। फिर वह भुजा के साथ और भुजा स्कंध के साथ। स्कंध कंठ के संग लगा हुआ और कंठ छाती के संग तथा छाती हृदय के साथ लगी हुई है और हृदय का सम्बन्ध नाड़ी तन्तुओं के द्वारा शिर से है। अतः हृदय या शिर को सब का ज्ञान है। सीधी और सच्ची समझ तो यही है कि हृदय अथवा शिर का कोई सूक्ष्म अंश आत्मा है और ज्ञान उस का गुण है जो उक्त आत्मा के मुरझा जाने से नष्ट हो जाता है। यदि कहो हाँ, हृदय वा शिर के किसी एक देश में ज्ञान शक्ति ठीक है परंतु आत्मा पदार्थ फिर भी कुछ न्यारा है तो बताओ उस आत्मा का कौन-सा कार्य देह में है जिसको देख के उस का सद्भाव माना जावे।

फिर जो तुमने यह कहा था कि इसके निकल जाने से देह जड़ रह जाता है इसमें हम यह पूछते है कि इसको देह मे डालता कौन और निकाल कौन देता है। यदि कहो वह आपही देह में आता और आप ही निकल जाता है तो हम आने जाने का हेतु पूछेंगे कि किस हेतु से आता और किस हेतु से निकल जाता है। और यह पूछेंगे कि जीव तो सदा देह को स्थिर रखना चाहता है फिर वह निकल के इसको अस्थिर मृतरूप क्यों बना जाता है ?

यदि कहो, देह मे इसको डालना और वहा से निकालना ईश्वर के आधीन है तो पीछे ईश्वर के निर्णय में यह बात दृढ़ प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी कि ईश्वर कुछ वस्तु नहीं, केवल भयानक रोचक शब्द है। फिर अब कौन सा ईश्वर जाग उठा !

फिर जो तुमने यह पूछा कि आत्मा को देह का अंग मानने से

देहके स्थौल्य कार्श्य और न्यूनाधिक्य से उसको स्थूल कृश होना चाहिये इसका उत्तर भी यही है कि देह का स्थौल्य कार्श्य और न्यूनाधिक्य जब देह की उस दशा लो पहुँचे कि जहाँ हृदेश और शिरोभाग के उस सूक्ष्म अंश को कुछ फल हो तो आत्मा के ज्ञान क्रिया में भी हम अवश्य न्यूनाधिक्य देखते है। जैसाकि जन्म के समय आत्मा के छोटा होने के कारण उसके ज्ञान क्रिया भी छोटे होते है, युवावस्था मे वड़े होते है, और वृद्धावस्था में क्षीण हो जाते है। चाहे हृदयादि खंड के छोटे बड़े होने से इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान यह षट्क कुछ न्यून अधिक दिखाई देता है परंतु वीज इस षट्क का हृदयादि के साथ जन्म काल मे हो प्रकट हो जाता है क्योंकि स्वाभाविक गुण गुणी के सदा साथ ही रहते है जैसा कि जिह्वा का मासखंड चाहे छोटा हो परंतु रस ग्राहकत्व गुण उस का प्रथम से ही साथ होता है।

फिर जो तुमने यह माना था कि आत्मा की देह के साथ न उत्पत्ति है न विनाश, वह एक स्वतंत्र द्रव्य है। यह कथन भी तुम्हारा निर्वल है। देखो, देह के साथ यदि उसकी उत्पत्ति विनाश नही और वह स्वतंत्र द्रव्य है तो देह के बिना कहीं हम को दिखाना चाहिये क्योंकि जल से भिन्न स्वतंत्र द्रव्य अग्नि है सो हम दिखा सकते है। यदि कहो वह अभौतिक पदार्थ होने से इन नेत्र, कान, नासिका, त्वक. रसना से नहीं देखा जाता इसी हेतु से वह इन्द्रियों के अगोचर है तो जिन नेत्रो से दिखाई देता है और जिस इन्द्रिय से उसको तुमने विषय किया हमको भी वही अर्पित करो अर्थात् देह से भिन्न आत्मा को जिस रीति और युक्ति तथा जिस इन्द्रिय से तुम ने देखा वा समझा है वैसे हमें भी समझाओ वा दिखाओ। यदि कहो, तुम्हारी वुद्धि निर्मल नहीं। तो सुनो, प्रथम तो मैं विद्यावान हूं और सूक्ष्म पदार्थों को तुम से अधिक वा न्यून समझ सकता हूं। दूसरा युक्ति-सिद्ध सच्ची बात के मान लेने में मुझे कोई हठ नहीं। यदि फिर भी तुम मेरी वुद्धि को अनिर्मल कह

के पल्ला छुड़ाते हो तो देखो वह आकाश मे स्वर्ण का हाथी उड़ा जाता है। यदि कहो, हमें दिखाई नहीं देता और हाथी स्वर्ण का होना हमारी बुद्धि मे नहीं आता तो मै यह कहूंगा कि तुम्हारे नेत्र और बुद्धि निर्मल नहीं।

प्रश्न—आत्मा को देह से भिन्न जानने में यह युक्ति भी है कि देह पर यदि एक लकीर खैंच के उसी स्थान पर उसके ऊपर दूसरी लकीर वा छाप लगाई जावे तो पहली लकीर वा छाप मिट जायेगी परंतु आत्मा में किसी एक वात का ज्ञान होने से यदि दूसरी तीसरी वात को उसके सामने करें तो वह प्रथम ज्ञान भी वना रहता और दूसरी तीसरी वात का ज्ञान भी वना रहता है सो इस भाति देह और आत्मा के स्वभाव में विलक्षणता देख के दोनों का वैलक्षण्य दिखाई देता है।

उत्तर—हम यह तो नहीं कहते कि तुम अन्तरंग जीव को वाह्य देह समझो और वाह्य देह को अन्तरंग जीव समझो कि जिस पर लकीर का दृष्टात देना पड़ा। तात्पर्य हमारा यह है कि देह से भिन्न स्वतंत्र जीव की स्थिति युक्ति द्वारा सिद्ध करके हमें दिखाओ जिससे शास्त्र की वह वात सच्ची होजावे कि इस देह से पूर्व जीव ने जो २ कर्म किसी अन्य देह मे किये थे उनका फल यहां भोगता और यहा का आगे भोगेगा। देह से भिन्न वह क्या वस्तु है जो पहिले था और आगे को रहेगा। तुमने जो लकीर और ज्ञान का दृष्टात देकर देह और आत्मा का भेद सिद्ध किया यह दृष्टांत यहा विषम पडता है क्योंकि लकीर साव-यव पदार्थ है जो सावयव देह पर पड़े तो दूसरी लकीर को स्थान नहीं रहता परंतु ज्ञान कोई सावयव पदार्थ नहीं जो सावयव आत्मा मे पड़ने से दूसरी वस्तु के ज्ञान को स्थान न रहने देवे। फिर हम यह भी कहेंगे कि घट ज्ञान, पट ज्ञान, मठ ज्ञान कहने से घट पट आदिक

पदार्थों में भेद है किन्तु ज्ञान वस्तु एक ही है। वह ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक अनुभव रूप दूसरा स्मृति रूप। किसी वस्तु को प्रत्यक्ष में अनुभूत करना अनुभव ज्ञान है और अनुभूत पदार्थ को कालातर में स्मरण करना स्मृति है। सो ये दोनों ज्ञान-रूप होने से एक ही पदार्थ है इनके साथ लकीर का दृष्टात नहीं मिल सकता। फिर तुम यह बात भी स्मृत रखो कि ज्ञान को हम देह का गुण मानते हैं और देह को ही हमारे मत मे जीव या आत्मा मानते है। देह से भिन्न कोई पदार्थ आत्मा नहीं जिस पर तुम लकीर का दृष्टांत देते हो।

प्रश्न—क्या आप जीव का इस देह के पूर्व होना नहीं मानते और इस देह को छोड़ के किसी दूसरी देह मे जाना सच नहीं जानते ?

उत्तर—इतना तो मानते है कि इस देह के पूर्व पिता की देह का जीव वर्त्तमान था परंतु हम यह नहीं मानते कि पुत्र की देह का जो जीव है वह पिता की देह से भिन्न अन्य स्थान में पहिले ही वर्त्तमान था अथवा पिता की देह का जीव ही पुत्र की देह में आ गया है। यदि किसी अन्य स्थान का जीव अन्य स्थान में आता जाता है तो कोई युक्ति प्रमाण कहो। और यदि पिता की देह का जीव पुत्र की देह मे आ जाता है तो संतान को उत्पन्न करके पिता को जीते न रहना चाहिये। हम तो जीव को अग्नि के तुल्य समझते है। जैसे अग्नि के साथ ईंधन मिलाने से उस ईंधन मे वह सारा अग्नि आ-जाने से भी वह पहिला अंगार बुझ नहीं जाता वैसे पुरुष के साथ स्त्री का संयोग होने से नख से शिख पर्य्यन्त सारा पुरुष उसमें आ जाने पर भी पूर्व पुरुष मृत नहीं हो सकता। क्योंकि वीर्य्य रूप में व्यक्ति का एकाश ही उसमें जाता है और उसी गर्भ मे वृद्धि होकर संतान रूप मे दूसरा व्यक्ति बन जाता है। अथवा एक दीपक से दूसरा दीपक जलाने पर जैसे पहला दीपक बुझ नहीं जाता वैसे ही एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति उत्पन्न होकर भी पहला मर नहीं जाता।

प्रश्न—अन्य स्थान से जीव का आना जाना क्या इस युक्ति से सिद्ध नहीं होता कि संसार में जो जीवों की अनेक दशा देखी जाती है ये पूर्व कर्म के अधीन है और पूर्व कर्म जीव ने किसी पूर्व देह मे किये होंगे जिस के मिट जाने से भी जीव पदार्थ मिट नहीं सका किन्तु यहाँ दूसरे देह मे आ-प्राप्त हुआ। जैसा कि कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई पंडित, कोई मूर्ख है इस तारतम्य का कारण इसके बिना और कुछ समझ मे नहीं आता कि ये सब जीव इस जन्म के पूर्व किसी अन्य देह में वर्त्तमान थे जिसने वहाँ जैसा कर्म किया वैसा फल यहाँ आ-पाया। और यहाँ जैसा करेंगे वैसा आगे पायेंगे ?

उत्तर—यहाँ के तारतम्य के हेतु जब यहाँ ही दिखाई दें तो पूर्व कालीन कर्म और पूर्व काल मे जीवों की स्थिति मान लेने मे क्या कारण है जैसा कि देखो यहाँ के तारतम्य के हेतु हम यहाँ ही दिखाते है। सुनो :—

यहाँ के दु:ख सुख दो प्रकार के होते है—एक कायिक, दूसरे मानसिक। सो कायिक दुःख और सुखों का हेतु तो खान, पान, शीत, उष्ण, रोग, भोग तथा अनुकूल प्रतिकूल पदार्थों का संयोग वियोग होता है। और मानसिक दु:खों कारण अज्ञान, अभिमान, राग-द्वेष, तृष्णा, भय, क्रोधादिक औगुन होते हैं। और मानसिक सुखोंका कारण इनके विपरीत श्रेष्ठ गुणों का संचय होता है। इसी प्रकार विद्या बुद्धि, प्रयत्न, बल, रूप तथा संयोगादि कई एक गुण मनुष्य को धनवान बनाने का मुख्य कारण है। सद्धर्म और सदभ्यासादि श्रेष्ठ गुण विद्वान बन जाने का कारण हैं। यदि इन से विपरीत कोई अन्य कारण हो तो बताओ।

प्रश्न—अनेक स्थानों मे आप के बताये हुए कारण विद्यमान होते है तो भी कायिक और मानसिक सुख दु:ख देखे नहीं जाते और कहीं

कहीं उन कारणों में से एक भी वर्त्तमान नहीं होता पर सुख दुःखादि अवश्य होजाते है। इस व्यतिक्रमका क्या कारण है। जैसाकि देवदत्त ने सारा आयु उद्यमादि किये, पर धनादि पदार्थ प्राप्त नहीं हुए और यज्ञदत्त बिना ही उद्यम के धनवान हो गया इत्यादि स्थानों में क्या पूर्व कम को प्रधानता नहीं आती ?

उत्तर—हम कभी अंगीकार नहीं करते कि पूर्वोक्त हेतुओ के अभाव मे धनादि पदार्थों का भाव और उनके भाव में धनादि का अभाव कहीं हुआ हो। यदि हुआ भी होगा तो इन्हीं में से कोई और दृष्ट कारण वहां निकलेगा पूर्व अदृष्ट कर्म उसका कारण नहीं।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि किसी पुरुष के सिर पर अचानक छत्त गिरने अथवा अचानक किसी ईंट पत्थर के लगने का दुःख और कहीं मार्ग मे से अचानक धन प्राप्ति रूप सुख उसे मिल गया कि जिसके निमित्त उसने कुछ उद्यम और यत्न नहीं किया था ?

उत्तर—यह तो प्रत्यक्ष पड़ी बात है कि वह उस छत्त के नीचे बैठा था कि जो पहिले ही किसी हेतु से अत्यन्त निर्बल हो रही थी। और वह उस ईंट वा पत्थर के आगे आ गया जो उस प्रदेश को छूटा हुआ था। यदि कहो, उसने उस दुःख सुख के लिये कुछ उद्यमादि नहीं किये थे तो हम पीछे ज्ञान को सुख का कारण कह चुके है। सो जब ज्ञान को सुख की कारणता है तो अज्ञान को दु ख की कारणता हुई। सो उस जन को जो इस बात का अज्ञान था कि छत्त टूटी हुई है अथवा इधर को ईंट पत्थर छूटा हुआ है अत. उसको दुःखी होना पड़ा।

मार्ग मे चलते-चलते जो उसे धन का मिलना कहा इसमे भी वही कारण है कि वह उस मार्ग मे चल रहा था कि जहा धन पड़ा था। फिर हम यह भी कहते है कि यदि उसका ध्यान न पडता तो उस मार्ग मे चलना भी कुछ फल न करता। यदि फिर भी यही कहो कि पूर्व कर्म

के अनुसार उसे वह धन मिलना ही था तो मैं इस बात को तब सच मानूं कि यदि वह मनुष्य किसी अन्य मार्ग में चले और वह धन यहा से चलके वहां ही जा पड़े।

प्रश्न—आपने ज्ञान, प्रयत्न, संयोग और सदभ्यास आदिकों को धनवान और विद्यावान होने का कारण माना, भला यदि हम यह मानें कि जिसने वह सदुद्यम और सदभ्यास करने का उत्साह अथवा इनका विनाशक आलस्य मन में डाला वह पूर्व कर्म है तो इसका उत्तर आप क्या देते हैं ?

उत्तर—इसका उत्तर यही है कि मनुष्य का मन दो स्वभाव सदा से रखता है। एक यह कि कभी किसी काम का उद्यम करना और दूसरा यह कि कभी किसी काम मे आलस्य करना। सो यदि इन दोनों स्वभाव में से कोई एक बात आगे आ गई तो यह मन का स्वाभाविक धर्म है इसमें पूर्व कर्म को कुछ कारणता नहीं।

प्रश्न—इसमे क्या हेतु कि एक ही उद्यम दो पुरुष करते है एक को फल होता है दूसरे को नहीं होता अथवा न्यून अधिक फल होता है ?

उत्तर—जिसको फल नहीं हुआ अथवा थोड़ा फल हुआ उसके उद्यम मे कुछ हानि है जैसाकि एक पुरुष सूई से माटी खोदता है दूसरा कसी से। सारा दिन समान उद्यम करने पर भी सूई वाले के पास कसी वाले के तुल्य माटी इकट्ठी नहीं होगी। क्योंकि यद्यपि उद्यम दोनों का समान है परन्तु उद्यम के साधन मे अन्तर है अर्थात् सूई छोटी और कसी वडी है। हम सच कहते है कि संसार के सुख दुःख तथा समस्त कार्य यहां के कर्म का ही फल है पूर्व कर्म मानने में गौरव है।

प्रश्न—क्या गौरव है, उलटा हम तो यह देखते हैं कि सम्पूर्ण दुःख सुख तथा समस्त कार्यों की सिद्धि को पूर्व कम पर छोड़ने से परम संक्षेप और शांति हो जाती है।

उत्तर—यदि सब दु ख सुखादि को और यहां के इच्छा, प्रयत्न, उद्यमादि को पूर्व कर्म के अनुसार मानें तो एक भारी गौरव यह है कि फिर आगामी कर्म कोई सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि किसी पूर्व कर्म के बल से हमने यहां चोरी वा दान किया। अब वह चोरी और दान तो किसी पूर्व कर्म का फल था जो अवश्य होनहार था फिर इसका फल आगे क्या होगा। इसी प्रकार और भी कोई कर्म आगामी नहीं बन सकता। दूसरा यह गौरव है कि पूर्व कर्म मानने में संदेह बहुत खड़े होते है जैसा कि वह पूर्व कर्म किसी अन्य पूर्व कर्म का फल था फिर उसने इस जन्म में फल कैसे दिया क्योंकि उसको प्रारब्ध रूप होने से तुम भोग से क्षय होना मानते हो। अर्थात् जब वह भोग देके क्षय हो चुका तो आगे को कुछ फल नहीं दे सकता था इत्यादि। तीसरा यह गौरव है कि यदि सब कुछ पूर्व कर्म के अनुसार ही है तो हम यहा के कर्म का फल यहां ही क्यो देखते है जैसा कि अब सूई चुभो लें तो अभी दुःखी हो जाते है और अब मुख में शर्करा डाल लें तो हम अभी ही मुख मीठा देखते है। फिर आज बीज वोयें तो कल को उसका अंकुर निकल आता है। और आज के भोजन से आज ही तृप्ति हो जाती है। और आज किसी मार्ग में चलना आरम्भ करें तो कल वहा पहुंच जाते है इत्यादि। यदि कहो सूई तब ही चुभोई जो कर्मानुसार उसका दु ख होनहार था और शर्करा तब ही मुख में पड़ी जो मुख ने मीठा होना ही था। इसी प्रकार बीज का डालना और किसी वस्तु का खाना भी तभी हुआ कि जो वह अंकुर निकलना और तृप्ति का होना उसके पूर्व कर्मानुसार अवश्य होनहार था। तो सुनो, दुःख होने में सूई का चुभना और मुख मीठा होने मे शर्करा का खाना और अंकुर निकलने में बीज का डालना और तृप्ति होने में भोजन का करना इत्यादि कार्य और कारण तो प्रत्यक्ष दिखाई देते है परन्तु इस परोक्ष बात को हम कैसे मान लें कि वह सूई किसी पूर्व कर्म ने चुभोई है।

फिर हम यह पूछते हैं कि पूर्व कर्म ने सूई चुभोई थी वा सूई चुभने का दु:ख पहुँचाया था ? यदि कहो, पूर्व कर्म ने केवल सूई ही चुभोई थी तो उस दुःख का कारण कोई और कर्म मानना पड़ेगा। और यदि सूई चुभने और दुःख पहुँचने का कारण एक ही कर्म को मानते हो तो उस कर्म को उन दो व्यवहारों का ही कारण क्यो मानते हो किन्तु अनन्त व्यवहारों का मानो। जैसे कि सूई से दुःख हुआ, दु:ख से व्रण हुआ, व्रण से ज्वर हुआ, ज्वर से वैद्य के आगे दीनता की, तथा वैद्य को कुछ द्रव्य देना पड़ा। उससे ज्वर की निवृत्ति हुई फिर विविध भोग भोगे इत्यादि। अब हम यह पूछते है कि वह पूर्व कर्म सूई के दुःख का ही हेतु है अथवा इन भोगों के सुख का जनक तथा वैद्य को कुछ दिलाने का हेतु भी है।

फिर हम कहते है कि पूर्व कर्मों के अनुसार जिन जीवों को पशु-पक्षी आदिक देह प्राप्त हुए वह भक्ति ज्ञान से हीन होने के कारण परम सुख मोक्ष के भागी तो हो ही नही सकते फिर उन पर ईश्वर की करुणा क्या हुई जिसके कारण तुम उसका नाम करुणा-निधान दयासागर रखते हो। यदि कहो, उनको जो-जो खान-पान विषय भोगादि सुख प्राप्त होते है वह ईश्वर की करुणा से है तो उस सुख को जब तुम पूर्व कर्म का फल मानते हो तो करुणा कहा रही।

प्रश्न—मनुष्यादि देहो मे कोई सुख दुःख तो पूर्व कर्म के अनुसार होते हे और कोई यहा के कर्म से होते है ऐसा मानने मे क्या दोप है ?

उत्तर—पूर्व कर्म के अनुसार जो २ दुःख सुख होते है उनका तुमको नाम रखना चाहिये। और जो यहां के कर्म क अनुसार होते है वे भी बताने चाहियें क्योकि जब लों यह निर्णय नही होता, संदेह की निवृत्ति नहीं होती। हम कोई सुख दुःख पूर्व कर्म के अनुसार होता नहीं देखते किन्तु सब कुछ यहां के कर्मानुसार ही होता प्रतीत होता है। हां, इतनी

बात जरूर है कि कोई सुख दुःख स्वकृत कर्म का फल है और कोई पर-कृत का फल है। स्वकृत कर्म का फल यह है कि हमने जल पिया और तृप्ति हो गई। परकृत कर्म का फल यह है कि हमको किसी अन्य का संचित धन अकस्मात् प्राप्त हो गया।

प्रश्न—अन्य के किये कर्म का फल यदि आपको प्राप्त होता है तो अन्य के जल पीने से आपकी तृप्ति क्यों नहीं हो जाती। और जिसने धन संचित किया उसको कुछ न मिला और आपने कुछ उद्यम नहीं किया तो भी मिल गया इसमें अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश ये दो दोष आपके मत मे आयेंगे इसका उत्तर क्या है ?

उत्तर—प्रथम तो हम यह कहते है कि अकृताभ्यागम और कृत-विप्रणाश इन दोनों दोष के आ जाने से हमको क्या कलंक लगता अथवा कौन-सा रोग उत्पन्न होता है और फिर हम यह कहते है कि कोई कर्म तो ऐसे है जिनका फल कर्त्ता के सिवाय किसी अन्य को नहीं मिलता जैसा कि जिसने जल पिया तृषा उसी की मिटेगी। और कोई कर्म ऐसे है जिसका फल कर्त्ता को भी पहुंचता और किसी अन्य को भी पहुँच जाता है जैसा किसी ने धन इकट्ठा किया तो कोई न कोई मान उत्साह भोगादि फल कर्त्ता को भी अवश्य पहुँचा और फिर यदि किसी अन्य के हाथ आ गया तो कोई न कोई फल उसको भी अवश्य पहुँचावेगा। और कोई कर्म ऐसे है जिनका फल कर्त्ता को नहीं होता किंतु अन्य को हो जाता है जैसा कि किसी ने ईंट पत्थर वा बाण छोडा और किसी अन्य के जा लगा। अथवा कोई खेत बो के मर गया और उस खेत को किसी अन्य ने खाया। यद्यपि गिनती में वह खाने वाला जीव बोने वाले से भिन्न है परन्तु जड़ को देखे तो उसका रूप ही है क्योकि वे दोनों ही पंचभूत से उद्भूत है।

कर्मों का पूर्वोक्त भेद जब तुम समझ लोगे तो अकृताभ्यागम और

कृतविप्रणाश रूप दोष हमारे मत पर कभी नहीं लगा सकोगे; क्योंकि हम यह कभी नहीं कहते कि किसी को अकृत कर्म का फल लगता हो जब लगेगा किये हुए कर्म का फल ही लगेगा चाहे आप करे चाहे कोई और करे। यह भी हम कभी नहीं कहते कि कृतविप्रणाश हो जाता है; किन्तु यह कहते हैं कि किये कर्म का फल अवश्य होगा। चाहे वह हो, जो उसने चाहा था और चाहे कुछ और हो, जिसको उसने नहीं चाहा था।

प्रश्न—जिस फल को उसने चाहा वह न होना और जिसको नहीं चाहा उसका होना इसमें क्या कारण है?

उत्तर—कभी २ तो यह कारण है कि उसने कर्म का फल अज्ञान से कुछ माना हुआ तो और था, परन्तु हुआ वह कि जो उस कर्म से हुआ करता है। जैसा कि किसी ने स्वर्ग लोक मे जाने के लिये कुछ दानादि किये। सो स्वर्ग लोक तो कहीं बसता ही नहीं परन्तु दानादि से सुकीर्ति और दाता भोक्ता के मन की प्रसन्नता रूप फल हुआ करता है वह उसको हो गया।

कभी २ वांछित की अप्राप्ति और अवांछित की प्राप्ति मे किसी बाधक व्यवहार का आ पड़ना कारण होता है जैसाकि देवदत्त छुरी से लेखिनी बनाता था, दृष्टि के उखड़ जाने से अंगुली कट गई जिसको वह नहीं चाहता था। सो बस, कर्म का वांछित-फल न मिलने और अवांछित के मिल जाने में ज्ञान, अज्ञान और बाधक साधक व्यवहारों का आ पड़ना कारण है और कोई कारण नहीं हो सकता। यदि हो सकता है तो युक्ति से सिद्ध करके दिखाओ।

एक बात हम तुमको और पूछते हैं कि प्रलय काल में समस्त जीवों की दशा समान होती है वा भिन्न-भिन्न? यदि समान होती है तो उसका नाम सुख है वा दु:ख? और वह सुख दुःख किसी कर्म का फल है वा स्वतन्त्र? यदि कर्म का फल है तो सबके कर्मों का समान होना

असंभव है। और यदि स्वतन्त्र है तो आज के सुख दुःख को पूर्व कर्म के आधीन क्यों मानते हो, स्वतन्त्र ही मानो।

यदि प्रलय काल में समस्त जीवों की भिन्न २ दशा मानते हो तो इसमें कोई प्रमाण अपने शास्त्र का दो। फिर हम एक और बात पूछते हैं कि यदि यहां के कर्म का फल जन्मांतर में होता है तो इस बात का उत्तर क्या दोगे कि देवदत्त ने तृषातुर यज्ञदत्त को जल पिलाया, सो वह जल पिलाने रूप क्रिया तो उसी समय नष्ट हो गई कि जब जल पिला चुका। फिर उस अभाव रूप कर्म से जन्मांतर में भाव रूप फल की उत्पत्ति कैसे हो जावेगी! यदि नष्ट और अभाव से भी तुम भाव की उत्पत्ति मानते हो तो मृत पिता से पुत्र की उत्पत्ति तुमको माननी पड़ेगी। यदि कहो कि कर्म का फल धर्म अधर्म रूप हो के आत्मा में संस्कार को छोड़ जाता है तो पूर्व कालीन पठित विद्या का संस्कार जीव को दूसरे जन्म में होना चाहिये। फिर जब देह से भिन्न जीव कुछ वस्तु ही नहीं और देह मृत्यु के समय नष्ट हो गया तो पूर्व कर्म के धर्माधर्म जन्य संस्कार के रहने को कौन स्थान है। यदि कहो, किया हुआ कर्म ईश्वर के ज्ञान मे स्थित रहता है और वह उसका फल जीवों को देता है तो पहले ईश्वर का होना युक्ति से सिद्ध करो। दूसरा इससे ईश्वर की स्वतन्त्रता दूर हो जावेगी; क्योंकि वह जीवो को कर्म फल देने से किसी प्रकार रुक नहीं सकता। जीवों के कर्म और उनके फल देने के काल अनन्त है फिर कोई काल ऐसा नहीं निकलेगा कि जब ईश्वर स्वतन्त्र होके चैन से बैठे। यदि कहो स्वतन्त्रता तब नष्ट हो जो वह कर्म का फल नित्य २ देवे। उसने एक वार संकेत कर छोड़ा है कि जो जन जैसा कर्म करेगा वैसा फल पावेगा। तो सुनो, प्रथम तो वह कहा है फिर संकेत क्यों किया तीसरा यदि वह कर्म का फल तुरन्त देता तो कोई जन पाप न करता जैसा कि साप को छेड़ने का फल जो तुरन्त मिलता है कोई उसे हाथ नहीं लगाता।

प्रश्न—कर्म को ही स्वतन्त्र फल प्रदाता माने तो क्या हानि है ?

उत्तर—एक तो बड़ी भारी हानि यही है कि कर्म का अभाव हो गया हुआ है उसने भाव रूप फल को कैसे उत्पन्न किया। दूसरी यह हानि है कि कर्म एक जड़ पदार्थ है उसने जन्मातर में अपने कर्त्ता को कैसे पहचाना।

प्रश्न—यदि कर्म का अभाव हो जाता हो और भाव रूप फल को उत्पन्न न करे तो इस वातका क्या कारण है कि किसी ने अव विप भक्षण रूप कर्म किया और चार घड़ी के पीछे मृत्युरूप फल उत्पन्न हो गया ?

उत्तर—मृत्युरूप फलको उस भक्षणरूप कर्म ने उत्पन्न नहीं किया किंतु विप और उदर के संयोग ने किया जो मृत्यु के समय लों वहां विद्यमान रहता है। हा, इतना सत्य है कि भक्षणरूप कर्म वहा परम्परा संवन्ध से मृत्युरूप फलका जनक है क्योंकि उसने अपने होते ही संयोग को उत्पन्न किया और संयोग ने मृत्यु को उत्पन्न किया।

प्रश्न—फिर यहां भी ऐसा ही क्यों नहीं मानते कि पूर्वजन्म के कर्म ने धर्म अधर्म रूप फल को उत्पन्न किया और उसने परम्परा संवंध से इस जन्म मे सुख दु ख रूप फल को उत्पन्न कर दिया ?

उत्तर—विप भक्षणरूप कर्म से विप और उदर का संयोग हुआ था और वे दोनो वर्त्तमान पड़े थे। यहा पूर्व जन्म के किये कर्म मे वह व्यवस्था पूरी नहीं आती। जैसा कि किसी जल वा अन्न दान रूप कर्म जो तुम ने पूर्व जन्म मे किया था उसका संयोग भोक्ता के हाथ और उदर के संग हो के उसे प्रसन्न तो करेगा परन्तु यह वात किस युक्ति से सिद्ध होती है कि जिस हाथ और उदर के साथ उस अन्न जल का संयोग हुआ था उसके चिता में दग्ध हो जाने से भी वह अभाव रूप कर्म तुम को जन्मांतर मे फल देगा। हम सच कहते हैं कि जब न दाता

रहे न भोक्ता तब जन्मान्तर में फल किसको प्राप्त होगा। ये सब जीते जी की बातें हैं जो कर्म करोगे कुछ न कुछ फल उसका यहां ही पाओगे आगे कुछ नहीं जावेगा।

प्रश्न—तब तो किसी को सुखी करने का क्या प्रयोजन है और दुःखी करने में भय किसका है क्योंकि आगे को तो कुछ फल होता ही नहीं ?

उत्तर—आगे कुछ मिलो वा न मिलो, परन्तु यदि तुम किसी को सुख दोगे तो तुम को यहां ही सुख मिल जावेगा और दुःख दोगे तो यहा ही दुःख प्राप्त हो जावेगा। अर्थात् सुख दोगे तो वह सुखी पुरुष तुम को सुखी करेगा अथवा जगत मे सुकीर्त्ति होगी अथच तुम्हारा मन प्रसन्न होगा दुःख देने से इसके विरुद्ध फल होंगे और तुम दुःखी होगे। जिस प्रकार से तुम पूर्व कर्म का फल यहा चेतन मात्र को होता समझते हो वह तो किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होता, परन्तु संचित, प्रारब्ध, आगामी कर्म की व्यवस्था जो कुछ हमने पीछे लगाई थी उस प्रकार से पूर्व कर्म के मान लेने मे हम को कुछ भी हठ नहीं क्योंकि उसको हम सदा फल देता देखते है। अर्थात् पिता के देह मे किया कर्म जो पुत्र रूप हो के भोगता है वह संचित कर्म है, सवेरे किया जो सांझ को भोगे वह प्रारब्ध और आज किया जो कल भोगेंगे वह आगामी कर्म है। अन्य कल्पना सब झूठी है। कर्म का फल प्रदाता ईश्वर कोई नहीं, किंतु परम्परा संबंध से कर्म आप ही अपने फल को उत्पन्न करता है जैसा कि विष भक्षणरूप कर्म ने विष और उदर संयोग को उत्पन्न किया और उसने मृत्यु को इत्यादि।

प्रश्न—हमारे माने हुए पूर्व कर्म को तो आपने भला उड़ाया। अब प्रसंग मे आइये कि देह से आत्मा को भिन्न और विलक्षण पदार्थ मान लेने मे हानि क्या होती है ?

उत्तर—असत्य बात को सत्य मान लेने में जो-जो हानियां है वे सब प्रसिद्ध है अधिकन्तु जीव को देह से भिन्न मानने में बड़ी भारी हानि एक यह है कि उसको परलोक दंड से बचाने और परलोक सुख की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के उपताप और कष्ट सहारने पड़ते है। जैसा कि देखो, कोई अन्न जल को तज के दुग्धाधार से रहता और कोई जल धारा और पंचाग्नि के दुःख को सहता है। कोई दु खोपार्जित द्रव्य को वृथा लुटाता और कोई आवश्यक सुख भोग और पदार्थों के अत्यन्त त्याग में अपने अलभ्य आयु को गंवाता है इत्यादि।

प्रश्न—क्या आप परलोक के सुख दुःख भी नहीं मानते ?

उत्तर—पिता को पुत्र रूप बन जाना परलोक तो हम भी मनते है कि जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है परन्तु यदि मृत्यु के अनंतर किसी ऊपर, नीचे या इसी लोक मे जीव मात्र के जाने का नाम परलोक-यात्रा है तो उसे हम कैसे मान लें क्योंकि पहले देह से भिन्न जीव का होना ही किसी युक्ति से सिद्ध नहीं होता फिर देह को छोड़ के आगे जाना किसका माना जावे।

प्रश्न—आप यदि देह ही को जीवात्मा मानते है तो बताइये तो सही यह जो देह मे चेतन वस्तु है वह क्या है कि जिसके आश्रय देह में ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति दिखाई देती है ?

उत्तर—हम देह को जीवात्मा नहीं मानते किन्तु देह ही मानते है; परन्तु जैसे देह के अन्तर्गत अंगों के नाम भिन्न-भिन्न हाथ, पांव, कान, नयन, नासा शिर, प्रभृति बोले जाते है वैसे ही हम एक अंग का नाम जीवात्मा मानते हैं कि जिसका नाम हृदय है और छाती के नीचे कुचों के मध्य मे निवास करता और मास का एक खण्ड है कि जिसके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख, ज्ञान, ये छै गुण है।

प्रश्न—उस हृदय खण्ड का उपादान कारण आप क्या मानते हैं ?

उत्तर—पिता का वीर्य्य हम सारे देह का उपादान मानते हैं सो देह के ही एक देश का नाम जो हृदय खण्ड है इस हेतु से उसका उपादान भी हम वीर्य्य को ही मानते है।

प्रश्न—वीर्य्य तो एक जड़ पदार्थ है उससे इच्छा, द्वेषादि षट् गुण विशिष्ट हृदय खण्ड कैसे उत्पन्न हो गया ? और देह में जो नेत्र, मुख, नाक, कान आदिक अंगोपाग किसी काम के निमित्त बने हुए दिखाई देते हैं उनको नियम सहित स्थापन करने की शक्ति उस जड़ पदार्थ में कैसे हुई ?

उत्तर—वीर्य्य दशा में तो उसमें अस्थि, मास, रुधिर, त्वचादि पदार्थ भी दिखाई नहीं देते परन्तु ज्यों-ज्यों उसमें अवस्थांतर पड़ता जाता है त्यों-त्यों उसमें से वह सब कुछ प्रकट होता जाता है जो पिता के देह में अस्थि, मास रुधिर, प्राण, कान, मुख, हाथ, पाव, नाभि, हृदय आदिक अंग उपाग तथा उनके इच्छा द्वेषादि गुण हुआ करते है। देखो, कारणरूप बेरी के वृक्ष में जो-जो मूल, खंभ डाल, पत्र, कांटा पुष्प, फल, रसादि पदार्थ सनातन से वर्त्तमान है कार्य्य रूप बेरी में भी वे अपने आप प्रकट हो जाते है इसमें कोई नियामक नहीं।

प्रश्न—तब तो पिता का संपूर्ण देह पुत्र देह का उपादान मानना पड़ेगा आप वीर्य्य मात्र को उपादान क्यो मानते है ?

उत्तर—वह वीर्य्य जो पिता के समस्त देह का निचोड़ है इस हेतु से यदि पिता के समस्त देह को पुत्र के देह का उपादान मान लें तो कुछ आश्चर्य तो नहीं परन्तु माता की योनि में जो केवल वीर्य्य मात्र प्रवेश करता है इस कारण से पुत्र के देह का उपादान उसी को मानना श्रेष्ठ है। उस वीर्य्य जन्य पुत्र देह मे जो अंगोपांग तथा इच्छा द्वेषादि युक्त हृदय खण्ड प्रकट हो जाता है वह किसी अन्य का बनाया हुआ

नहीं किंतु उससे वही कुछ बना करता है जो वन गया। यद्यपि कारण रूप वेरी का सारा वृक्ष परम्परा संवन्ध से कार्य्य रूप वेरी का उपादान है तथापि कारण रूप वेरी का बीज मात्र फलित पदार्थ जो पृथ्वी में गाड़ने से कार्य्य रूप वेरी वन जाता है अत उस वीज पदार्थ को उपादान मानना श्रेष्ठ है न कि पूर्व वेरी के सारे वृक्ष को।

प्रश्न—यदि वीर्य्य को पिता के देह का निचोड़ मानते है तो जिस पिता का नेत्र भंग वा हाथ पांव कटा वा टेढ़ा-तिरछा हो उसके वीर्य्य से वैसा ही पुत्र उत्पन्न क्यों नहीं होता?

उत्तर—सृष्टि के आरम्भ मे जिस जाति के वीर्य्य मे जिस प्रकार के अंग-ढंग वनने का वल था अव भी वह वैसे ही अंग-ढंग रूप को धारण करता है। पीछे से जो विकार किसी देह मे उत्पन्न हो जाते है वे पुत्र के देह मे साथ नहीं आते। हाँ, जिन भौतिक विकारों का प्रवेश वीर्य्य तक हो जाता है वे विकार पुत्र देह मे भी अवश्य जाते है। जैसाकि अर्श और कुष्टादि विकार है।

प्रश्न—वीर्य्य को पिता के देह का निचोड़ वा उसका रूप क्यो मानते है वह तो अन्न का निचोड़ वरन् अन्न का रूप प्रतीत होता है। क्योंकि अन्न के न मिलने से वीर्य्य की उत्पत्ति देखी नहीं जाती। अन्न नाम यहाँ किसी मुख्य वस्तु का नहीं किन्तु जो-जो पदार्थ खान पान मे आते है उन सब का नाम अन्न है?

उत्तर—हाँ, यह वात सत्य है कि वह अन्न का रूप है क्योंकि अन्न का अवस्थान्तर है। अवस्थांतर उसको कहते है कि जो दुग्ध से दधि की नाईं अन्य अवस्था को धारण कर ले किन्तु वास्तव मे वही हो। जैसा कि अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिरसे मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से सप्तम अवस्था में अन्न का ही नाम वीर्य्य वोला जाता है। यदि अन्न प्रथम अवस्था मे ही वीर्य्य रूप

हो तो स्त्री की योनि में रखने से पुत्र का देह बन जाना चाहिये। फिर अन्न में जो इच्छा द्वेषादि षट्क दिखाई नहीं देता पुत्रकी देह में भी न आना चाहिये क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं कार्य्य में वेही प्रकट हुआ करते है अन्यथा नहीं होते। हां, इतना सत्य है कि अन्न क्या वरन् परम्परा संबध से पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश, ये पाचों तत्त्व देह का रूप तथा देह की स्वस्थता और स्थिति का कारण दिखाई देते है। इसी कारण उनको वीर्य्य तथा पुत्र देह का कोई एक आचार्यो ने उपादान कारण माना है परन्तु हमारी समझ में वे उपादान नहीं बन सकते क्योकि उपादान वह होता है जो मुख्य कारण हो वे सब गौण है।

प्रश्न—आप ने कहा अन्न में इच्छा द्वेषादि षट्क न होने से इच्छादि षट् गुण विशिष्ट पुत्र देह उसका कार्य नहीं माना जा सकता। इसमे हमें यह शंका होती है कि इच्छा द्वेषादि षट्गुण तो वीर्य्य मे भी दिखाई नहीं देते फिर तज्जन्य पुत्र देह मे कहा से आगये ?

उत्तर—बेरी के बीज मे चाहे डाल, पुष्प, फल, काटे उसकी बीज दशा मे दिखाई नहीं देते परन्तु ज्ञान दृष्टि से विचारो तो वह सबकुछ उसमे विद्यमान है कि जो बेरी के वृक्ष मे सदासे होता चला आता है। यदि उसमें न होता तो तज्जन्य बेरो मे कहां से आजाता। इसी भांति वीर्य्य में भी वह सब कुछ गुप्त विद्यमान है जो पिता की देह मे सदा से चला आता है यदि न होता तो पुत्र की देह में कहा से आ जाता।

प्रश्न—बहुत लोग कहते है कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी के जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच गुण है इनका ग्रहण तब ही हो सकता है जो आकाशादि पंचभूत के पांच ज्ञानेंद्रिय देह मे निवास करते हैं। जैसाकि आकाश के शब्द गुणका ग्राहक देह मे आकाश

से वना हुआ श्रोत्र इन्द्रिय वसता है और वायु के स्पर्श गुण का ग्राहक वायु से वना हुआ देह मे त्वक् इन्द्रिय वर्त्तमान है। इसी प्रकार अग्नि का रूप-ग्राहक चक्षु इन्द्रिय और जल का रस-ग्राहक रसना इन्द्रिय और पृथ्वी से वना हुआ उसके गंध गुण के ग्रहण करने वाला घ्राण इन्द्रिय देह मे निवास करता है सो वे पाच ज्ञानेंद्रिय देह में इस भांति न्यारे रहते हैं जैसे कि आत्मा देह से न्यारा रहता है। इस स्थल में आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—इंद्रिय रूप वन जाना पंचभूत का स्वभाव अपने आप है अथवा किसी के वनाये वनता है ? यदि आप वने तो जड़ मे यह विचार कहां कि शब्द का ग्राहक श्रोत्र वन जावे वा रूप का ग्राहक चक्षु वन वैठे। यदि कहो किसी अन्य के वनाये वनते है तो किस के ? क्या यहा फिर कोई ईश्वर मानना चाहते हो जिस पर अनेक संशय खड़े हो जायंगे कि जिन को तुम ईश्वर निर्णय मे पीछे सुन चुके हो। हम सच कहते है कि देह से भिन्न इंद्रिय-पंचक कोई पदार्थ नहीं और न कोई पदार्थ आत्मा है किन्तु कान, नयन, नासा द्वारा हृदय खण्ड ही शब्दादि को ग्रहण करता है।

प्रश्न—भला ऐसा मानने मे क्या हानि है कि क्षिति, जल, तेज, मरुत ये चार द्रव्य नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार के होते है। परमाणु रूप तो नित्य हैं और कार्यरूप अनित्य है जो शरीर इन्द्रिय और विषय भेद से तीन-तीन प्रकार के वन रहे है ?

उत्तर—ऐसा मानने मे यही हानि है कि नित्य परमाणुओं को इकट्ठा कर के स्थूल वनाने वाला कौन है और इंद्रिय, मन तथा आत्मा को देह मे डालने वाला भी कौन है ? यदि किसी को माना जावे तो वह युक्ति और आक्षेपों को नहीं सहारता जैसा कि ईश्वर निणय मे कथन हो चुका है।

प्रश्न—यदि कान, नयन, नासा द्वारा वह हृदय खण्ड ही शब्द, रूप, गन्धादि को ग्रहण करता है श्रोत्र, चक्षु, घ्राणादि इन्द्रिय कुछ भिन्न पदार्थ नहीं तो इसका क्या कारण है कि शब्द का ग्रहण कान द्वारा ही हो अपने हृदय खण्ड को कहो कि शब्द को नेत्र द्वारा तथा रूप को कान द्वारा ग्रहण करे क्योंकि छिद्र-छिद्र सब समान है ?

उत्तर—मुख एक अंग है और उससे शब्द निकलता है परन्तु अकारादि अक्षरों के उच्चारण की शक्ति सारे मुख को नहीं किन्तु मुख में के भिन्न-भिन्न स्थानों को है जैसा कि अकार और क, ख, ग, घ, ङ और हकार के उच्चारण की शक्ति कंठको है। और इकार तथा च, छ, ज झ, ञ, और य, श, के उच्चारण की शक्ति तालु को है। ऋ, और ट, ठ, ड, ढ, ण, तथा ष, के उच्चारण की शक्ति मूर्द्धा स्थान को तथा ऌ, और त, थ, द, ध, न, ल, स, के उच्चारण की शक्ति केवल दन्त स्थान को है। उ, प, फ, ब, भ, म, और विसर्जनीय के उच्चारण की शक्ति ओष्ट स्थान को है किसी अन्य को नहीं। इत्यादि मुख के समस्त स्थानों में भिन्न २ शक्ति देखके यह बात सिद्ध होती है कि जैसे मुखांतर्गत स्थानो में भिन्न २ शक्तिया है वैसे देहातर्गत स्थानो की शक्तिया भी भिन्न २ है। जैसाकि कान मे शब्द ग्रहण शक्ति और त्वचा मे स्पर्श ग्रहण शक्ति और नेत्र मे रूप ग्रहण और रसना मे रस ग्रहण तथा नासा में गंध ग्रहण शक्ति है। यद्यपि इन सम्पूर्ण छिद्रो द्वारा शब्दादि विषयो का ग्रहण तो वह हृदय खंड ही करता है तथापि एक २ विपय ग्रहण का द्वारभूत वे ही छिद्र है। उन छिद्रो मे जो किसी परोक्ष पदार्थ इन्द्रिय को मानते हो यह गौरव है। यदि फिर भी कान मे श्रोत्र और चर्म मे त्वक और नेत्र मे चक्षु आदिक इन्द्रिय को कुछ भिन्न पदार्थ मानते हो तो बताओ श्रोत्र इन्द्रिय कान मे क्यों रहा नेत्र मे रहा होता इत्यादि। यदि कहो कान आकाश का अंश है और शब्द आकाश का गुण है अत. शब्द का ग्राहक इन्द्रिय को कान मे ही रहना था तो तुम्हारे मत

में आत्मा के सिवाय और सब कुछ जड़ है फिर जड़ श्रोत्र इन्द्रिय को यह ज्ञान कैसे हुआ कि कान आकाश का अंश है मुझे इसीमे रहना चाहिये तथा चक्षु को नेत्र मे रहना किसने सिखाया। फिर कान और नेत्र तो अन्य अंगों के समान हाड़, मास, रक्त के ही बने हुए है इनको तुम आकाशादि के अश कैसे मानते हो और छाती, पृष्ठि, कटि, नाभि को उनके अंश क्यो नहीं मानते ? हम सत्य कहते है कि जैसे मुख में किसी स्थान को कवर्ग उच्चारण की शक्ति और किसी को चवर्ग उच्चारण की शक्ति है, वहा कोई भिन्न उच्चारक नहीं, वैसे देह के अंगो में भी कहीं शब्द ग्रहण की शक्ति और कहीं रूप ग्रहण की शक्ति है उनसे भिन्न कोई इन्द्रिय पदार्थ समझ मे नहीं आता। और यह बात भी यहां ही सिद्ध हो गई कि जैसे कवर्ग का उच्चारण तालु से और चवर्ग का कंठ से नहीं हो सकता वैसे शब्द का ग्रहण चक्षु और रूप का ग्रहण कान भी कभी नहीं कर सकता।

प्रश्न—यह तो सत्य है कि शब्दादि विषयों को कान आदिक स्थानों द्वारा हृदय खण्ड ही ग्रहण करता है और कर्णादि विवर के विना न कोई वहां इन्द्रिय है न आत्मा, परन्तु अब यह बताइये कि जो वस्तु उसके साथ स्पष्ट हो अथवा सामने आवे उसी वस्तु का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि इन्द्रिय का और अर्थ का सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष ज्ञान मे कारण होता है। इसका क्या कारण है कि स्वप्न दशा मे कोई भी पदार्थ उसके सामने नहीं होता तो भी वह अनेक पदार्थों को देखता, जानता, चाहता, छोड़ता, और दु:खी सुखी होता है ?

उत्तर—हमने कहा, देह में किसी स्थान को रूप ग्रहण की शक्ति और किसी को रस ग्रहण की शक्ति है फिर किसी स्थान को शब्द करने की शक्ति और किसी को शब्द के सुनने की शक्ति है वैसे ही हृदय स्थान को छै शक्तियां हैं जिनका नाम इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख,

ज्ञान है अर्थात् ये छै ही गुण हृदय में रहते हैं। ये ज्ञान गुण दो प्रकार का है एक स्मृति रूप दूसरा अनुभव रूप। स्मृति रूप यह है कि पूर्व अनुभूत पदार्थों के संस्कार जो हृदय में पड़ रहे है उनका सामने हो आना जैसाकि निद्रा में स्वप्न देखना और जाग्रत में पूर्व दृष्ट श्रुत पठित व्यवहारों का सामने हो आना। और अनुभव ज्ञान वह है कि जो पंच ज्ञानेंद्रिय वा बुद्धि द्वारा देह के बाहर वा भीतर का नवीन ज्ञान हो जैसाकि बाहर से शब्दादि का ज्ञान और भीतर से क्षुधा, पिपासा, निद्रा, क्रोध, सुख, दुःख का ज्ञान होता है। तात्पर्य्य हमारे कथन का यह है कि हृदय-खंड* के सिवाय जीवात्मा कोई पदार्थ नहीं। जब लो वह सावधान है तब लो दोनों प्रकार का ज्ञान देह में दिखाई देता है जब वह असावधान हो तो लुप्त हो जाता है वह सारे देह का एक प्रधान अंग है और पंचभूत का अवस्थातर है।

प्रश्न—बहुत से स्वप्न ऐसे हैं कि जिनको हमने कभी अनुभूत नहीं किया फिर आप उनको स्मृति रूप क्यों कहते हो जैसाकि हम कभी आकाश में उड़े नहीं किन्तु स्वप्न में अपने को उड़ते देखते है ?

उत्तर—जो विपय अनुभूत नहीं उसका स्वप्न कभी नहीं आता। यदि आता है तो पिछली शताब्दी मे किसी को वाष्प-शकट अर्थात् रेल गाड़ी का स्वप्न क्यों नहीं आया था। और जो तुमने आकाश में उड़ने की बात कही उसमे यह सोचो कि चाहे अपना उडना नहीं देखा था परन्तु जाग्रत मे पक्षियों का उड़ना तो देखा था जो निद्रा के वेग से तुमको उलटा दिखाई दिया।

प्रश्न—यदि काष्ठ खण्ड को कहीं पड़ा देखें तो वहां यह वात निश्चित हो सकती है कि यह अपने वीज से स्वतः ही उत्पन्न हो गया

---

* किसी-किसी के मत से यह स्थान हृदय नही, मस्तिष्क है। हमारे विचार से इसमें दोनो ही सम्बन्धित हैं। —सम्पादक

है परन्तु यदि शकट अर्थात् छकड़े को खड़ा देखें तो यह बात बुद्धि में कभी नहीं आती कि यह काष्ठ खंड से स्वत· ही बन गया होगा क्योंकि उसके कील, धुर, चक्रादि अङ्गों में कोई मुख्य क्रिया दिखाई देती है कि जिनका कोई स्थापक मानना पड़ता है। वैसे ही यदि यह मनुष्य देह एक पिंडाकार डला-सा होता तो चाहे स्वतः सिद्ध मान लेते परन्तु इसके समस्त अङ्गों में जो कोई मुख्य २ शक्ति रहती है अतः इसका कोई स्थापक मानना पड़ेगा। यदि स्थापक न होता तो एक छिद्र का काम दूसरे छिद्र से अवश्य ले लिया जाता।

उत्तर—स्थापक तो मानो परन्तु उसके मानने में जो कई प्रकार के सन्देह उठने लगते हैं (जो पीछे ईश्वर निर्णय में वर्णित हो चुके) उनका निवारण कैसे करोगे? निस्संदेह पक्ष तो यही है कि जिस वीज में जो २ अङ्ग-ढंग जिस २ स्थान मे होते और उनमे जो २ शक्तियां होती है वे अवश्य प्रकट हो जाती है इनमें कोई नियामक नहीं। और यह बात भी उस वीज मे ही छिपी हुई है कि उसके अङ्ग उपांग में जो रूप, गुण, नाम, शक्ति है वह सदा उसी मे रहती है अन्य मे नहीं होती। जैसाकि आम के वीज मे यह शक्ति है कि उससे अंकुर और अङ्कुर से खम्भ, खम्भ से शाखा, शाखा से पत्र, पत्र से पुष्प, और पुष्प से फल हुआ करे सो यह व्यवहार सदा से क्रम-पूर्वक हा होता आता है। यद्यपि हम यह कहेंगे कि सब कुछ उस वोज मे भरा हुआ है परंतु यह कभी नहीं हो सकता कि वीज से फल, और फल से अंकुर और अंकुर से पुष्प वा पत्र कोई जन ग्रहण कर सके। जो पदार्थ और शक्ति वीज मे से जिस दशा और जिस स्थान और जिस समय मे उत्पन्न होती है वह सदा उसी मे होगी, अन्य म नहीं।

प्रश्न—यद्यपि आपने बहुत कहा परन्तु मेरे निश्चय से यह बात दूर नहीं हुई कि जीव और देह भिन्न २ पदार्थ नहीं। हा, इतना तो

सत्य है कि जीवात्मा देह से भिन्न कहीं दिखाई नहीं देता, परन्तु यह बात हमारी बुद्धि में कभी नहीं आती कि जीवात्मा देह अथवा देह का कोई अङ्ग हो जैसाकि आप उसको हृदयरूप एक मांस खण्ड और देह का प्रधान अङ्ग समझते हो।

उत्तर—जो बात बहुत काल से किसी की बुद्धि में आरूढ़ हो रही हो, उसका शीघ्र उठना कठिन होता है। परन्तु जब तुम बारम्बार इस बात को विचारोगे कि वह देह से भिन्न पदार्थ हो तो अवश्य कहीं अन्य स्थान में दिखाई देवे तब तुरन्त हमारा कथन मन में बैठ जावेगा। यदि कहो वह कोई चाक्षुक द्रव्य नहीं जो दिखाई देवे तो हम कहेंगे अच्छा, ज्ञान द्वारा तो उसका प्रत्यक्ष हमको कराओ कि जिसके साथ तुमको उसका प्रत्यक्ष हुआ है।

दूसरी यह स्पष्ट बात है कि यदि वह सारे देह में व्याप्त है तो देह की दो फांक करने से उसकी भी दो फाक होनी माननी पड़ेगी। यदि कहो, फांक सावयव पदार्थ की हुआ करती है वह निरवयव है। तो हम कहेंगे कि अच्छा, निरवयव की दो फाक तो चाहे न हों परन्तु व्यापी पदार्थ को देह के दोनों टूक में कार्य्य तो देना चाहिये जैसाकि जो अग्नि पाषाण में व्याप्त है पाषाण के दो टूक करने से दोनों टूक में प्रतीत होती है। क्या कारण है कि देह की दो फांक करने से दोनों में चेतन धर्म दिखाई नहीं देता। यदि कहो, वहां चेतन तो विद्यमान है परन्तु मन नाम इन्द्रिय के न रहने से सुख दुःखादि की उपलब्धि नहीं होती तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि तुम्हारे मत में मन का लक्षण यह है कि सुखादि की उपलब्धि का साधन जो इन्द्रिय है वह मन है और वह आत्मा २ प्रति भिन्न २ रहता है। अब सोचो कि जब दोनों फांक में चेतन अर्थात् आत्मा विद्यमान है तो मन वहा क्यो न रहा क्योकि जहा आत्मा हो तुम वहां मन का होना अवश्य मानते

हो। फिर हम यह पूछते है कि यदि मन अणुरूप है तो आत्मा के किसी सूक्ष्म देश में युक्त होगा फिर सारे देह के सुख दुःख की उपलब्धि आत्मा को कैसे होगी ? और फिर हम यह भी पूछते हैं कि देह के चीरने से मन भी दो फाक हो जाता है वा नहीं ? यदि हो जाता है तो दोनों फाक में आत्मा के इच्छा द्वेषादि गुण दिखाई देने चाहियें। और यदि नहीं होता तो जिस फांक में वह है सारा ही है, फिर किसी फाक मे भी आत्मा के गुण क्यों नहीं रहते ? और यदि कहो देह के चीरने से मनका नाश हो जाता है तो लिंग देह काहे का बनाओगे और नर्क स्वर्ग का भोग कैसे बनेगा ? क्यों कि मन सहित सतारह तत्त्व का लिंग देह तुम मानते हो। इत्यादि आशंका इस बात को सिद्ध करती है कि देह में न कोई पदार्थ मन है और न आत्मा; केवल हृदय खण्ड रूप एक मांस खण्ड है और इच्छा द्वेषादि उसके गुण हैं तथा मन, बुद्धि, जीवात्मादि सब उसी के नाम हैं।

प्रश्न—देह के दो टूक करने से चेतन धर्म दोनों मे दिखाई देता है। हम ने कई वार देखा कि यदि देह का कोई अंग काटा जावे तो देह और वह अंग कुछ काल तड़फता रहता और चेतन दिखाई देता है।

उत्तर—वह तड़फना चेतन का नहीं किन्तु प्राण वायुका है सो जब लों प्राण वायु उन दोनों टूक मे से समग्र निकल नहीं जाता तब लों तड़फता है। जब निकल गया तो तड़फना रुक गया। इस हेतु से सिद्ध हुआ कि क्रिया रूप व्यवहार उस अंग मे वायु का है न कि चेतन का, यदि चेतन का होता तो ज्ञान भी वहा अवश्य होता क्यों कि तुम चेतन को ज्ञान का अधिकरण मानते हो। और वेदाती आत्मा को ज्ञान का स्वरूप मानते हैं।

प्रश्न—जीव को देह से न्यारा मानने में मैंने जो जैन मत का

कथन सुना है उसका आप क्या उत्तर देते हो ? किसी ने एक जैन से पूछा आप जो जीव को देह से भिन्न मानते हो फिर इसमें क्या कारण है कि एक कीड़े को छिद्र रहित डबीया में मून्द दें जब वह मरता है डबीया में कोई छिद्र नहीं पड़ता यदि जीवात्मा देह से कुछ भिन्न पदार्थ था तो किधर से निकल गया ? *

जैन ने कहा एक लोहखण्ड अग्नि से लाल करके डबीया मे मून्द दें तो अग्नि निकल जायेगा पर डबीया में कोई छिद्र नहीं करता सो यदि स्थूल पदार्थ अग्नि निकलता हुआ छेद नहीं करता तो सूक्ष्म पदार्थ जीवात्मा छेद कैसे कर जावे ?‡

उत्तर—यह जैन का उत्तर विद्या से हीन है क्योंकि पदार्थ विद्या में लिखा है कि—अग्नि प्रथम निकटवर्त्ती शीतल पदार्थ में प्रवेश करती है फिर वहा से आगे शीतल पदार्थ न मिले तो वह पवन में मिल जाती है यह उसका सनातन स्वभाव है। सो बस उस, तप्त लोह खण्ड का अग्नि प्रथम उस डबीया के पूर्व परमाणुओं में मिला फिर उत्तरोत्तर परमाणुओ में आता-आता बाहर के पवन से मिल गया और लोहखंड ठंढा हो गया। इससे छिद्र पड़ने की क्या बात थी। परन्तु जीव का यह स्वभाव भी नहीं देखा कि पार्श्ववर्त्ती पदार्थों में प्रवेश कर जावे और देह को ठंढा कर जावे। यदि अग्नि की नाईं यह भी निकटवर्त्ती पदार्थों में प्रवेश कर जाता है तो जीवित देह के निकट मृतक देह रखने से जीवित देह का आत्मा मृतक में आ-जाना चाहिये। अथवा

*इसी अभिप्राय से मिलता जुलता प्रश्न परदेशी राजा ने केशीकुमार श्रमण से किया था जिसका वर्णन राज प्रश्नीय सूत्र के परदेशी राजाधिकार के गाथा ५९ में है। उत्तर ६० वी गाथा में दिया गया है।

‡देखो राज प्रश्नीय सूत्र (परदेशी राजाधिकार में केशीकुमार श्रमण का उत्तर—गाथा ६२)

काष्ठ पाषाणादि जड़ पदार्थ भी उसकी सन्निधि से चेतन हो जाने चाहियें किन्तु ऐसा व्यवहार देखने में नहीं आता।

जीव और देह का पृथक्त्व दूर करने वाली युक्ति एक और सुनो। यदि मृत्यु के समय जीवात्मा देह को छोड़ के बाहर चला जाता है तो पूर्व संबंधियों के मोह का खेंचा हुआ कभी हट के क्यों नहीं आता? इसी प्रकार यदि नर्क का दुःख देखता है तो अपने पुत्रादिकों को बता क्यों नहीं जाता कि अमुक काम मत करना नहीं तो मेरे नाईं नर्क की यातना भोगोगे। अथवा अमुक कर्म अवश्य करना जिस से मुझे स्वर्ग का सुख मिला हैं?

यदि कहो देह छोड़ते ही वह किसी अन्य देह में चला जाता है। वहां जब लों पूर्व कर्म का फल नहीं भोग लेता तब लों उस देह के बाहर नहीं आ-सकता जो अपने संबंधियों से मिल जावे। और नर्क से लौकिक कारागार के बंधुए की नाईं वह छुटकारा नहीं पाता, फिर संबंधियों से कैसे मिले। और स्वर्ग सुख को छोड़ के वह लौकिक महा मलिन स्थान मे आना ऐसे श्रेष्ठ नहीं समझता कि जैसे पुष्प-वाटिका मे बैठा हुआ पुरुष मलागार में आना नहीं चाहता फिर आप सोचो संबंधियों के पास कैसे आवे?

इन बातों का उत्तर यह है कि यह तो तुम्हारे ही मुख से तुम्हारे दोनों पक्ष झूठे हो गये क्योंकि यदि देह को छोड़ते ही जीवात्मा किसी दूसरी देह मे आ-जाता है तो फिर नर्क, स्वर्ग को कौन गया। और यदि देह छोड़ के नर्क, स्वर्ग को जाना पड़ता है तो तुरन्त दूसरे देह का धारण करना कैसे सिद्ध हुआ? फिर जो तुमने कारागार के बंधुए और पुष्प वाटिका का दृष्टांत दिया यह भी ठीक नहीं क्योंकि जो कारा-गार के बंधुए होते हैं वे देह धारी सावयव होते है कि किसी बन्धन में आ सकें। जीवात्मा को तो तुम निरवयव मानते हो वह बन्धन मे कैसे

आ गया ? स्वर्ग को पुष्पवाटिका के समान जो तुमने माना उसमें अनेक दोष आते हैं। एक यह कि वह कोई स्थान बना हुआ है तो एक देश में होगा फिर किसी को दूर पड़ा और किसी को समीप। जिसको दूर पडा उसको मार्ग का श्रम अधिक है। फिर यदि कोई स्थान है तो कहां है क्या आकाश में है वा पाताल में अथवा पृथ्वी के तल पर है अथवा अन्तरिक्ष में लटकता है ? यदि आकाश में है तो उसकी नींव काहे पर रक्खी और ईंट पत्थरादि में से काहे का बना है और लोह काष्ठादि सामग्री वहां कहा से आई ? यदि पाताल में है तो पृथ्वी में कोई छिद्र जीव के प्रवेश का नहीं फिर वहां पहुँच कैसे सकता है ? यदि कहो पृथ्वी के तल पर है तो देश वा नगर का पता बताओ अथवा भूगोल मे कहीं उसका चिह्न दिखाओ। यदि अंतरिक्ष में लटकता है तो कहां और काहे के आश्रय लटकता है ? इत्यादि।

प्रश्न—यदि यह मानें कि पूर्व देह को छोड़ के जीव तुरन्त दूसरे देह में आ-जाता है उसीके सुख दु ख का नाम नर्क वा स्वर्ग है तो क्या दोष है ?

उत्तर—इससे अधिक दोप और क्या है कि युक्ति-बल से जीवका देह से भिन्न कुछ वस्तु होना सिद्ध नहीं होता फिर निकल के कौन गया ? भला, यदि तुम्हारी प्रसन्नता के लिये हम इस बात को मान भी लें तो एक और शंका हमारे मन में उठती है उसका निवारण करो। वह यह है कि यदि जीव पुराने कपड़ों को उतार के नवीन धारण कर लेने की नाईं एक देह को छोड़ के दूसरा देह धारण करता है तो केवल देह में अन्यता हुई न-कि जीव मे अर्थात् जीव दोनों देह में एक ही हैं। फिर क्या कारण है कि पूर्व देह मे किये हुए कामों वा पूर्व देखे सुने स्थानो की उसको स्मृति नहीं रहती।

यदि कहो कि जब निद्रा में इतना बल है कि जो-जो स्वप्न, स्वप्न-

काल में देखे थे वह जाग्रत में उसी जीवको सागोपांग स्मृत नहीं रहने देती तो मृत्यु जो बड़ी भारी निद्रा है वह पूर्व देह के व्यवहार नवीन देह मे कैसे स्मृत रहने देगी। तो सुनो, स्वप्न काल के व्यवहार निद्रा के बल से यदि कुछ जाग्रत में भूल जाते हो तो आश्चर्य्य नहीं; क्योंकि वह एक घूर्णित दशा है परन्तु स्वप्न काल के पूर्व जो एक दो दिन वा मास जाग्रत अवस्था में देखे सुने पदार्थ वा किये हुए काम कभी किसी को निद्रा से उठ के नहीं भूलते वैसे ही मृत्यु के समय घड़ी दो घड़ी जब मूर्छा की दशा होती है उस समय के व्यवहार द्वितीय जन्म में स्मृत न रहे तो अचंभा नहीं परन्तु इसका क्या कारण है कि मृत्यु से कई दिन पहिले जो-जो व्यवहार जीव ने किये थे उनमे से एक की भी स्मृति नहीं रहती ? इससे निश्चित है कि यह वही जीव नहीं जो किसी पूर्व देह से आया था। यदि कहो कि जीव तो अवश्य वही है जो पूर्व देह से आया था परन्तु पूर्व देह की स्मृति इस देह से इस कारण नहीं रही कि पूर्व देह की मन, बुद्धि और इंद्रियां इस देह मे जीव के साथ नहीं आईं कि जिन के द्वारा पूर्व देह मे जीव ने व्यवहारो को देखा सुना वा किया था। तो सुनो, प्रथम तो तुम्हारा यह कथन तुम्हारे शास्त्र के विरुद्ध है क्योंकि शास्त्र मे लिखा है कि पांच ज्ञानेंद्रिय और पाच कर्मेन्द्रिय पाच प्राण और एक मन एक बुद्धि इन सतारां तत्त्व का लिंग देह सदा जीव के साथ रहता है और यह उस दिन भंग होता है कि जब मोक्ष हो।

दूसरा हम यह पूछते है कि चाहे मन, बुद्धि और इन्द्रिय वह न हो कि जिन के द्वारा जीव ने पूर्वदेह मे व्यवहार किये थे परन्तु कर्त्ता भोक्ता जीव तो वही है कि जो मन, बुद्धि द्वारा पदार्थों और व्यवहारों को कर और देख रहा था फिर क्या कारण है कि उसके पूर्व दृष्ट श्रुत व्यवहारो की स्मृति नहीं रहती। क्या तुम जिस वस्तुको उपचक्षु द्वारा देखो उपचक्षु के न होने से तुम को उस पूर्व दृष्ट वस्तु की स्मृति

नही रहती? इस युक्ति से यही सिद्ध होता है कि जिसको तुम जीवात्मा मानते हो वह देह से भिन्न कुछ सत्ता नहीं रखता। वह न कहीं से आया और न कहीं को जाता है। दीप की ज्योति के नाईं बीच ही से फैला और बीच ही में छिप जाता है।

प्रश्न—ऐसा मानने में क्या दोष है कि जीव और देह अर्थात् जड़ और चेतन का संबन्ध अनादि काल से ऐसा हो रहा है कि देह से भिन्न जीव कहीं दिखाई नही देता?

उत्तर—इस में अनेक दोष हैं। एक यह कि देह तो है परंतु जीव का होना युक्ति से तुमने सिद्ध नहीं किया। जिस ज्ञानादि गुण का आधार तुम कोई जीव ठहराते हो हम उसको देह का अंग हृदय कहते हैं जो प्रत्यक्ष है। दूसरा वह मृत्यु के अनंतर देह से भिन्न क्या रहेगा जो नर्क स्वर्ग भोगेगा इत्यादि।

प्रश्न—युक्ति के बल से चाहे जीवात्मा देह से न्यारा पदार्थ सिद्ध न हो परंतु जिन लोगों ने योग बल से जीवात्मा का प्रत्यक्ष किया है क्या उनका कहना भी आप सत्य नहीं मानते?

उत्तर—तुम कहते हो, उनको प्रत्यक्ष हुआ है इस मे हम पूछते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है कि जो किसी इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो। सो बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम जीवात्मा को अभौतिक वस्तु कहते हो और फिर भी उनके साथ इंद्रिय का सन्निकर्ष मानते हो! क्या तुम इस बात को नहीं जानते कि इंद्रिय उसी बात को विषय कर सकते है कि जो भौतिक हो। हमारी समझ मे योगी जनों को जीवात्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता किंतु उनको प्रत्यक्ष का भ्रम हो जाता है अर्थात् आत्मा के किसी ज्ञान, इच्छा, द्वेषादि गुण को वह आत्मा समझ बैठते होंगे। यदि कहो, आत्मा का प्रत्यक्ष उनको किसी इन्द्रिय से नहीं होता किन्तु आत्मा से ही होता है तो पहले आत्मा

पदार्थ को युक्ति से सिद्ध तो करलो फिर किसी आत्मा को वेद्य और किसी को वेत्ता भी मान लेना।

प्रश्न—आत्मा का प्रत्यक्ष होना न मानो परंतु आत्मा का प्रकाश तो योग मार्ग के बल से अवश्य अधिक हो जाता है जिसके प्रताप से योगी जनों को सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

उत्तर—हमारे मत में आत्मा एक मांस खंड का नाम है जो हृदय नाम से बोला जाता है सो योग मार्ग के बल से उस में अधिक प्रकाश तो क्या होना है परंतु उसकी बुद्धि-वृत्ति किसी एक पक्ष में जुड़ जाने से और काम क्रोधादि मल से स्वच्छ हो जाने के कारण कुछ तीव्रता अवश्य प्राप्त हो जाती है जैसा कि जिन लोगों का ध्यान संसार के अनेक कार्य्यों और संकल्प विकल्पों में ताडित रहता है उनकी बुद्धि-वृत्ति ऐसी तीव्र नहीं होती कि जैसी एकांत-सेवी और निःसंकल्प पुरुष की होती है। जिनकी बुद्धि-वृत्ति तीव्र हो उन में सूक्ष्म बातों और कठिन विद्याओं के समझ लेने की शक्ति तो हो जाती है कि जिस से सम्पूर्ण दुःखों का ध्वंस और परमानंद की प्राप्ति हो जाती है परंतु हम और किसी प्रकार की सिद्धि उनमें नहीं मानते।

प्रश्न—मैंने कई लोगों में यह सिद्धि देखी कि उन्होंने जो कुछ वचन कहा सो सत्य हो गया जैसा कि जिसको कहा तेरे पुत्र होगा उसको अवश्य हुआ। और जिसको कहा तू धनी होगा वह धनी होगया। इत्यादि व्यवहार क्या सिद्धि रूप नहीं?

उत्तर—हमने पूर्व कहा था कि जिनकी बुद्धि-वृत्ति तीव्र हो जाती है वे सूक्ष्म बातों को समझने लग जाते है सो जिस के शरीर में उन्होंने पुत्रोत्पत्ति के वा धनी होने के लक्षण देखे उसे वही फल बुद्धि-कौशल से कह दिया। जैसा कि जिस के शारीरिक लक्षण देखे उसे पुत्रवान होना कहदिया और जिस के मानसिक लक्षण विचारे उसे धनवान होना कह दिया इस मे सिद्धि की कोई बात नहीं।

प्रश्न—वे लक्षण शरीर और मन में किसने भरे हुए होते हैं कि जिनका फल कभी उलटा नहीं होता ?

उत्तर—भरे किसीने नहीं होते। वह तो शरीर की बनावट ही वैसी होती है सो उसी के अनुसार सूक्ष्मदर्शी लोग कामी, क्रोधी, मानी, साधु, असाधु, पुत्रवान, कन्यावान, निःसंतान, धनी, गुणी, मूर्ख, चतुर होना पहचान लेते है। और यह बात भी सत्य नहीं कि उनका फल कभी उलटा नहीं होता किंतु कईबार देखा कि कहा कुछ और हुआ कुछ। और उन लक्षणों को किसी ने ठहराया नहीं किंतु कईबार की परीक्षा से यह बात निश्चय कर छोड़ी है कि जिस मनुष्य में अमुक लक्षण हो वह ऐसा होता है।

प्रश्न—मैंने सुना कि एक साधु ने अपने वचन से अमुक पुरुप को कुष्टी कर दिया फिर इसमें चिन्ह परीक्षा कहा रही ?

उत्तर—प्रथम तो यह बात सची नहीं। यदि किसी अंश में हो भी तो उस साधु के मन में कुछ कपट था अर्थात् जिसको कुष्टी करने का वचन कहा किसी प्रकार से उसे कुछ रुधिर विकार का उत्पादक द्रव्य खिला दिया अथवा उसके देह पर लगा दिया होगा। क्योकि संसार मे अनेक ऐसे पदार्थ है कि जिन के खाने, लगाने से मनुष्य को अन्धा कुष्टी तथा ज्वर गुलमादि रोगो से ग्रस्त होजाना कुछ दूर नहीं। यदि वे सिद्ध लोग बिना किसी शारीरिक लक्षण के पहचाने और विना किसी विकार-जनक पदार्थ के खिलाने लगाने के केवल अपने वचन मात्र से कुछ बिगाड़ वा सुधार कर सकते है तो मनुष्य मे वैसी बातें ही क्यो बना के दिखाते है कि जो उन मे संभव है। योग्य तो यह है कि वे असंभव काम करके दिखावें जैसा कि मनुष्य को बैल वा बैल को हाथी और हाथी को चिड़िया बना देना। अथवा कभी यह दिखायें कि इस भारत खड मे कभी सूर्य्य, चंद्रादि के उदय अस्त मे उनके वचन से कुछ व्यतिक्रम हुआ हो।

प्रश्न—चांद को अंगुली से तोड देना और मृत्तों को जिला देना आदिक व्यवहार जो कईएक महापुरुषों के सुने जाते है इससे वढ़के असंभव व्यवहार क्या होता है ?

उत्तर—जिसने चांद को तोड़ा और मृत्तों को जिलाया उससे अधिक शक्तिमान कौन है कि जिसने फिर चांद को वैसा ही जोड़ दिया तथा उन मृत्तों को आज लों जीते न रहने दिया क्योंकि आज हमको उनकी कृत्ति कहीं दिखाई नहीं देती। और इस वात का क्या कारण है कि वे सिद्ध और समर्थ लोग पीछे तो वहुत होते थे किन्तु आज कोई वैसा कहीं भी उत्पन्न नहीं होता ?

प्रश्न—मैं आज भी एसे कई महापुरुष दिखा सकता हूँ कि जो वता देते है कि छै महीने को अमुक तिथि वार में वर्षा होगी अथवा वीस वर्ष को यह पुरुष ऐसा होगा वा यह वालक पांच वर्ष का हो के मर जावेगा।

उत्तर—जव विद्या और विचार के वल से छै महीने पहिले ग्रहणादि का लगना वता दिया जाता है तो आधी वर्षा का वताना भी कुछ कठिन नहीं। और वीस वर्ष को यह पुरुष ऐसा होगा यह वात उस की विद्या वुद्धि और स्वभावादि के विचार से होती है। और जो पांच वर्ष में किसी वालक का मरना कहा वह शरीर के लक्षणो और चिन्हों से प्रतीत हो जाता है। क्योंकि शरीर में ऐसे कई चिन्ह है कि जिनकी परीक्षा करके वुद्धिमानों ने निश्चय कर छोड़ा है कि इस चिन्ह का पुरुष अलपजीवी वा चिरंजीवी होता है और इस चिन्ह का पुरुष अलस वा उद्यमी होता है। जैसाकि हम यहाँ कुछ चिन्ह पुरुष और स्त्रियों के लिखते हैं कि जिनकी कई वार परीक्षा हुई और सच्चे निकले :—

जिस पुरुष का वर्ण गौर, कृश शरीर और सूक्ष्म देह तथा कलाई

और जंघा पर बाल बहुत हों वह अत्यन्त कामी और बहु-पुत्र होता है। जिसका देह लंबा, वर्ण गोधूम का, अत्यंत चतुर, और कृश-देह हो वह पुत्र-हीन वा स्वल्प-संतान और क्रोधी होता है। जो ह्रस्व काय, ह्रस्व ग्रीव, सूक्ष्म देह, चंचल स्वभाव हो वह कपटी और छली होता है। काणा, खल्वाट, खंज, तथा विड़ाल नेत्र का पुरुष पापात्मा कुटिल, अविश्वास-पात्र होता है। जिसके लिंग में वामाग टेढा हो वह कन्या की संतान वाला और जिसके दक्षिणाग में टेढ हो वह पुत्र-संततिवान होता है। जो लंबदेह, स्थूलकाय, बहुभाषी, और उच्च शब्द वाला हो वह मानी, अहंकारी होता है। मध्य काय, भारी देह, गौर वर्ण, शीघ्र बोलने वाला, जिसकी जिह्वा बोलने में अटकती हो, वा भेददंती हो वह अवश्य चतुर, विद्वान तथा गुणी और बहु-पुत्र होता है। कृष्णवर्ण, ह्रस्व तनु, कुरूप, क्रूरात्मा, अवश्य झूठा, छली, ठग होता है।

जैसा पुरुप का व्यवहार है वैसा ही स्त्रियों का है। जो स्त्री ह्रस्व-काय श्याम नयना हो वह व्यभिचारिणी होती है। जिसके चरण की तर्जनी अंगुष्ट से लंबी हो वह व्यभिचारिणी तथा विधवा होती है। जिसके हस्त, पाद भारी, अँगुली छोटी, किंचित् स्थूलकाय, मध्य देह, गौर वर्ण हो वह भी व्यभिचारिणी, निर्लज्जा, निर्भया होती है। लंबी तथा कृश देह, पिंडली और कलाई पर बाल, शीघ्रगामिनी, जिसका पांव मध्य से पृथ्वी पर न लगे वह भी व्यभिचारिणो होती है। जिस के स्कंध, कुच, नितब चलने मे हिलें तथा शीघ्र और तिरछी चले वह भी व्यभिचारिणी होती है। इत्यादि लक्षणों से स्वभाव, गुण, औगुण तथा आयु पहचानी जा सकती है। यदि अधिक सीखना चाहो तो मनुष्यों की देहों में ध्यान रखो नित्य की परीक्षा से यथार्थ ज्ञान हो जावेगा। और इसको बुद्धि की तीव्रता कहते हैं।

प्रश्न—भला क्या अणिमा, लघिमा, महिमा आदि सिद्धिया भी झूठी है जो शास्त्र ने कही है ?

उत्तर—विद्या और बुद्धि- कौशल से ये सिद्धियां कोई कर दिखावे तो आश्चर्य नहीं किन्तु हम इस बात को नहीं मानते कि किसी योग या तप के बल से प्राप्त हो जाती हैं। हां, यह शक्ति हम आत्मा मे देखते है कि उसको संकल्पों के रोकने से—जो अत्यन्त अभ्यास से होता है, कुछ २ ज्ञान की वृद्धि रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

प्रश्न—हृदय खंड तो सब का समान ही है फिर इसका क्या कारण कि किसी मे इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख, ज्ञान, ये षट् गुण अधिक होते है और किसी मे न्यून ?

उत्तर—यदि यह बात तुम कहते कि हृदय खण्ड में इच्छा द्वेषादि होते ही नहीं और कान मुखादि अंगों में होते है तब तो हम कुछ उत्तर देते परंतु अब इस बात के सिवाय और क्या उत्तर दें कि उनकी वृद्धि का कारण ज्ञान अज्ञान तथा सत्संग और कुसंग आदि है।

प्रश्न—क्या किसी साधन से आत्मा के इच्छा, द्वेपादि गुणों का नाश भी हो जाता है जैसा कि इनके अत्यंताभाव का नाम शास्त्रों मे मोक्ष लिखा है ?

उत्तर—जो गुण जिस पदार्थ मे स्वाभाविक होता है वह उस से दूर कभी नहीं होता किंतु साधन द्वारा उसमें संयम और संकोच अवश्य हो जाता है सो इच्छा, द्वेपादि जो आत्मा के स्वाभाविक गुण है उनका भी संयम और संकोच तो हो जाता है परंतु अत्यंताभाव उन का होना असंभव है। सो मनुष्य को चाहिए कि अत्यंत इच्छा जो पाप को उत्पन्न करती है उस को रोके और आवश्यक भोगों के त्याग का यत्न न करे। इसी प्रकार दु:ख जनक पदार्थों और कार्यों के साथ तो द्वेष रखे परन्तु जिन से सुख की प्राप्ति हो उन मे द्वेष का यत्न न

करे। फिर दुःख की निवृत्ति की बात जो शास्त्र ने लिखी उसका भी यही तात्पर्य्य है कि जो अपने रचे हुए दुःख हैं उनके दूर करने का यत्न करे। जैसा कि बैर, ईर्षा, क्रोध, छल, अहंकार, चोरी, व्यभिचार, झूठ, दंभ अज्ञानादि से जो दुःख होते है वे सब अपने रचे हुए होते है। परंतु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि किसी के आत्मा से दुःख का ज्ञान ही नष्ट होजावे। फिर ज्ञान के विषय मे भी यही बात है कि आत्माका ज्ञान गुण तो कभी दूर नहीं होता परन्तु जिन बातों को वह जानना नहीं चाहता वहा ज्ञान का संयम और संकोच माना जाता है।

प्रश्न—आप कहते हो कि आत्मा के स्वाभाविक गुण इच्छा, द्वेषादि स्वरूप से कभी दूर नहीं होते तो इसका क्या कारण है कि मृत्यु दशा में आत्मा तो पडा होता परन्तु उसके इच्छादि गुण वहा नहीं होते क्योंकि आप आत्मा को हृदय खंड मात्र मानते है सो वहा पड़ा होता ही है ?

उत्तर—हृदयखण्ड जो देह का एक अंग-विशेष है अतः जो पदार्थ देह के उपयोगी है वे इसके उपयोगी भी अवश्य मानने चाहियें। सो यद्यपि हृदय का मांस तो मृत्यु दशा मे वहा पड़ा है परन्तु उसकी स्थिति के उपयोगी पदार्थ वहा नहीं रहते कि जिन के संबन्ध से वह स्वस्थ और प्रफुल्लित था। अर्थात् प्रथम तो वहा से प्राण वायु निकल जाता है, फिर उसके निकलते ही रुधिर का प्रसरण रुक गया और इस के रुकते ही वह जल रूप हो गया और जल के होते ही हृदय खण्ड गलित हो गया जिससे कि उसके इच्छादि गुण नष्ट हो गये जो उसकी सावधान दशा में हुआ करते है।

प्रश्न—भला, यदि प्राण बायु निकल सकता है तो कभी फिर हट के भी आ सकता होगा ? क्या कारण है कि जो जीव एकवार मर जाता है फिर जीवित नहीं होता ?

उत्तर—प्रथम क्रमानुसार जब लों प्राण वायु का संचार देह में बना रहता है तबलो तो जीवन दशा की हानि नहीं होती। जब किसी हेतु से प्राण वायु अपना स्थान छोड़ जावे तो उन सर्व छिद्रों और हृदय, तालु, नासा, नाभि, आदिक चक्रों के मुख मुद जाते हैं कि जिन में वायु का प्रवेश होता था तब फिर जीना कैसे हो सके? यदि कहो मूर्छा और सुपुप्ति में प्राण वायु के होते भी हृदयखण्ड की सावधान दशा में इच्छादि षट् गुण क्यो नहीं रहते। तो सुनो, हम पूर्व कह चुके है कि निद्रा और उन्मादक द्रव्यो के संयोग से हृदय की सावधानता छिप जाती है अतः उसके गुण भी तिरोभूत हो जाते हैं।

प्रश्न—आपने कहा उपयोगी पदार्थ के निकल जाने से उसके गुण भी दूर हो जाते हैं। इसमे हम पूछते है कि वे गुण तो हृदय खण्ड के थे जो वहां मृत्यु के समय भी पड़ा है फिर क्या कारण कि एक प्राण रूप उपयोगी पदार्थ के निकल जाने से हृदय के सब गुण दूर हो गये?

उत्तर—प्राण यद्यपि एक पदार्थ है तथापि उसके निकलने से हृदय के उपयोगी रुधिरादि कई पदार्थों का वहां अभाव हो जाता है जो हृदय की सावधानता में कारण थे। उपयोगी के अभाव से उपयुक्त पदार्थ के गुणो के अभाव में दर्पण का दृष्टात विचारने के योग्य है। अर्थात् दर्पण एक काचमणि का खण्ड होता है कि जिस में रागपत्र और पारद के उपयोग से यह गुण उत्पन्न हो जाता है कि जो वस्तु उसके सामने करें उसका उसमें प्रतिविम्ब पड़ जाता है। परन्तु यदि रागपत्र वहा से भिन्न हो जावे कि जिसका उसके साथ उपयोग था तो उसका प्रतिविम्ब गुण तुरन्त टूट जाता है; क्योंकि रांगपत्र के आश्रय वहां पारद ठहर रहा था और पारद के साथ दर्पण सावधान व स्वस्थ दशा मे स्थित था उस स्वस्थता में प्रतिबिंब गुण का सम्बन्ध था जब एक उपयोगी का वियोग हुआ तो न गुणी रहा न गुण।

प्रश्न—आपके उपदेश से अब मेरे मन में यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि ईश्वर वेद और जीव की कल्पना जो पूर्वाचार्य्यों ने ठहराई थीं, प्रयोजन इसका यही था कि संसार के सिर पर एक परोक्ष भय बना रहे तो परस्पर अपकार से बचे और उपकार में लगे रहेंगे परन्तु अब एक और संदेह मेरे मन में उठता है और वह यह है कि यद्यपि ईश्वर और वेद तथा जीव के सत्य मानने में कई प्रकार के अनर्थ तो हुए परन्तु आज लों जो कई विद्वान हुए उन्होने आप के नाईं ईश्वरादि का भय संसार के मन से दूर करने वाला कोई ग्रन्थ क्यों न लिखा ? इससे जाना जाता है कि ईश्वरादि का भय संसार के मन से उठाना योग्य नहीं किन्तु इस भय का बने रहना ही श्रेष्ठ है।

उत्तर—विद्वान तो कई हुए परन्तु इस प्रकार का कोई ग्रन्थ तुम्हारी दृष्टि में न पड़ने के कई कारण है। एक यह कि अन्य विद्या और चतुराइया तो चाहे उन विद्वानो को प्राप्त हुई होंगी परन्तु यह सत्य विद्या बहुत से विद्वानों को प्राप्त ही नहीं हुई। क्योंकि पूर्व सुनी सुनाई बातों को मिथ्या जान के बुद्धि का इस सत्य विद्या पर्य्यंत पहुँचना बहुत कठिन है। दूसरा यह कि चाहे सत्य विद्या तो उनकी समझ मे आई होगी परन्तु जब कोई पुरातन बात को उठा के नई बात लोगों के लिये लिखता वा कहता है तो सब लोग उसके शत्रु तथा निन्दक और विघातक बन जाते है। सो किसीको तो इस शत्रुतादि के भय ने दबा रखा और किसी को ग्रन्थ लिखने से इस लालच ने रोक रखा कि लोग मुझे नास्तिक समझ के मेरी तथा मेरी संतान की सेवा पूजा से रुक जायेंगे। तीसरा यह कि ग्रन्थ तो कई विद्वानो ने रचे परन्तु भाषातर और देशांतर में होने से तुमको वे प्राप्त नहीं हुए इत्यादि। जो तुमने कहा, इस सत्यविद्या का लिखना श्रेष्ठ है वा अश्रेष्ठ, सो सुनो, यदि पूर्वाचार्यों भेद वादियों के अनर्थ रूप ग्रन्थ जगत में विद्यमान न होते कि जिनके पढने से लोग ईश्वरादि के बोझ से दबाये

जाते और सारा आयु उससे त्राण नहीं पाते तो ऐसे ग्रन्थों का लिखना आवश्यक नहीं था। परन्तु अब जो सारा संसार स्वप्न के झूठे हाथी के भय मे थर-थर कापता और कभी स्वाधीनता और स्वच्छन्दता से शांति पूर्वक श्वास नहीं भरता, ऐसे ग्रन्थो का लिखना ही श्रेष्ठ है। हाँ, यह बात हम भी श्रेष्ठ कहते है कि जिन लोगो की बुद्धि सत्य उपदेश को समझ नहीं सकती अथवा सच्चे उपदेश को सुन के स्वान, सूकरो की नाईं यथेष्टाचार मे प्रवृत्त होती दिखाई देवे उनको ऐसे ग्रन्थों का सुनाना बहुत पाप और अनर्थ रूप है। परन्तु हम ऐसे पुरुष को कभी विद्वान और शूरवीर तथा परोपकारी नहीं समझेंगे जो किसी अपनी हानि वा लाभ के प्रताप से उन लोगो को भी अज्ञान-निद्रा से न जगावे जो सत्य उपदेश को समझ सकें और अपने आचार-व्यवहार को विचार और विवेक के अनुसार रखे, कभी विषम न होने देवे।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्या-
मृत-प्रवाहोत्तर भागे पराविद्यायां जीव
निर्णयो नाम पञ्चमतरङ्गः ।

ॐ परम गुरवे नमः

अथ सत्यामृत प्रवाह नाम ग्रन्थस्य उत्तर भागः

अथ षष्ठस्तरङ्गस्यारम्भः

अथाचार निर्णयो व्याख्यायते

प्रश्न—ईश्वर वेद तथा जीव निर्णय को सुनके मैं विगत संदेह हुआ; परन्तु एक बात मुझे और समझाइये कि मनुष्य के मन में जो रजोगुण और तमोगुण की अधिकता से काम, क्रोधादि भरे हुए हैं, जब उनका वेग होता है चोरी व्यभिचार तथा हिंसा वैरादि कुकर्म मे प्रवृत्त होने लगता है कि जो अत्यन्त अनर्थ के हेतु है। सो पहले तो हम उन कुकर्मों को ईश्वर और परलोक के भय से त्याग देते थे अब कैसे त्यागेंगे कि जब उनका भय हमारे मन से उठ गया। यदि कहो, राज भय और लोकापवाद के भय से उनका त्याग करो तो हम कहेंगे जहां राजा प्रजा की दृष्टि और कान न पहुंचे वहा क्यों रुकना चाहिये। अथवा बहुत कुकर्म ऐसे है कि जिनके करने में मनुष्य लोक अपवाद और राज दण्ड का कुछ भय नहीं करता। जैसाकि व्यभिचारादि हैं फिर उनसे निवृत्त कैसे होंगे?

उत्तर—हम तो यही कहते हैं कि जहां राज दण्ड का भय नहीं वहा यदि कुछ काम पड जावे तो परमेश्वर के भय से कोई जन भी पाप करने में संकोच नहीं करता। जैसा कि देखो सब कोई जानता है कि परमेश्वर दयालु है और जीवों के दु;खी करने वाले मनुष्यों को अवश्य दण्ड देवेगा परन्तु बहुत लोग है जो कुकरी, बकरे को मार के

खा लेने मे तो कुछ भय नहीं करते कि जिसका दण्ड राजा कुछ नहीं देता परन्तु मनुष्य को मार खाने में कभी उद्यम नहीं करते कि जिस का दण्ड राजा से मिलता है। इसी प्रकार यदि यश की इच्छा और फल की कामना न हो तो केवल ईश्वर की प्रसन्नता के लिये कोई मनुष्य पुण्य कर्म को करता भी दिखाई नहीं देता। इससे सिद्ध हो गया कि परमेश्वर के भय और प्रेम से कोई भी पाप पुण्य में प्रवृत्त-निवृत्त नहीं होता किन्तु राज दण्ड और प्रजा दण्ड तथा यश की कामना ही इसमे कारण है। तुमने जो यह कहा कि जिनको ईश्वर और परलोक का भय नहीं रहता वे यथेष्टाचरण मे प्रवृत्त होकर अपना दुर्लभ और अमोलक जन्म विगाड़ लेंगे। इसके विरुद्ध हमारा यह निश्चय है कि जो सत्य को धारण करके सत्यधारी बना और जिसको सम्यक् विचार हो गया यद्यपि उसको कोई राजा प्रजा नहीं देखते तथापि अनाचार मे प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह किसी ऐसे तीव्र काम का आरम्भ ही नहीं करता कि जिसकी सिद्धि के निमित्त कोई अनाचार करना पड़े। हाँ, मेरी लेखनी कई वर्ष लों इस ग्रन्थ के लिखने मे इस कारण तो रुकती रही कि सम्यक् विचार का प्राप्त होना जो कठिन वात है इसको पढ़ के लोग कहीं उभयतो भ्रष्ट न हो जाये; परन्तु फिर मैंने यह वात विचारी कि लिखने में तो कुछ अधिक अनर्थ नहीं होता परन्तु न लिखने मे वहुत अनर्थ होंगे। एक यह कि लोग झूठे भय और लालच मे ग्रस्त हो के अपना जीवन धन नष्ट कर लेंगे। दूसरा यह कि ईश्वर और परलोक के कल्पित भय के प्रताप से अपना दुर्लभ द्रव्य व्यर्थ कामो और भयानक रौचक फलों की आशा मे खोवेंगे कि जिससे परिवार पोपण, परोपकार, साधु सेवा आदिक उत्तम कार्य सिद्ध हो सकते हैं।

जो तुमने कहा अनेक कुकर्म ऐसे है कि जिनको करता हुआ प्राणी लोकापवादादि का भय नहीं करता जैसाकि व्यभिचारादि हैं, इसका

उत्तर यह है कि चाहे राजदण्ड और दुराख्याति का भय तो न करे परन्तु ऐसा मनुष्य कौन है कि जिसको अपने दुःख सुख का भी विचार नहीं। देखो व्यभिचारादि जितने कुकर्म है प्रथम तो उनके करने में राज दण्ड और दुराख्याति का भय मन से दूर हो ही नहीं सकता यदि हो सके तो वैसे कामों को प्राणी छिपके क्यों करे। दूसरा उनसे रोग, शोक, भय, व्यय, बैर, ईर्षा, झूठ आदिक उपताप अवश्य सहारने पड़ते है। भला सोचो कि सम्यक् विचार का पुरुष किंचित सुख के निमित्त इतने क्लेशों को अपने सिर पर रख सकता है? उस को तो इस प्रकार के वाक्यों पर विश्वास हो रहा है, जैसाकि मनु० अ० ४ श्लो० १६१ में कहा है—

"यत्कर्म कुर्वतो स्यस्यात्परितोषोंतरात्मनः
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥"

अर्थ—जिस काम के करने से इसके आत्मा मे सन्तोष अर्थात् त्रिकाल-अबाधी सुख हो मनुष्य उसको यत्न से करे। जिनसे दुःख हो उनको न करे। काम, क्रोध, हिंसा, व्याभिचार, चौर्य्यादि व्यावहारों में यद्यपि प्रथम तो कुछ सुखाभास-सा दिखाई देता है परन्तु परिणाम मे अवश्य रोग, शोक, भय, ज्वलन, बैरादि दुःख उठाने पड़ते है।

जिसको यथार्थ ज्ञान हुआ वह इस बात को भी जानता है कि बिना विचारे काम करना पशु का स्वभाव है मनुष्य का नहीं। मनुष्य उसीका नाम है कि जो अपने और पराये सुख दुःख को विचारे। चोरी व्याभिचारादि मे अपने पराये मन को अवश्य कष्ट होता है अतः मुझको उनका सेवन कभी न करना चाहिये। और जिन दया, दान, प्रेम, क्षमा, कोमलता, गाभीर्य्य, शांति, सन्तोष, संयम, ज्ञान, उपकारादि व्यवहारों से अपने और पराये तन, मन को सुख हो उनको अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

वस, जिसको इस सत्य विद्या के साथ सम्यक् विचार की प्राप्ति हुई वह विना ईश्वर और परलोक के भय और लालच के केवल ज्ञान मात्र से ही पशुचर्य्या को त्याग के मनुष्य धर्म से स्थित रहेगा कि जिसमे अपने पराये सुख दुःख का विचार और सर्व आचार व्यावहारो मे समभाव का पालन होता है।

प्रश्न—आप तो इस जगत प्रपंच से भिन्न कोई ईश्वर नहीं मानते परन्तु ईश्वर के ठहराने मे पूर्वाचार्य्यों ने क्या प्रयोजन समझा था ?

उत्तर—जगत मे दो प्रकार के पुरुप है एक ज्ञानी, दूसरे अज्ञानी। सो ज्ञानी जन तो केवल ज्ञान वल से अशुभ कर्म से निवृत्त और शुभ मे प्रवृत्त हो सकते है और अज्ञानी जन तव लो कभी प्रवृत्त वा निवृत्त नहीं हो सकते कि जव लो उन्हे कोई भय वा लालच न दिखाया जावे। सो अपने और पराये सुख की सिद्धि और दुःख की हानि कराने के लिये जो—मनुष्य का मुख्य धर्म है—अज्ञानियो को ईश्वर का भय और लालच दिखाया और ज्ञानी जन ज्ञान वल से ही सदाचार मे स्थित है।

प्रश्न—इस ग्रन्थ को पढ़के क्या अज्ञानी जन भी ईश्वर को असत्य नहीं समझ लेंगे कि जिसके समझने से फिर यथेच्छाचरण मे उनकी प्रवृत्ति हो जावेगी ?

उत्तर—अज्ञानी तीन प्रकार के होते है। एक अज्ञानी, दूसरे महा-अज्ञानी, तीसरे पामर। सो अज्ञानी जन तो सत्संग और इस ग्रन्थ के पढ़ने सुनने के प्रताप से कभी न कभी ज्ञानवान भी हो सकता है कि जिससे कभी फिर अनाचार नहीं होने पाता। और जिसका नाम महा-अज्ञानी है वह इस ग्रंथ का भाव ही नहीं समझेगा क्योंकि उसकी वुद्धि तुच्छ है और इस ग्रन्थ की युक्तियां कुछ सूक्ष्म है। तीसरा जो पामर कहा वह हमारे इस ग्रन्थ के सुनने और पढ़ने के विना ही अनाचार और अनर्थ मे प्रवृत्त है उसको कभी छोड़ना नहीं चाहता

फिर हमारे ग्रन्थ से उसका यथेष्टाचरण अधिक क्या हो जावेगा।

एक बात हम और भी नित्य देखते है कि मनुष्यों की प्रकृति तीन प्रकार की होती है। एक यह कि चाहे उन्हें बुराई करने का कोई उपदेश भी करे परन्तु उनसे हो ही नहीं सकती। दूसरी यह कि यदि बुराई हो जावे तो उन्हें अत्यन्त पश्चात्ताप होता है और फिर कभी बुराई नहीं होती। तीसरी यह कि चाहे कितना ही रोको और भय दिखाओ परन्तु उन्हें बुराई करने मे कुछ ग्लानि नहीं होती। इसी हेतु से गीता में लिखा है कि—

"प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किंकरिष्यति"

अर्थ—सब जीव अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार वरतते है उनको निग्रह अर्थात् रोकना क्या फल करता है। सो बस, हमारा ग्रन्थ न किसी की प्रकृति को बढ़ाता है और न घटाता है। एक बात यह भी स्मृत रखो कि यह ग्रन्थ उसीको प्यारा लगेगा जिसकी प्रकृति शुद्ध है अन्य कोई पुरुप इसको ग्रहण नहीं कर सकता।

प्रश्न—इस ग्रन्थ के पढ़ने से वर्णाश्रम की मर्य्यादा का व्यवहार मन मे रहता है वा नहीं ?

उत्तर—शास्त्रोक्त वर्णाश्रम की मर्य्यादा तो जगत में से इस ग्रन्थ को पढ़ने के बिना ही दूर हो गई है जैसाकि ब्राह्मण लोग शूद्रो तथा म्लेच्छों के काम करते और शूद्र जन ब्राह्मण, क्षत्रियो के आचार व्यवहार में तत्पर है। गृहस्थ लोग सन्यासियो के त्याग विराग और ज्ञान विवेक से युक्त दिखाई देते और सन्यासी जन गृह क्षेत्र के झगड़े तथा स्त्री पुत्रो के पालन लालन मे लगे हुए है फिर हमारे ग्रन्थ से वर्णाश्रम की मर्य्यादा अधिक क्या टूट जावेगी। उलटा यह ग्रन्थ वर्णाश्रम की मर्य्यादा को स्थिर करेगा अर्थात् जो जन-गुण कर्म से ब्राह्मण हैं उसको ब्राह्मण और जो गुण कर्म से क्षत्रिय है उसको क्षत्रिय कहेगा।

प्रश्न—इस सत्य विद्या का ज्ञाता ब्राह्मणों और साधुओं को कभी पूजेगा वा नहीं ?

उत्तर—ब्राह्मण साधु का पूजन करना वह वहुत आवश्यक समझेगा। परन्तु इसमें इतना भेद है कि वह जातिमात्र के ब्राह्मण तथा वेषमात्र के साधु को ब्राह्मण और साधु नहीं समझेगा किन्तु गुण और कर्म से ब्राह्मण और साधु समझेगा। पूर्ण विद्वान का नाम ब्राह्मण और सत्य सारल्यादि साधन सम्पन्न का नाम साधु है।

प्रश्न—सत्य विद्या का ज्ञाता कुछ अपने उपदेष्टा सद्गुरु की सेवा पूजा भी करेगा वा नहीं ?

उत्तर—यह वड़े भारी नीच और कृतघ्न का काम है कि जो किसी के उपकार को मन से भुला देवे। सद्गुरु का वड़ा भारी उपकार शिष्य पर है कि उसने वे सम्पूर्ण संदेह और भय दूर कर दिये जिनके कारण जन्म व्यर्थ चला जाता और अनेक प्रकार के उपताप और क्लेश सहारने पड़ते थे। फिर उसकी सेवा कैसे नहीं करेगा।

प्रश्न—सत्य विद्या का ज्ञाता कभी कुछ दान भी करता है वा नहीं ?

उत्तर—यदि सम्पन्न और समर्थ हो तो अवश्य करता है परन्तु किसी जाति वा वेष को वह दान पात्र नहीं समझता किन्तु नंगा, भूखा, अर्थी, दुःखी के सम्पूर्ण देह धारियों को दान पात्र जानता है। तात्पर्य्य यह कि दान उसका दान पात्र में और सेवा उसकी सेवा के पात्र में होती है अन्यथा कभी नहीं होती। दान का पात्र वह है कि जो अर्थी हो और सेवा का पात्र वह है कि जो विद्वान, ज्ञानवान, परोपकारी हो अर्थात् जिसके उपदेश से लोगों को सत्य विद्या की प्राप्ति होती हो।

वड़े शोक की वात है कि संसारी लोग यथार्थ दान और उपकार तथा सेवा को नहीं जानते और अज्ञान से अपना धन नष्ट करते रहते

हैं। जैसाकि जाति वा वेषमात्र के ब्राह्मण और साधुओं को धनादि का देना है।

यदि कहो, उनको देना छुड़ाने में तुमको निर्दयता का कलंक लगेगा। तो सुनो, हमारी यह निर्दयता नहीं किन्तु उन पर बड़ा भारी उपकार है क्योंकि जब उन्हें दान का मिलना हट जावेगा तो वे अपनी उपजीविका के अर्थ आप अपनी संतान को विद्या और गुण के उपार्जन में लगावेंगे कि जिसके प्रताप से वे धन-धान्य युक्त होकर आप दाता बन सकते हैं। फिर विद्या के प्रताप से उनमें सु-स्वभाव और ज्ञान विवेक भर जायेगा कि जिसके द्वारा वे आप सुखी और अन्य लोगों को सुखी कर सकते हैं।

भारत खण्ड में जो बहुत ब्राह्मण, सांधु, चड़सी, भंगी, मद्यप, अलस, द्यूत-कार, चोर, कपोत-क्रीड़ी बन जाते हैं, इसका यही कारण है कि लोग उनको दान देते हैं। वृथा धन की प्राप्ति मे यही दोष है कि प्राणी उसको पाकर निकम्मा और विकारी हो जाता है। हमारी समझ में उनको दान देना उनकी सन्तान का और उनका सत्यानाश करना है। उत्तम पुरुष ऐसा काम कब करता है कि जिससे किसी की हानि हो। देखो, यह कितनी हानि की बात है कि उन साधु ब्राह्मणों को जब लोग पूजते और दान देते है तो कई औगुन उनके मन में भर जाते हैं। एक यह कि उपजीविका तो हमको प्राप्त हो ही जाती है अब गुण विद्या सीखने का क्या प्रयोजन। दूसरा यह कि जब निर्गुण की पूजा हुई तो उससे दो पाप उत्पन्न हुए। प्रथम यह कि गुणवानों का निरादर हुआ। द्वितीय यह कि निर्गुण की पूजा उसको अहंकारी कर देती है। इत्यादि।

जो लोग दान का प्रकार नहीं जानते वे व्यर्थ व्यवहारों में धन को नष्ट करते है जैसा कि जिस नगर मे दो चार मंदिर आगे बने हुए हो

वहाकोई और मंदिर बनाके खड़ा कर देना। क्या अच्छा होता कि उस द्रव्य को अपने वा अपने सम्बन्धियों तथा मित्र पड़ौसियों के भरण पोषण मे व्यय करते। यदि किसी धर्म मार्ग में ही लगाना था तो जहां नहीं था वहां सत्यधर्म और सत्यविद्या और सत्य-नारायण के उपदेश के निमित्त कोई मंदिर अथवा सर्वोपकार के अर्थ कोई एक कूप, वापी, तडाग बनवा देते अथवा पथिग्रह वा औपधालय, पाठशाला, वन वाते। अथच दीनों और अकिंचनों की सहायता मे व्यय करते। अथवा जिन विद्वानों के उपदेश से सत्यज्ञान प्राप्त हो उनकी सहायता करते अथवा कभी कभी सत्य धारी महापुरुषो और सुहृदो को इकट्ठा करके उनकी सेवा और गोष्ठी करते कि जिस का फल ज्ञानोन्नति है।

प्रश्न—इस ग्रन्थ का ज्ञानी तीर्थ क्षेत्रो की यात्रा करेगा वा नहीं ?

उत्तर—उसका मन चाहे तो अवश्य करेगा परन्तु उसकी और अन्य लोगों की यात्रा मे भेद बहुत है। उसकी यात्रा मूल कारण को विचार के है और अन्य लोगों की पुण्य और पारलौकिक सुख की कामना से है।

प्रश्न—तीर्थ क्षेत्रादि की यात्रा स्थापन में मूल कारण क्या है ?

उत्तर—पूर्व विद्वानों ने जो २ काम जगत मे चलाये हैं उनका मूल कारण कुछ और था परन्तु उनके पश्चातवर्ती लोग कुछ और फल समझने लग गये। जैसा कि तीर्थ क्षेत्रादि की यात्रा मे उन्होने यह फल सोचा था कि गृहस्थ लोग जो कभी अपने गृह कार्यों से अवकाश नहीं पाते उनको देशातर का पर्यटन कठिन है सो तीर्थाटन के वहाने से जब उनको देशाटन प्राप्त हो जायेगा तो निम्न लिखित फलों की प्राप्ति होगी।

१—घर से वाहर जाने मे कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश सहारने का स्वभाव हो जावेगा कि जिस से तन मन की दृढता होती है।

२—देशातर और स्थानांतर के जल पवन का संयोग देह की आरोग्यता मे भी कभी २ कारण होता है। और वहा कई प्रकारके मनुष्य स्थान, यान, वस्त्र, भूषणादि पदार्थ देख के बुद्धि मे विस्तृति होती है। तथा देशातर में भाषांतर का लाभ और कई प्रकारके गुणी और ज्ञानी जनों का निर्यत्न मिलाप हो जाता है कि जिस के प्रताप से अपने में भी उन के गुण भर जाते है।

३—तीर्थ वा क्षेत्रो मे जन-समुदाय होने के कारण व्यापार की वृद्धि होती है कि जो देशोन्नति का मूल कारण है। इत्यादि।

प्रश्न—लोगो के हृदय में जो बहुत काल से ईश्वर तथा परलोक का भाव जम रहा है उसके विरुद्ध बात सुनके सारा संसार आप का शत्रु और निंदक तथा हिंसक बन जावेगा फिर क्या कारण है कि आप इस लोक-विरुद्ध बात को मुख से निकालते हो ?

उत्तर—जो जन संसार का कल्याण करना चाहता है उस को अपनी हानि पर ध्यान न देना चाहिये। यद्यपि आज पुराने निश्चय के विरुद्ध बात सुन के लोग कुछ चौंक उठेंगे परन्तु जब हमारी बात में सत्यता और स्पष्टता उन को प्रतात होगी तो कभी शत्रुता नहीं करेंगे। देखो, प्रसुप्त पुरुषको जब कोई जगाने लगता है तो वह निद्रित पुरुष कितना दुःखी होता और क्या २ बकने लग जाता है परन्तु जब प्रबुद्ध होता है तो उस जगाने वाले का उपकार मानता है। सो उपदेष्टा को उचित है कि शाति, गाभीर्य्य और धैर्य्य के साथ निर्भय और निराकाक्ष होके सत्य धर्म का उपदेश करता रहे अपनी हानि और क्लेशों का विचार न करे।

प्रश्न—आपके उपदेश से प्राणी सर्व प्रकार के बंधनो से विमुक्त हो जाता है परंतु मेरी समझ मे मनको अत्यंत निर्बंध या यथेष्टाचारी करना श्रेष्ठ नहीं। फिर क्या आप जगत के जीवो के निमित्त कोई

पद्धति भी श्रेष्ट समझते कि जिसका अनुगमन करना सुख का कारण हो ?

उत्तर—यथेष्टाचार जो पशुवर्ग का धर्म है हम उसको कभी श्रेष्ठ नहीं कहते। मनुष्य वही है कि जो सत्पुरुषों की पद्धति अनुसार चले। जिस ने सत्पुरुषो की पद्धति को त्यागा उसकी जीवन यात्रा सुख सहित कभी समाप्त नहीं होती। यदि पूछो, जितनी पद्धतियाँ जगत मे प्रचलित है सब सत्पुरुषों की ही रची हुई मानी जाती है क्या सब पर ही मनुष्य को चलना चाहिये ? तो सुनो, वे पद्धतियां यद्यपि किसी २ अंश मे श्रेष्ठ भी है परन्तु अनेक बातें जो उनमें बुद्धि के विरुद्ध है उनके मान लेने मे प्राणी की बहुत हानि होती है। फिर एक दूषण उनमे और भी है कि वे सब स्वार्थ-साधक लोगों की रची हुई है। यदि ऐसा न होता तो एक दूसरे से विरुद्ध न होतीं।

प्रश्न—सत्पुरुषों की पद्धति क्या सब को अनुकूल होगी ?

उत्तर—विद्वानों और विचारवानों को तो सब को अनुकूल ही होगी परन्तु पक्षपाती, संप्रदायी तथा मूर्ख लोग उस मे भी छिद्रान्वेपण करेंगे और प्रतिकूल समझेंगे। हमारे कथन का तात्पर्य्य यह है कि मूर्खों और दुर्जनो के कलंक से तो कोई भी मार्ग नहीं बच सकता परन्तु सत्पुरुषों की पद्धति वह है कि जो श्रेष्ठ बुद्धि के विरुद्ध न हो।

प्रश्न—अच्छा, फिर वह सर्वसम्मत सत्पुरुषों की पद्धति मुझको सुनाइये कि जिस के अनुसार चलने में सुख और विरुद्ध चलने मे दुःख की प्राप्ति होती है।

उत्तर—लो, अब सत्यधारी महापुरुषों की पद्धति सुनो :—

पद्धति शब्द का अर्थ मार्ग है। सो जो पुरुष मार्ग को छोड़ के यथेच्छाचार करता है वह कभी सुखी नहीं रहता। बहुत लोग ऐसे हैं कि वे सुख के मार्ग को जानते तो हैं परन्तु मन की चंचलता से उस

पर स्थित नहीं होते अतः सारा आयु सुख को नहीं पाते। इस हेतु से पद्धति का होना और उस पर चलना बहुत आवश्यक है।

प्राणी को अपना जन्म सुख सहित समाप्त करने के लिये दो आश्रम ग्रहण करने पड़ते है। एक गृहस्थाश्रम, दूसरा सन्यासाश्रम। यद्यपि बहुत विद्वान ऐसा भी मानते है कि कुछ काल गृहस्थ में रहके अंतको सन्यासी अवश्य होना चाहिये परन्तु हमारा कथन इसके विरुद्ध यह प्रकट करता है कि यदि गृहस्थाश्रम में किसी प्रकारका विक्षेप न हो अथवा वहा के विक्षेपों को मन सहार सके तो मनुष्य सन्यासाश्रम का कभी नाम न ले; क्योंकि सन्यास श्रात और असमर्थ पुरुषोंका धर्म है।

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम उस स्थल का नाम है कि जिस में गृहस्थ लोग निवास करते हैं। और गृहस्थ इसका नाम है कि जो गृह में स्थित है। सो गृहस्थ को चाहिये कि जब लों माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्रादि कुटुम्ब बर्त्तमान हो उनके भरण पोषण और प्रेममें नियुक्त रहे। सूर्य्य से कुछ पूर्व शय्या को त्याग के मल, मूत्र, का त्याग करे फिर जल मृत्तिका के साथ उतना शौच करे कि जिस के करने से अपने और पराये मन को ग्लानि न रहे। फिर दंत-धावन क्रिया के पश्चात् यदि देश काल का विरोध न हो तो अवश्यमेव देह शुद्धि के निमित्त नित्यंप्रति स्नान करे। प्रातः काल चक्रमण क्रिया का करना देह की आरोग्यता में कारण है परन्तु अवकाश और इच्छा को यहां प्रधानता है। फिर आवश्यक काम काज के अनंतर मध्यान्ह के पूर्व अपने बांधवो के बीच बैठ के भोजन करे। भोजन का स्थान और आसन स्वच्छ और पवित्र अवश्य होना चाहिये और भोजन के समय हाथ पांव तथा वस्त्र और बर्तन आदिका निर्मल होना भी अत्यावश्यक है। वस्त्रों सहित भोजन करना वा अवस्त्र होके करना देश काल के विचार पर निर्भर रखता है

अर्थात् जिस देश और काल मे उतारना योग्य हो वहा उतारे जहा न हो न उतारे। खान पान मे भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विचार भी बहुत आवश्यक है। जिन पदार्थों से मनको ग्लानि तथा तन मे रोग उन्मादादि का अभ्युत्थान होवे वे अभक्ष्य पदार्थ है और शेष सब भक्ष्य हैं परन्तु हिंसाको वर्ज्जके। भोजन के समय चिंता शोक तथा क्रोध को मनमे न आने देवे। और भोजन के अनंतर हाथ, मुख, शुद्ध करके उच्छिष्ट पात्रो की शुद्धि भी नित्यमेव कर्त्तव्य है। फिर अपने आवश्यक कार्यों तथा आजीविका के साधन मे प्रवृत्त हो। राजा को प्रजा पालन और प्रजाको राजाज्ञा पालन आवश्यक है। दुष्टों को यथोचित दंड और श्रेष्ठों का सत्कार और विद्वानो का पालन और संग करना राजा का परम धर्म है। गृहस्थ को योग्य है कि संपूर्ण जीवो के साथ मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा को यथाधिकार वरतता रहे। पर-पदार्थों का लालच और छल, कपट, अहंकार, वैर, ईर्षादि पापोको कभी मनमे न आने देवे। राजा प्रजा से यथोचित कर और धनी लोग यथोचित व्याज लिया कर कि जिससे किसी को अत्यंत पीड़ा न हो। गुण का ग्रहण और ज्ञान की वृद्धि का उपाय तथा गुणीजनों का मान, पूजन यथा-शक्ति समस्त गृहस्थो को करना चाहिये। वस्त्रालंकार विभूषित होना गृहस्थ का भूषण है परन्तु वह संयम और संतोष पूर्वक हो और देशाचार और शिष्टाचार के विरुद्ध न हो। सत्पुरुषों के संग और सच्चिंतन के लिये भी कुछ अवकाश अवश्य निकाले। अभ्यागत अतिथि का अन्न, जल, वस्त्र, स्थान, मानादि से यथाशक्ति और यथाधिकार सत्कार अवश्य करे। चौर्य्य, व्यभिचार, परनिंदा, मिथ्यालाप, द्यूतादि लोक-विरुद्ध व्यहारो से सदा बचता रहे। वस्त्र, भूषण, धन, धान्य, स्थान, यान, यथोचित मान का संचय गृहस्थ को आवश्यक हैं परन्तु छल और कपट से तथा निंदित आचार व्यवहार से न करे। साधु को मिल के प्रणाम और गृहस्थ को मिल के 'जयति

हरि'* शब्द बोले। गृहस्थ के यहां जब गर्भाधान हो तो सदौषधियों के साथ स्त्री की रक्षा करे। प्रसूति के समय सदुपाय और श्रेष्ठ द्रव्यों तथा श्रेष्ठ वैद्यों की सहायता से स्त्री तथा जातक का संरक्षण करे। निर्दंत जातक की मृत्यु हो जाये तो पृथ्वी मे गाड़ना और तद्-नंतर अग्नि दाह करना उचित है। जहा लों हो सके मृत्यु के समय शोक में मूर्च्छित न हो परन्तु उस समय वैराग्य-जनक वार्त्तालाप का करना और सुनना बहुत श्रेष्ठ है। जातक का भरण पोषण तथा रक्षण गृहस्थ को अवश्य कर्त्तव्य है। बालक हो चाहे बालिका छै वर्ष के पीछे उसे विद्याध्ययन मे अवश्य प्रवृत्त करना चाहिये। कोई न कोई उपजीविका का साधन गुण विद्या उसे अवश्य सिखलानी चाहिये। बोलने बैठने तथा रहत की मर्य्यादा और वृद्धों और श्रेष्ठों के आदर और प्रणामादि व्यवहार की शिक्षा भी उसे अवश्य करनी चाहिये। पंद्रह वर्ष से नीचे कन्या बालक का संबन्ध करना उचित नहीं और विवाह के समय कन्या से वर अवश्य बड़ा होना चाहिये। माता पिता का धर्म है कि विवाह के समय यथाशक्ति कुछ धन, धान्य वस्त्रालंकार कन्या को अवश्य देवे। विवाह के समय श्रेष्ठ पुरुषों के समक्ष सत्य-प्रतिज्ञा के साथ वर को उचित है कि वधू का पाणिग्रहण करे। गृहस्थ को एक स्त्री के होते दूसरी के साथ विवाह करना सन्तान की कामना बिना कभी श्रेष्ठ नहीं। बिधवा स्त्री और बिधुर पुरुष को यदि उसका मन चाहे, दूसरा विवाह अवश्य करना चाहिये। और विवाह होना उन स्त्री-पुरुषों में श्रेष्ठ नहीं है कि जो पिता, पितामह तथा मातामह की सन्तान हों। अन्य स्थानो में सर्वथा योग्य है। यदि सन्तान न हो तो पर-पुत्र को पुत्र बना लेना भी उचित है। और दौहित्र भी पुत्र के तुल्य है। पुत्र को योग्य है कि माता-पिता के आदर सत्कार तथा सेवा को अत्यावश्यक समझे। और पिता—माता अपने पदार्थों

* हम इसके बदले 'जय सत्य' शब्द समीचीन समझते हैं। —सम्पादक

को उसका समझें। माता पिता तथा अन्य ज्येष्ठ सम्बन्धियों और साधुओं के शरीर मृत्यु के पीछे उत्सवपूर्वक दाह करने चाहियें। मृत माता-पिता के स्थानापन्न ज्येष्ठ पुत्र होना चाहिये और उसके धन पदार्थ के अधिकारी समस्त पुत्र हैं। सन्तान के अभाव मे दुहिता तथा दौहित्र भी अधिकारी है। जहां इनका भी अभाव हो वहां कोई स्वगोत्र तत्पश्चात् राजा उसका अधिकारी है।

गृहस्थ को दान तथा परोपकार और सद्गुरु का पूजन, सत्कार तन, मन, धन से कर्त्तव्य है। और कभी २ अपने सत्यधारी बन्धुओं का समुदाय और सत्सङ्ग करना भी उचित है। इसमे जो द्रव्य व्यय हो वह सफल है। गृहस्थ को चाहिये कि अपना तो उसीको समझे जिसके साथ अपना आशय और इष्ट मिले, परन्तु सम्पूर्ण प्राणी वर्ग को प्रसन्न रखना पुण्य समझे और दुःखी करना पाप समझे। पापी का नाम नीच और पुण्यात्मा का नाम ऊंच है। जाति से ऊंच-नीच कोई नहीं। गृहस्थों में से जो पुरुष विद्या और ज्ञान के बल से अन्य लोगों को सत्य धर्म का उपदेश करे उसका नाम आचार्य्य है। आचार्य्य का और सन्यासी का तन, मन, धन से पूजन और सत्कार करना गृहस्थ का परम धर्म है क्योंकि उनसे संसार का कल्याण और उपकार होता है।

सन्यासाश्रम

सन्यास शब्द का अर्थ त्याग है सो जिसमे वह त्याग हो उसको सन्यासी कहते हैं। जिसका मन गृहस्थ के सुखों की इच्छा न रखे और गृहस्थ के दुःखों को सहार न सके वह गृहस्थाश्रम का त्याग कर देवे और जहा चाहे विचरे, परन्तु चालीस वर्ष की अवस्था से पूर्व सन्यासी बनना श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि उस समय मन का भोगों से रुकना कठिन है और भोगों की प्रवृत्ति साधु को सुखी नहीं होने देती।

निर्वाह मात्र भिक्षा का उसको दोप नहीं परन्तु काया, मन, वाणी से लोकोपकार करता रहे। स्त्री सन्यासनी तीन से न्यून न बिचरे और पुरुष सन्यासी आवश्यक समुदाय के बिना पांच से अधिक न बिचरें। सन्यासी को उचित है कि उपद्रव-उत्पादक पदार्थों का संचय न करे। चार मास से अधिक एक नगर में न रहे। दश कोस से अधिक अपने पांव से यात्रा न करे। अपना यान, स्थान कभी न बनावे। मुंडन कराना उसको एक मास मे एक बार उचित है और वह स-श्मश्रु हो। श्रृंगार का करना तथा किसी खेल का खेलना उसको वर्जित है। स्त्री-अतीथ पुरुषों के और पुरुष-अतीथ स्त्रियो के निकट व्याख्यान और उपदेश के समय बिना तथा रोग शोक की दशा के बिना कभी न बैठें। बैर, विवाद, खेती, व्यापार, चाकरी तथा व्यभि-चार, सन्यासी को कलंक है। कमंडलु, भिक्षापात्र, पुस्तक, दंड, उपानत (जूता) के सिवाय अन्य परिग्रह उसको भार है। वैराग्य, विवेक, सत्य, शौच, दया, शांति, गांभीर्य, प्रेम, अदैन्य, अतृष्णादि उसके भूषण हैं। आचार्य्य की नाईं ज्ञानोपदेश करना उसका आचार है। दो कौपीन, एक कटिवस्त्र चादर, एक चोला, एक अंगोछा, एक शिरोवस्त्र, एक आसन, एक शीत-उष्ण निवारण इन सप्त वस्त्र से अधिक रखना उसको श्रेष्ठ नहीं, न्यून हो तो शोभा है। रोग मे औषध करना उचित है। मृत्यु के समय अतीथ, अतीथ को काष्ठ-पाषाणवत् त्याग देवे। गृहस्थ जन चाहे गाड़ें चाहे जलाये। साधु का नाम देव शब्द से प्रसिद्ध होना चाहिये। अतीथ को अपने हाथ से भोजन बनाना वर्जित है। भिक्षा का अन्न गुण-वृद्ध के आगे निवेदन करे वह यथाभाग बांट देवे। परस्पर मिलाप में प्रणाम शब्द का उच्चारण करना योग्य है। यह पूर्वोक्त पद्धति सावधान दशा में छूट जाये तो दुःखों और क्लेशों को उत्पन्न करती है किन्तु आपत्काल में इसके विरुद्ध चलने में कोई दोष नहीं।

प्रश्न—संसार में जो सन्यासी, विरागी, योगी, उदासी आदिक अनेक प्रकार के साधु देखे जाते हैं क्या वे श्रेष्ठ नहीं होते ?

उत्तर—श्रेष्ठ तो वही है कि जो गुण कर्म मे श्रेष्ठ हो, किसी वेष वा जातिमात्र से कोई श्रेष्ठ नहीं हो सकता। देखो, सन्यासी शब्द का अर्थ त्यागी है सो ये जो गिरि पुरी आदि नाम के सन्यासी है, त्यागी तो इनमें कोई पुरुष ही होगा। वहुधा मठ धारी, धनाढ्य तथा स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, आरामादि मे ग्रस्त और नित्य वादानुवाद के कारण राज-द्वारों और न्यायशालाओं में मारे २ फिरते है। यदि ठीक विचार के देखें तो इनमे कोई 'यथार्थ-पुरुष' भी नहीं निकलता परन्तु अपने को 'महा-पुरुष' कहलाने मे सब तत्पर है।

प्रश्न—क्या दंडी सन्यासी भी श्रेष्ठ नहीं होते ?

उत्तर—हम पीछे कह चुके कि किसी दंड कमण्डल आदिक बाह्य चिन्ह से कोई श्रेष्ठ नहीं होता श्रेष्ठ वही है जो अन्तर से श्रेष्ठ हो। दण्ड एक वास की लकड़ी का नाम है जो किसी को श्रेष्ठ नहीं वना सकती और न कापाय वस्त्र वा कमण्डलु मे यह शक्ति है कि किसी को पवित्र कर सके जैसा कि लिखा है—

"न लिंगं धर्म कारणम्"

अर्थ—कोई चिन्ह धर्म का कारण नहीं। हमें वड़ा शोक इन दण्डियों पर होता है कि जो पूरे तो दास भाव मे भी नहीं उतरते परन्तु अपने को सबके स्वामीजी प्रकट करते है।

विरागी भी किसी कंठी तिलक वा तप्त मुद्रादि चिह्न का नाम नहीं; किन्तु सर्व पदार्थों से जिसका राग दूर हो गया उसका नाम विरागी है। वड़े आश्चर्य की बात है कि देह गेह तथा मन्दिरों और पदार्थों और प्रतिष्ठा मे राग तो इनका गृहस्थों से भी अधिक परन्तु कहलाते

वे विरागी हैं। उनको पूछना चाहिये कि तीन प्रकार के वैराग्य में से आपको कौन-सा वैराग्य हुआ है?

वैराग्य तीन प्रकार का होता है। एक मंद-वैराग्य—अर्थात् किसी पुरुष को मेरा देखके क्षण मात्र मन में मृत्यु का भय उत्पन्न हो जाना और सांसारिक भोगों को झूठे जान के स्वर्गादि श्रुत पदार्थों में रुचि हो जानी। सो यह मंद वैराग्य तब लों रहता है कि जब लों किसी अन्य व्यवहार में मन प्रवृत्त नहीं होता। दूसरा कारण-वैराग्य—अर्थात् स्त्री, पुत्रादि पदार्थों के वियोग से अथवा किसी राजा वा शत्रु आदिक के संकट भय से कुछ काल सांसारिक भोगों से मन का उदास हो जाना। यह तब लों रहता है कि जब लो वैसे ही स्त्री पुत्रादि फिर प्राप्त नहीं होते। तीसरा तीव्र वैराग्य—अर्थात् ज्ञान-वृत्ति द्वारा सांसारिक समस्त भोगों को क्षणभंगुर और परिणामी तथा विक्षेप जनक जान के उनसे मन का उदास रहना। सो यह कभी दूर नहीं होता।

योगी शब्द का अर्थ योगवाला है। सो जिसका सत्य पदार्थ में योग हुआ उसका नाम योगी है। काषाय वस्त्र तथा नाद मुद्रादि चिन्हों का नाम योगी नहीं। बड़े आश्चार्य्य की बात है कि अन्तर से तो भैरव वा काली, कराली तथा बाला, सुन्दरी नामक किसी देवी, दुर्गा के उपासक है जो कभी देखी नहीं, और जगत में अपने को योगी कहके पुजवाते है। ये योगी मनसे तो भांग, गाजा तथा मद्य, मासादि के दास है और ऊपर से जगत के नाथ जी बने बैठे है। आश्चर्य्य है कि जिन का मारण, मोहनादि झूठे मंत्र, यंत्र, तंत्रों का व्यवहार हो लोग उनको योगी समझते हैं।

उदासीन शब्द का अर्थ भी सन्यासीके सदृश ही है अर्थात् जो सर्व संसार से उदास हो उसका नाम उदासीन है। परंतु बड़े आश्चर्य्य की बात है कि स्त्री, पुत्र, धन, धाम, क्षेत्र, आराम आदिक के झगड़ों

में और मंडली की वृद्धि में उलझे रहते हैं और नाम अपना उदासीन प्रकट करते हैं।

सत्य तो यह है कि जैसे गृहस्थ लोग अपने मानसिक रोग शोक में ग्रस्त रहते और आजीविका के हेतु नाना उद्यम और यत्न करते हुए कभी दुःखी कभी सुखी दिखाई देते हैं वैसे ही ये भेखी लोग हैं। जैसे अन्य जाति के लोग जगत में वसते हैं वैसे भेख भी एक जाति है। साधु वही है जो सीधा और श्रेष्ठ हो। श्रेष्ठ वह है जो न आप किसी से दुःखे और न किसी अन्य को दुःखावे। जैसा कि कृष्ण महाराज ने गीता अध्याय १२ श्लोक १५ मे कहा है :—

"यस्मान्नो द्विजते लोको लोकान्नोद्विजते चयः।
स सन्यासी च योगी च स शांति मधि गच्छति॥"

अर्थ—जिससे जगत दुःखी नहीं होता और जो जगत से आप दुःखी नहीं होता वही सन्यासी और वही योगी है और वही शांति को प्राप्त होता है।

प्रश्न—यद्यपि आप किसी को दुःखाते नहीं परन्तु आपके मत को देख के जगत के बहुत लोग दुःखी हैं अथवा आपका आचार व्यवहार जो लोगों से विरुद्ध है कई लोग इससे भी बहुत दुःखी हैं। फिर कृष्ण महाराज के वाक्यानुसार आपको भी शांति कभी नहीं होती होगी?

उत्तर—किसी से दुःखी होना वा दुःखी करना यह नहीं होता, जो तुमने कहा, किन्तु यह होता है कि किसी के साथ वैर, विरोध वा ईर्षा, छल, चोरी, व्यभिचार, विघात, विश्वासघातादि व्यवहारों का करना। सो ये व्यवहार हम किसी के साथ कभी नहीं करते और न ही कराना चाहते हैं। तथा आचार व्यवहार भी हम कोई ऐसा नहीं रखते कि जिससे किसी को कुछ हानि पहुंचे। फिर यदि अपने

अज्ञान से कोई वृथा ही हमारे मत वा आचार व्यवहार को देख के दुःखी होवे तो इसका हम क्या उपाय कर सकते हैं।

प्रश्न—सारा जगत ईश्वर, जीव और वेद को सत्य मानता और तप, जपादि को श्रेष्ठ कहता है, किन्तु आपका कथन जो इससे विरुद्ध है इससे लोग दुःखी होते हैं।

उत्तर—यदि सोते पुरुष को कोई जगाने लगे तो वह सुप्त पुरुष बहुत दुःखी होता है फिर क्या उस जगाने वाले का इसमें कुछ अपराध है? हम सच कहते है कि अज्ञान निद्रा में सुप्त पुरुषों को जो हम अपने उपदेश द्वारा स्वप्न के हाथी से छुड़ाते है वह अपराध नहीं, उन पर उपकार करते हैं। और तप जपादि वृथा आयासों से जो उनको बचाते है यह भी उपकार से बाहर नहीं। फिर जो लोग उपकार को भी अपने अज्ञान से अपकार समझें वहां उपकारी का क्या दोष है? बहुत बातें ऐसी है कि वे हैं तो झूठी, परन्तु लोगो ने उनको सत्य और श्रेष्ठ समझा हुआ हैं सो उपकारी को योग्य है कि परोपकार दृष्टि से उनके शोधन का उपाय अवश्य करता रहे चाहे उसमे उसकी अपनी कुछ हानि भी हो।

इति श्रीमत्पण्डित श्रद्धाराम विरचित सत्यामृत-
प्रवाहोत्तरभागे पराविद्यायामाचार निर्णयः
षष्ठस्तरङ्गः।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥